हिन्दी समिति ग्रन्थमाला – ६

भारतीय ज्योतिष

[स्वर्गीय श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित की
मराठी पुस्तक का अनुवाद]

●

अनुवादक
श्री शिवनाथ झारखण्डी

●

उत्तर प्रदेश शासन
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

प्रकाशक की ओर से

भारतीय विद्याविशारद अपने भूमण्डल की अपेक्षा बाहर के लोक-लोकान्तरों के चिन्तन-मनन में अधिक संलग्न रहे है। वे यह निर्णय कर चुके थे कि हमारी भौतिक गति-विधि, उत्पादन-क्रिया और जीवन-व्यापार कही अन्यत्र से नियमित होते है। उन्होने एक ऋतुचक्र के बीच द्वादश स्थितियो मे सूर्य को देखा, सत्ताईस नक्षत्ररूपी पत्नियो के समीप धावमान चन्द्रमा को निहारा और बृहस्पति के पाँच भचक्रो के भीतर साठ सवत्सर मानकर पचवर्षात्मक युग निर्धारित किया। उन्होने यह अनुभव देव की स्तुतियो में पिरो कर शिष्यो को सुना दिया और स्वय "वेदागज्योतिष" जैसे सूत्र-निबन्धो के अन्तर्गत काल-निर्धारण की सूक्ष्म व्याख्या करने लगे। यह सभ्यता के प्रथम युग का वृत्तान्त है। आगे चलकर पारस्परिक सम्पर्क से ज्ञान का व्यापक प्रसार हुआ और दजला-फरात की घाटी के निवासियो ने भी उक्त अनुभव को निरख-परखकर उपयोगी काल-विभाजन चलाया। स्पष्ट है, भारतीय चिन्तन इनका पूर्ववर्ती था।

कालान्तर मे इस देश के चिन्तक कुछ और ऊँचे अज्ञात तत्त्व के अन्वेषण मे लगे और इने-गिने विद्वान् ही ज्योतिषीय परम्परा के निर्वाहक रह गये। यही नही, क्रमश इधर आकर स्थिति यहाँ तक शोचनीय हो गयी कि वराहमिहिर भास्कराचार्य जैसे एक-दो नामो के सिवा विख्यात प्राचीन ज्योतिर्विदो के ग्रन्थो, सिद्धान्तो और ग्रह-गणितीय चमत्कारो से हम अनभिज्ञ रह गये। यह आक्षेप होने लगा कि भारतीय ज्योतिष मे मौलिकता नही है और वह यूनान का आभारी है।

ऐसी अनेक भ्रमात्मक धारणाओं का निराकरण करने के लिए ही स्वर्गीय श्री बालकृष्ण शकर दीक्षित ने मराठी भाषा मे **"भारतीय ज्योतिष शास्त्रा चा इतिहास आणि परिचय"** नामक विख्यात ग्रन्थ लिखा। जब यह ग्रन्थ पहले पहल मराठी मे प्रकाशित हुआ तो इसमे सगृहीत प्राचीन ज्योतिष की बहुमूल्य और प्रचुर सामग्री से विद्वान् आश्चर्यचकित रह गये। इसमे सकलित विविध ज्योतिष-ग्रथो की चर्चा और विवेचन ने एक नयी आधार-भूमि प्रस्तुत की।

उत्तर प्रदेश शासन की हिन्दी समिति ने मराठी के इस अप्रतिम ज्ञानवर्धक ज्योतिष-ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन का निश्चय किया और इसका पहला सस्करण १९५७ ई० मे प्रकाशित हुआ।

यह बडे ही सुख और सन्तोष का विषय है कि हिन्दी पाठको मे यह ग्रन्थ लोकप्रिय सिद्ध हुआ और तत्काल इसका द्वितीय सस्करण प्रकाशित करना पडा और अब पाठको की माग का समादर करते हुए तृतीय सस्करण भी हिन्दी जगत् को भेट किया जा रहा है। आशा है, पूर्व सस्करणो की भाँति इस तृतीय सस्करण का भी सम्मान होगा। यह कहने की आवश्यकता नही, यह ग्रन्थ न केवल ज्योतिष-शास्त्र मे अभिरुचि रखने वालो के लिए आवश्यक है, अपितु सभी हिन्दी प्रेमी पाठक इससे लाभान्वित हो सकते है।

काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर'
सचिव,
हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन

दीपावली, २०३२ वि०
नवम्बर, १९७५ ई०

प्रस्तावना

इस ग्रन्थ मे वर्णित विषय आरम्भ में ही उपोद्घात मे सक्षेपत: बतला दिये गये हैं। अनुक्रमणिका और विषयानुसार सूची द्वारा उनका विस्तृत ज्ञान होगा। इस ग्रन्थ की उपयोगिता सिद्ध करने की हमे विशेष आवश्यकता नही प्रतीत होती। ज्योतिष-शास्त्र मनुष्य की स्वाभाविक जिज्ञासा द्वारा उत्पन्न हुआ है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही मनुष्य का ध्यान इसकी ओर गया होगा। इतना ही नही, हम इसे मनुष्य विरचित शास्त्रो मे आद्यशास्त्र कह सकते है, अत यह जानना आवश्यक है कि हमारे देश में इसकी अभिवृद्धि क्रमश कैसे हुई। इस ग्रन्थ मे इन्ही सब विषयो का विवेचन किया गया है, अत इसकी उपयोगिता स्पष्ट है।

ऐसा ग्रन्थ सस्कृत मे नही है। कालपरम्परानुसार ग्रन्थों की उपयोगिता इत्यादि का विचार करने की ओर हम लोग ध्यान कम देते है, सौ दो सौ वर्ष पूर्व और हजार पाच सौ वर्ष पूर्व के ग्रन्थकार की योग्यता प्राय समान ही समझते हैं; किसी शास्त्र का इतिहास जानने की चेष्टा कम करते है। फिर हमारे यहाँ लौकिक पुरुषो का उत्कर्ष वर्णन करने का प्रचार भी बहुत कम है। मालूम होता है, इन्ही कारणो से आज तक ऐसा ग्रन्थ नही बना।

अब इस ग्रन्थ की रचना का इतिहास थोडे मे बतलाऊंगा। लगभग शक १८०२ से हमारा ध्यान सायन पचाग की ओर और उसके द्वारा ज्योतिष शास्त्र की ओर गया। प्राचीन ग्रन्थो को देखते देखते तारतम्य पूर्वक उनकी योग्यता, उनके समय का पौर्वापर्य और ज्योतिषशास्त्र की वृद्धि का क्रम जानने की प्रवृत्ति हुई और मन मे यह विचार आने लगा कि प्रस्तुत ग्रन्थ सरीखा यदि कोई ग्रन्थ बन जाता तो बडा अच्छा होता। शक १८०६ मे इस प्रान्त में पंचाग के विषय मे विशेष आन्दोलन हो रहा था। उस समय पूना की 'दक्षिणा प्राइज कमेटी' की ओर से सन् १८८४ के दिसम्बर में इस आशय की विज्ञप्ति निकली कि हमारे पंचागो की वर्तमान दुरवस्था का विचार हमारे ज्योतिषशास्त्र के इतिहास सहित किसी ग्रन्थ के रूप में होना चाहिए। अपनी रुचि का विषय सामने आने पर ग्रन्थ लिखने की और भी अधिक इच्छा हुई। ग्रन्थ के लिए पारितोषिक ४५० रुपया रखा था। लिखने की अवधि सन् १८८६ के अन्त तक थी परन्तु उस समय तक ग्रन्थ लिखने के साधन, मुख्यत. प्राचीन ज्योतिष

ग्रन्थ उतने नही मिले जितने कि आवश्यक थे, इसलिए उस समय ग्रन्थ नही लिखा जा सका। 'दक्षिणा प्राइज कमेटी' से मैंने समय बढाने का निवेदन किया। समय मिला भी परन्तु उसके बाद के पाच छ महीने आवश्यक जानकारी इकट्ठी करने मे ही बीत गये। अन्त मे १८८७ के नवम्बर मे ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया और १८८८ के शुरु मे ग्रन्थ का प्रथम भाग कमेटी के पास भेजा। ग्रन्थ लिखते समय भी अन्वेषण का काम जारी था और उसमे कुछ विघ्न भी आये। अन्त मे १८८८ के अक्टूबर पर्यन्त तीन सप्ताह मे सम्पूर्ण ग्रन्थ कमेटी के पास भेज दिया। उसमे इस ग्रन्थ के साचे के लगभग ४२५ पृष्ठ होते थे। कमेटी ने जिन विषयो का विवेचन करने को कहा था उनकी अपेक्षा बहुत अधिक विषयो का विस्तृत वर्णन उसमे था। कमेटी ने ग्रन्थ पसन्द किया और हमे १८९१ मे पूर्ण पारितोषिक मिला। उसे छपवाने की भी इच्छा हुई परन्तु वह अधिक व्यय का कार्य मुझसे निभने योग्य नही था। कुछ दिनो बाद आर्यभूषण प्रेस के मालिक ने उसे छापना स्वीकार किया। इसी बीच मे गायकवाड सरकार की ओर से पचाग विवेचन सम्बन्धी ग्रन्थ लिखने का एक विज्ञापन निकला। उसके लिए एक सहस्र रुपये का बाबाशाही पारितोषिक रखा था। तदनुसार मैने शक १८१५ के आरम्भ मे अर्थात् सन् १८९३ मे इस ग्रन्थ का आवश्यक भाग वहा भेजा। ग्रन्थ छपवाने की सूचना बहुत से लोग दे रहे थे पर मेरी दृष्टि से वह पूर्ण नही हुआ था। बाद मे ज्ञात हुए बहुत से नवीन विषय उसमे स्थान स्थान पर जोडने थे, बहुत सी बाते जाननी थी और गायकवाड सरकार के यहा भेजे हुए ग्रन्थ के सम्बन्ध मे वहा से निर्णय हो जाने पर छपवाने का विचार था।[1] सन् १८९४ की जुलाई मे हम पूना आये, उस समय लोगो ने छपवाने का विशेष आग्रह किया इसलिए १८९५ के मार्च मे आर्यभूषण प्रेस के मालिक ने ग्रन्थ छपवाना आरम्भ कर दिया। छपते समय भी पहिले न देखे हुए ग्रन्थो का वाचन तथा अन्वेषण का काम हो ही रहा था। बीच मे आये हुए कितने ही उल्लेखो द्वारा यह ज्ञात होगा।

दक्षिणा प्राइज कमेटी मे भेजे हुए ग्रन्थ के कुछ लेख प्रस्तुत ग्रन्थ मे सक्षिप्त कर दिये और कुछ निकाल दिये है। इससे ४२५ मे से लगभग ४० पृष्ठ कम हो गये, फिर भी इसके मुख्य भाग मे सूचीपत्र के अतिरिक्त लगभग १४० पृष्ठ (मूल मराठी ग्रन्थ मे) बढ गये हैं।

आज हम लोगो को इसकी कल्पना भी नही है कि हमारे देश मे ज्योतिषशास्त्र-

---

१ उसका फैसला शीघ्र ही हुआ। ग्रन्थ पसन्द आया और मुझे पारितोषिक मिला।

ज्ञान और ज्योतिषग्रन्थो की सम्पत्ति कितनी है। सामान्य लोग बहुत हुआ तो भास्कराचार्य प्रभृति दो एक ज्योतिषियो के तथा चार छ ग्रन्थो के नाम जानते है, परन्तु इस ग्रन्थ मे अनेको ज्योतिष ग्रन्थकारो और ग्रन्थो के वर्णन आये है और अनुक्रमणिका में केवल उनके नामो की दो सूचियॉ दी है। यह विलक्षण ज्ञान-सम्पत्ति देखकर पाठक आश्चर्य-चकित हुए बिना नही रहेंगे और इस ग्रन्थ मे वर्णित ज्योतिषशास्त्र की वृद्धि का सम्पूर्ण इतिहास पढने से अपने पूर्वजो के विलक्षण प्रयत्न, अन्वेषण जिज्ञासा और तदनुसार उनकी योग्यता का ज्ञान होने पर वे अतिशय आनन्द मे मग्न हो जायगे।

स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ शास्त्रीय होने के कारण उपन्यास की तरह सुबोध नही होगा पर सभी भाग दुर्बोध नही है। यदि इसमे आठ-आठ पृष्ठो के भाग किये जायें तो प्रत्येक मे कुछ ऐसी बाते मिलेगी जो कि सबके लिए सुबोध हो। अत पाठक को चाहिए कि गहन भाग आने पर वह निराश न हो बल्कि आगे पढता जाय। इसमे अनेको विषय है। जिसको जो मनोरजक प्रतीत हो अनुक्रमणिका और विषयानुसार सूची द्वारा उसे निकालकर देख सकता है। कही कही पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया गया है। उनका अर्थ समझ मे न आये तो विषय-सूची देखनी चाहिए। कुछ शब्दो के अर्थ मेरे ज्योतिर्विलास नामक ग्रन्थ मे मिलेगे।

कुछ लोग इस ग्रन्थ को बहुत बडा और कुछ बिलकुल सक्षिप्त बतलाते है। एक सभ्य पुरुष का कथन है कि इतने विषयो के लिए कम से कम एक सहस्र पृष्ठ चाहिए थे। दोनो कथन ठीक है और इसी लिए मैंने बीच का मार्ग ग्रहण किया है। विस्तार करना चाहे तो एक एक पृष्ठ के चार चार हो सकते है और इससे अधिक सक्षेप उसी स्थिति मे किया जा सकता है जब कि कुछ विषय निकाल दिये जायें। परन्तु ऐसा ग्रन्थ बनने का सुयोग बार बार नही आता इसलिए मुझे उपलब्ध विषयो मे से जितने इसमे रखने योग्य प्रतीत हुए सब रखे हैं।

यह ग्रन्थ पूर्ण नही कहा जा सकता। इसमे वाल्मीकि-रामायण और अठारह पुराणो मे से एक का भी ज्योतिष सम्बन्धी वर्णन नही है। इन सबका समावेश करने की सूचना भी बहुतो ने दी पर मै अकेला क्या क्या कर सकता था। ज्योतिष के ही अनेको ग्रन्थ मैने नही देखे है। केवल पूना के आनन्दाश्रम मे भिन्न भिन्न लगभग ५०० ज्योतिष-ग्रन्थ हैं। मैने वे सब देखे है परन्तु इस ग्रन्थ मे उनमे से बहुतो का वर्णन नही आया है। पृ० ३४० में उल्लिखित आफ्रेच्त सूची मे लगभग २००० ज्योतिष ग्रन्थ है। वे सब मिले कैसे और उन्हे देखा कब जाय! फिर भी ज्योतिष तथा अन्य ग्रन्थों की ज्योतिष सम्बन्धी महत्त्व-पूर्ण सभी बाते इसमे आ गयी है। हम लोगो के भाग्य से हमारे देश मे

मेरी अपेक्षा बहुत अधिक योग्य उनके विद्वान् विद्यमान है। अवशिष्ट कार्य उन्हें अपने हाथ मे लेना चाहिए। मेरे श्रम का वे कुछ उपयोग कर सकें तो अच्छा ही है।

इस ग्रन्थ मे परशुराम, राम इत्यादि अवतारी पुरुषो के समय का विवेचन करने का सुझाव कुछ लोगो ने दिया था, परन्तु ज्योतिष सम्बन्धी विश्वसनीय प्रमाण, जिनके द्वारा उनका समय निश्चित किया जा सके, मुझे आज तक नही मिले और न तो भविष्य में मिलने की आशा है, फिर भी काल निरवधि है और वसुन्धरा विपुला है, न जाने कब क्या होगा। इस विषय मे मेरा मत सम्पूर्ण ग्रन्थ देखने से ज्ञात होगा। ग्रन्थो के रचनाकाल का विवेचन प्रथम भाग के उपसहार मे किया है।

इस ग्रन्थ मे कौन कौन से विषय है अथवा होने चाहिए, इस विषय मे लोगो की भिन्न भिन्न धारणाएँ देखी गयी है। कुछ लोग तो यहाँ तक समझते है कि पचाग बनाने की सारणियाँ, प्रत्येक सिद्धान्तानुसार ग्रहगणित करने के प्रकार, उनकी उपपत्तिया, नाटिकल अल्मनाक द्वारा बनने वाले पचागो सरीखे सूक्ष्म पंचाग बनाने की पद्धति, जिनके द्वारा उत्तम जन्मपत्र बनाये जाते है वे उत्तम जातक ग्रन्थ, इतना ही नही ज्योतिष शास्त्र का सर्वस्व इसमे है। स्पष्ट है कि इसमे इतनी बातो का समावेश होना असम्भव है परन्तु इससे हमारे देश के लोगो की प्रबल जिज्ञासा व्यक्त होती है और यह देखकर बडा आनन्द होता है।

संस्कृत मे ऐसा ग्रन्थ नही है यह तो पहिले बता ही चुके है। अग्रेजी मे कुछ बाते भिन्न भिन्न स्थानो मे मिलती है पर वे सब मिलकर इस ग्रन्थ के चतुर्थांश के बराबर भी न होगी। उपसहार द्वारा ज्ञात होगा कि उत्तम विद्वानों ने अग्रेजी मे बहुत से लेख लिखे है पर आज तक किसी ने इतना व्यापक विचार नही किया है और जो कुछ किया है वह भी एतद्देशीय दृष्टि से नही हुआ है।

कुछ ग्रन्थ मुझे स्वत पढने को नही मिल सके अत कही कही उनकी बातें अन्य ग्रन्थ या ग्रन्थकार के आधार पर लिखनी पड़ी है। ऐसे स्थलो मे उस ग्रन्थ या ग्रन्थकार का नाम लिख दिया है। अन्य ग्रन्थो के तात्पर्यार्थ या उद्धरण स्वत: उन ग्रन्थो को पढकर लिखे है और उनके नाम सर्वत्र दे दिये है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ मे एक भी पक्ति दूसरे ग्रंथ के अनुवाद स्वरूप अथवा दूसरो के आधार पर नहीं लिखी है। महत्त्व के बहुत से ज्योतिष ग्रन्थों का मैने स्वत सग्रह किया है। जहाँ कहीं यह लिखा है कि अमुक बात गणित द्वारा सिद्ध होती है वहाँ स्वत ध्यानपूर्वक गणित किया है और मेरा विश्वास है कि वह ठीक है तथापि भ्रम मनुष्य का धर्म है इसलिए उसमे दृष्टिदोष हो सकता है।

दक्षिणा प्राइज कमेटी के सभासदो ने मूलग्रन्थ के सशोधन के सम्बन्ध में दो तीन

सुझाव दिये थे। उनमे से एक सक्षेप करने के सुझाव को छोड शेष सब इसमे स्वीकार कर लिये गये है। मूलग्रन्थ मे यूरोपियन विद्वानो की कही-कही कड़ी टीका की गयी थी। कमेटी ने उसका कडापन बिलकुल निकाल देने की सूचना दी थी, तदनुसार विषय ज्यो के त्यो रखते हुए कड़ाई बिलकुल निकाल दी गयी है। फिर भी एक बात कहे बिना नही रहा जाता कि हमारे देश के कुछ बड़े बडे विद्वान् भी यूरोपियनो की बाते चाहे जैसी हो उन्हे वेद-वाक्य समझते है। इससे यह विदित होता है कि उन्हे अपनी योग्यता का भरोसा नही है।

रायबहादुर म० गो० रानाडे का कथन था कि यूरोपियन विद्वानो के मत और उनकी टीका इत्यादि विवादास्पद विषय इस ग्रन्थ मे न रखकर इनका विचार किसी अग्रेजी मासिक द्वारा होना चाहिए। ऐसा करने से ग्रन्थ बहुत बडा नही होगा। तदनुसार कुछ बातो की चर्चा मैने अग्रेजी पुस्तको द्वारा की है। यह सब होते हुए भी मुझे यह भाग इस ग्रन्थ से निकाल देना उचित नही प्रतीत हुआ। सब वाचको को नही तो कुछ को तो यह अवश्य उपयोगी जान पड़ेगा। यदि इसका इगलिश मे अनुवाद होने का सुअवसर आया तो मेरा विस्तृत कथन यूरोपियन विद्वानो के सामने जायगा और उसका योग्य विचार होगा। एक यूरोपियन विद्वान् ने मुझसे कहा भी है कि यदि इस ग्रन्थ का अग्रेजी मे शीघ्र अनुवाद नही हुआ तो इसके कुछ भागो का अनुवाद तो करवाना ही पडेगा।

वाचको से मेरी प्राचीन ग्रन्थो के अन्वेषण की ओर ध्यान देने की आग्रहपूर्वक प्रार्थना है। मेरा न देखा हुआ कोई ग्रन्थ यदि किसी महाशय को मिले तो कृपया मुझे उसकी सूचना दे। ऐसा करने से मुझ पर और देश पर उनके बडे उपकार होगे। तैलग, द्रविड और बगाल प्रान्त के ग्रन्थो का वर्णन इस ग्रन्थ मे विशेषत नही है। वहाँ के विशिष्ट ग्रन्थो की और पृ० ६३६ मे लिखे हुए नाडीग्रन्थ सरीखे ग्रन्थो की जनता को जितनी अधिक जानकारी होगी उतना ही अच्छा होगा। मैने जिन ग्रन्थकारो का वर्णन किया है उनमे से बहुतो के वशज विद्यमान होगे। यदि वे उनके विषय मे कुछ विशेष बतलायेगे तो अच्छा होगा।

ग्रन्थप्रचार के विषय मे देखा गया कि तैलग और द्रविड प्रान्त के ग्रन्थो की अन्य प्रान्तो में विशेष प्रसिद्धि नही है। लिपिभेद के कारण ऐसा हुआ होगा। बगाल के ग्रन्थ भी इधर विशेष प्रचलित नही है तथापि प्राचीन काल की यात्रा इत्यादि अडचनो का विचार करते हैं तो यह देखकर बडा आश्चर्य होता है कि बडे बडे ग्रन्थो का प्रचार भारत के कोने कोने तक है, ग्रहलाघव इत्यादि ग्रन्थ शीघ्र ही चारों ओर प्रचलित हो गये और मध्यम ग्रन्थ भी प्रचलित है। ज्योतिष के विद्वानों को इस देश के राजाओ

का आश्रय तो था ही पर मुसलमान बादशाहो का आश्रय भी पहिले ही से था। इसके अतिरिक्त काशी के विद्याक्षेत्र मे भी बहुतो की उपस्थिति होती थी। इन्ही कारणो से सर्वत्र ग्रन्थो का प्रचार हुआ होगा।

ज्योतिष ग्रन्थो की सख्या बहुत अधिक है। इसका कारण यह है कि इस देश के बहुत बडे होने के कारण सदा उपयोग मे आने वाले एक ही विषय के भिन्न भिन्न प्रान्तो मे भिन्न भिन्न ग्रन्थ बने। कुछ ग्रन्थ, विशेषत करणग्रन्थ, प्राचीन होने पर निरुपयोगी हो जाया करते है इसलिए कालक्रमानुसार नये नये ग्रन्थ बनते गये, क्योकि एक ही विषय ग्रन्थकार के चातुर्यानुसार न्यूनाधिक सुबोध हो जाता है इसलिए अनेक आचार्यो ने अनेक ग्रन्थ बनाये।

इस ग्रन्थ मे जितने वेदमन्त्र और सस्कृत श्लोक आये है उन सबो का अर्थ लिखने से ग्रन्थ बहुत बडा हो जाता इसलिए अत्यन्त आवश्यक स्थलो मे ही अर्थ लिखा गया है। कही कही केवल भावार्थ लिखा है और जहाँ पूर्वापर सन्दर्भ द्वारा कुछ समझ मे आने योग्य है वहाँ भावार्थ भी नही लिखा है।

वेदमन्त्रो का अर्थ सर्वत्र मूल का अनुसरण करते हुए लिखा है। अन्वय के लिए जो शब्द ऊपर से लेने आवश्यक थे वे [ ] इस कोष्ठ मे और पर्याय शब्द या वाक्याशो के अर्थ ( ) इस कोष्ठ मे लिखे है। जो बात मूल मे नही है वह उपर से बिलकुल नही ली गयी है। वेदमन्त्र और सस्कृत श्लोक छापने मे प्राय अशुद्धि नही हुई है। छापने के लिए भेजी हुई सम्पूर्ण प्रति स्वय लिखना अशक्य था अत सम्भव है उसकी कुछ अशुद्धिया प्रूफ सशोधन के समय भी ध्यान मे न आकर ज्यो की त्यो रह गयी हो पर इसे दूर करने का कोई उपाय नही है।

मध्यमाधिकार मे जिन ज्योतिषियों के जीवनचरित्र लिखे है वे विशेषत. ज्योतिष-गणित ग्रन्थकार है। उनमे से यदि किसी ने सहिता या जातक ग्रन्थ बनाया है तो उसका भी विवरण वहाँ लिखा है। जिन्होने केवल सहिता या जातकग्रन्थ बनाये है अर्थात् गणितग्रन्थ एक भी नही बनाया है उनका जीवनचरित्र तत्तत् स्कन्धो मे लिखा है।

ज्योतिषियो के जीवनचरित्र मे प्राय. उनके समय स्थान, ग्रन्थ, उनकी टीकाओ और ग्रन्थकार की योग्यता का वर्णन है। उनके वश मे उनके पूर्व या पश्चात् यदि कोई ग्रन्थकार हुआ है तो उसका भी वर्णन किया है। किसी के जीवनचरित्र मे यदि कोई विशेष बात है तो वह विषयसूची में लिखी है। विषयसूची में ग्रन्थकारो के नाम के आगे लिखा हुआ शक, यदि स्पष्ट न किया गया हो तो, उनका जन्मशक नही बल्कि ग्रन्थरचनाकाल है।

मेरे मतानुसार प्राचीन ग्रन्थकारो का नाम लिखते समय आदरार्थ बहुवचन का प्रयोग नही करना चाहिए और मैंने प्रायः सर्वत्र ऐसा ही किया भी है। भास्कराचार्य

मे अधिक पूज्यबुद्धि व्यक्त करने के लिए 'भास्कराचार्य कहते है' लिखने की कोई आवश्यकता नही है जब कि हम ईश्वर के नाम का उल्लेख भी एकवचन मे ही करते है। सस्कृत और इगलिश मे भी आदरप्रदर्शन के लिए बहुवचन का प्रयोग नहीं किया जाता, ऐसा कह सकते है। कुछ आधुनिक और विद्यमान विद्वानो के विषय मे बोलचाल मे सर्वदा बहुवचन का प्रयोग किया जाता है। उसे निकाल देने से भाषा शायद कर्ण-कटु हो जायगी इसलिए उनके लिए मैने बहुवचन का ही प्रयोग किया है।

आज हम लोग शक की अपेक्षा ईसवी सन् से अधिक परिचित है इसलिए शक द्वारा किसी बात का काल सम्बन्धी विचार करने की अपेक्षा ईसवी द्वारा करने मे सुविधा मालूम होती है परन्तु हमारे ज्योतिषगणितग्रन्थकारो ने सर्वत्र शक का ही उपयोग किया है। भारत के किसी भी प्रान्त का ग्रन्थ लीजिए, वहा व्यवहार मे शक का प्रचार न रहते हुए भी ग्रन्थ मे शक ही मिलेगा, इसलिए मैने भी उसी का उपयोग किया है परन्तु 'शककालपूर्व' के स्थान मे 'ईसवी सन् पूर्व' कह सकते है। इतने प्राचीन काल के सम्बन्ध मे शक और ईसवी सनो के अन्तर स्वरूप ७८ वर्षो की उपेक्षा की जा सकती है। इस ग्रन्थ मे जहाँ शकवर्ष को जानबूझकर वर्तमान न कहा हो वहाँ उसे गतवर्ष समझना चाहिए (पृ० ४८९ देखिए)। ग्रहस्थिति इत्यादिको के लिए जहाँ जानबूझ कर सायन विशेषण न लगाया हो वहा उन्हे निरयन अथवा ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्गानुसार समझना चाहिए। जहा केवल सूर्यसिद्धान्त, आर्यसिद्धान्त और ब्रह्मसिद्धान्त लिखा हो वहा क्रमश वर्तमान सूर्यसिद्धान्त, प्रथम आर्यसिद्धान्त और ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त समझना चाहिए।

यह तो स्पष्ट है कि अनुक्रमणिका से ग्रन्थ देखने मे बडी सुविधा होती है पर उसे बनाना कितना कठिन है, इसका ज्ञान अनुभव द्वारा ही होगा। एक मनुष्य को उसे बनाने मे बहुत अधिक समय लगेगा। विषयानुसार सूची मैने स्वय बनायी है। शेष सूचियाँ बनाने मे पूना ट्रेनिग कालेज के वर्तमान विद्यार्थियो ने बडी सहायता की है। यह कार्य अनेक मनुष्यो द्वारा हुआ है और सूचीपत्र छपने पर्यन्त उसकी पाच प्रतिया बनी है इसलिए कही कही अशुद्धिया रह गयी होगी और कुछ नाम बिलकुल छट गये होगे पर इसमे कोई वश नही है। हमारे ग्रन्थकार अकगणित, बीजगणित इत्यादि गणित ग्रन्थो का भी समावेश ज्योतिष ग्रन्थो मे ही करते है, तदनुसार सूचीपत्र मे मैने भी ऐसा ही किया है। पञ्चाङ्ग और सस्कृत-मराठी ग्रन्थ तथा उनके कर्ताओ के नाम भी सस्कृत ग्रन्थ और ग्रन्थकारो मे ही लिखे है। सूचीपत्र मे पृष्ठाको के सामने 'टि' (टिप्पणी) लिखना कही कही भूल से रह गया है।

यह ग्रन्थ लिखते समय ज्योतिष के प्राचीन ग्रन्थो का सग्रह करने मे कितना परिश्रम हुआ, लोगो की कितनी प्रार्थनाएँ करनी पडी, ग्रन्थो के वाचन का कार्य कितनी शीघ्र-

तापूर्वक करना पडा, ग्रन्थ लिखने और छपने के समय कितना शारीरिक और मानसिक श्रम करना पडा, पाठक इसकी कल्पना नही कर सकेगे। इस व्यासग द्वारा होने वाला आनन्द ही इस कार्य का एक मात्र सच्चा पुरस्कार हो सकता है।

इसे छापने का कार्य मुझसे होने योग्य नही था क्योकि इसमे व्यय अधिक था और शास्त्रीय ग्रन्थ होने के कारण इसकी बिक्री कम होना भी निश्चित था। आर्यभूषण प्रेस के मालिक मेरे ग्रामस्थ तथा बालमित्र रा० रा० हरिनारायण गोखले ने इसे छपवा कर मेरा ही नही सम्पूर्ण महाराष्ट्र का बडा उपकार किया है। पुस्तक छपाने और छपना आरम्भ होने के बाद उसे पूर्ण करने का उन्होने यदि बार बार आग्रह न किया होता तो यह ग्रन्थ कभी भी प्रकाशित न हो पाता क्योकि मेरी दृष्टि से कदाचित् यह मेरे जीवन भर मे पूर्ण न होता। मै समझता हूँ ऐसे ग्रन्थो के पूर्ण होने का कार्य भविष्य पर ही छोड़ देना चाहिए, फिर भी अब तक जितने कार्य हाथ मे लिये है यथाशक्ति उन्हें पूर्ण किया है। यदि किन्ही महाशय को इसमे कोई दोष दिखाई दे अथवा इसके विषय मे कुछ वक्तव्य हो तो वे मुझे उसकी सूचना दे। मेरे उपर उनके बडे उपकार होगे।

यह ग्रन्थ लिखने मे आरम्भ से अब तक मुझे अनेक मनुष्यो की सहायता मिली है। ग्रन्थ-विस्तार होने के भय से सब सहायको के नाम तथा सहायता के प्रकार नही लिखता पर अन्त.करण पूर्वक सबको धन्यवाद देता हूँ।

अपना थोडा बहुत जीवनचरित्र लिखने की हमारे ज्योतिषग्रन्थकारो की पद्धति है। यह पद्धति न होती तो इस ग्रन्थ का बहुत सा भाग मै न लिख पाता। उसी का अनुसरण करते हुए अपना थोडा सा वृत्तान्त लिखकर प्रस्तावना समाप्त करता हूँ। रत्नागिरि जिले में दापोली तालुके के मुरुड़ नामक गॉव मे शक १७७५ मे ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्गनुसार आषाढ शुक्ल १४ युक्त १५ मगलवार (तदनुसार २०।२१ जुलाई सन् १८५३) को मिथुन लग्न मे मेरा जन्म हुआ। मेरे पिता इत्यादि के नाम क्रमश बालकृष्ण, रामचन्द्र, बल्लाल और शकर तथा माता का नाम दुर्गा था। मै नित्युन्दनगोत्रीय हिरण्यकेशी शाखाध्यायी चितपावन ब्राह्मण हूँ। मेरे कुल का मूल उपनाम वैशम्पायन है। वैशम्पायन घराना मुरुड़ गॉव का पुरोहित और धर्माधिकारी है। कुछ शताब्दी पूर्व एक सिद्ध पुरुष ने मुरुड गाँव बसाया। हमारा मूलपुरुष उनका शिष्य था। उसी सिद्ध द्वारा मेरे मूल पुरुष को उपर्युक्त वृत्ति मिली। लडकपन मे मेरा अध्ययन लगभग दो वर्ष मुरुड की ग्रामीण पाठशाला मे और उसके बाद सन् १८६२ के अप्रैल से १८६८ के अक्टूबर तक वही सरकारी स्कूल मे हुआ। उसी समय थोड़ा सा संस्कृत और वेद का भी अभ्यास किया। उसके बाद के दो वर्षों में से कुछ समय दापोली कोर्ट मे उम्मेदवारी करने में और कुछ अंग्रेजी पढ़ने मे बीता। १८७०

के नवम्बर से आरम्भ कर तीन वर्ष तक मै पूना ट्रेनिग कालेज रहा। अन्तिम परीक्षा मे उस कालेज के तृतीय वर्ष का प्रथम श्रेणी का सर्टिफिकेट मिला। वहा पढते समय लगभग दो वर्ष तक सबेरे एक घूटा अग्रेजी स्कूल मे जाया करता था। सन् १८७४ मे मैट्रिकुलेशन परीक्षा पास की। उसके बाद अनेक अडचनो के कारण कालेज मे न जा सका। सन् १८७४ की फरवरी से १८८० की फरवरी तक रेवदण्डा के मराठी स्कूल मे और उसके बाद १८८२ के अगस्त तक थाना के नम्बर एक के मराठीस्कूल मे हेडमास्टर था। उसके बाद १८८९ के अक्टूबर तक बार्शी के अग्रेजी स्कूल मे असिस्टेट मास्टर था। उसके बाद १८९४ के जून तक धुलिया के ट्रेनिग स्कूल मे असिस्टेट था। इस समय पूना के ट्रेनिग कालेज मे असिस्टेट मास्टर हूँ। मैने विद्यार्थी बुद्धिवर्धिनी, सृष्टिचमत्कार, ज्योतिर्विलास और धर्ममीमासा नामक मराठी पुस्तके क्रमश १८७६, १८८२, १८९२ और १८९५ ईसवी मे लिखी है और ये छप चुकी है। मैने और मि० सेवेल ने मिलकर Indian Calendar नामक ग्रन्थ अग्रेजी मे लिखा है। वह हाल ही मे छपा है। मेरा भारतीय '**प्राचीन भूवर्णन**' नामक ग्रन्थ अपूर्ण होने के कारण अभी नही छपा है। ज्योतिष मेरा वश-परम्परागत विषय नही है। सर्वदा विद्याव्यासग मे रहने का स्वभाव और समाचारपत्र पढने का व्यसन होने के कारण मेरा ध्यान सायनवाद की ओर और उसके द्वारा ज्योतिषशास्त्र मे लगा। इस विषय का मुझे थोडा बहुत जो कुछ ज्ञान है सब स्वसम्पादित है। कुछ लोग समझते है कि मुझे ज्योतिष का कुछ ऐसा ज्ञान है जो कि औरो के लिए दुष्प्राप्य है परन्तु साधारण मराठी सस्कृत और इग्लिश जाननेवाला बुद्धिमान् गणितज्ञ और जिज्ञासु मनुष्य मेरे जितना ज्योतिष-ज्ञान पाच छ महीनो मे सहज सम्पादित कर सकता है। आज तक ज्योतिष सीखने की इच्छा से मेरे पास बहुत से लोग आये परन्तु उनमे से अन्त तक कोई भी नही टिका, यह दूसरी बात है। ससार का वर्तमान ज्योतिषज्ञानभण्डार बहुत बडा है। मेरा ज्ञानसंग्रह उसके सामने कुछ भी नही है और मेरी ज्ञानसग्राहक शक्ति के लिए वह अनेक कारणो से अगम्य है। बुद्धि के स्वयभू प्रेरक उस सविता से प्रार्थना है कि वह सबको ज्ञानार्जन के लिए प्रेरित करे।

पूना, **शंकर बालकृष्ण दीक्षित**

३१ अक्टूबर सन् १८९६ ई०

सायन अमान्त कार्तिक कृष्ण १०

शनौ शक १८१८।

विषय-सूची

प्रथम भाग

वैदिक काल तथा वेदाङ्ग काल में ज्योतिष का विकास

प्रथम विभाग—वैदिक काल

द्वितीय विभाग—वेदाङ्ग काल

प्रथम भाग का उपसंहार

द्वितीय भाग

ज्योतिष सिद्धान्तकालीन ज्योतिषशास्त्र का इतिहास

(१) गणितस्कन्ध

(२) संहितास्कन्ध

(३) जातकस्कन्ध

उपसहार

परिशिष्ट

भारतीय ज्योतिष शास्त्र का इतिहास
प्रथमभाग
(सिद्धान्तप्राक्काल)
द्वितीयभाग
(सिद्धान्तकाल)
प्रथमविभाग
(वैदिककाल)
द्वितीयविभाग
(वेदाङ्गकाल)
गणितस्कन्ध
सहितास्कन्ध
जातकस्कन्ध
मध्यमाधिकार
स्पष्टाधिकार
त्रिप्रश्नाधिकारादि
१ प्रकरण
२ प्रकरण (भुवनसंस्था)
३ प्रकरण (अयनचलन)
४ प्रकरण (वेध)
ज्योतिष गणित ग्रन्थो और ग्रन्थकारों का इतिहास तथा मध्यम गति और स्थिति
१ प्रकरण
ग्रहो की स्पष्ट गति-स्थिति
२ प्रकरण
पञ्चाङ्ग

भारतीय ज्योतिष

उपोद्घात

शरद् या हेमन्त ऋतु मे रात को घर से बाहर किसी खुली जगह मे बैठने पर स्वभावत. आकाश की ओर ध्यान जाता है और चारो ओर सहस्रो तारे चमकते हुए दिखाई देते हैं। उनमे कुछ बहुत छोटे होते है और कुछ बडे। थोडा ध्यानपूर्वक देखने से मालूम होने लगता है कि वे स्थिर नही है। कुछ एक ओर नीचे से ऊपर जाते रहते है और कुछ दूसरी ओर ऊपर से नीचे आते हुए दिखाई देते हैं। देखते-देखते थोडी देर मे कोई बडे आकार का और विशेष प्रकाश वाला तारा उग आता है। हम उसकी ओर आश्चर्य-पूर्वक देख रहे हैं, इसी बीच मे एक ओर पृथ्वी से लगे हुए आकाशभाग मे जगमगाता हुआ प्रकाश दिखाई देने लगता है और हमारा चित्त उधर आकृष्ट हो जाता है। वह प्रकाश भी उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। क्रमश उस ओर से तारो का प्रकाश कम होने लगता है और थोडी देर मे चारो ओर से किञ्चित लाल चन्द्रबिम्ब दिखाई देने लगता है। उसे देखकर हमे बडा आनन्द होता है। वह ज्यो-ज्यो ऊपर आता है बहुत से तारो को छिपाते हुए अपना आनन्द-दायक प्रकाश पृथ्वी पर फैलाता जाता है। इस प्रकार जब कि हम आनन्द मे मग्न रहते है अकस्मात् एक चमक होने के बाद कोई तारा आकाश से टूटता हुआ-सा मालूम होता है। कभी-कभी थोडे ही समय मे ऐसे छोटे बडे दस-पाच तारे टूटते-से दिखाई देते है। यह दृश्य देखकर हम चौक पडते हे।

इस प्रकार के स्वाभाविक चमत्कारो की ओर मनुष्य का ध्यान अपने आप जाता है। उसमें भी पृथ्वी के चमत्कारो की अपेक्षा आकाश के चमत्कार स्वभावत· ही भव्य और चित्ताकर्षक होते है, इसलिए उनकी ओर ध्यान अधिक जाता है। जिन मनुष्यो का लक्ष्य किसी विशेष कारण से अनेक प्रापञ्चिक व्यवहारो की ओर कम है उनका ध्यान आकाश की ओर लगने की अधिक सम्भावना है। जान-बूझकर सदा इसकी ओर ध्यान देनेवालो को छोड दीजिए पर यदि सामान्यत· शेष जन-समूह को देखा जाय तो रात को भेड़ बकरियो के साथ जंगल या किसी खुली जगह में रहने वाले गडरिये इत्यादिको को या सबेरे जल्दी उठकर खेती का काम करने वाले किसानो को तथा साधारणत: नक्षत्र-चिह्नों से ही दिशा पहचानकर रात को समुद्र मे नावें चलानेवाले मल्लाहो को अन्य लोगो की अपेक्षा नक्षत्रों का ज्ञान बहुत अधिक होता है। और लोग भी थोडा बहुत

जानते ही है। ऐसे मनुष्य हमारे देश मे कम मिलेगे जिन्हे आकाश का ज्ञान कुछ भी न हो।

सूर्य और चन्द्रमा प्रति दिन नियम पूर्वक उगते और अस्त होते है तथा ग्रीष्म, वर्षा इत्यादि ऋतुए क्रमश आती है। इन बातो का अत्यन्त परिचय हो जाने के कारण इस समय हमे इनके विषय मे विशेष चमत्कार नही मालूम हो रहा है, पर जगत् के आरम्भ मे इन्होने मनुष्य को चकित कर दिया होगा और आकाश के तेजो के विचार की ओर अर्थात् ज्योतिषशास्त्र की ओर मनुष्य का ध्यान उसके उत्पत्ति-काल से ही लगा होगा। सूर्य सवेरे उगता है, धीरे-धीरे ऊपर आता है, उसकी किरणे क्रमश प्रखर होती जाती है। कुछ समय मे वह आकाश के उच्चतम भाग मे आ जाता है और फिर धीरे-धीरे नीचे जाने लगता है। उसका तेज कम होने लगता है। अन्त मे वह अदृश्य हो जाता है। उसके अदृश्य होने के बाद बहुत देर तक अँधेरा रहता है। दूसरे दिन वह फिर प्राय पहले ही स्थान मे उगता है, किसी अप्रस्तुत अत्यन्त भिन्न स्थान मे नही उगता। यह जो सूर्य उगता है वह पिछले दिन वाला ही प्रति दिन रहता है या नया आता है, यदि वही है तो रात को कहा रहता है, वह आकाश मे किसी अकल्पित ऊटपटाग स्थान मे क्यो नही उगता, उसकी किरणे न्यूनाधिक प्रखर क्यो होती है, वह जहा उगता है और अस्त होता है वहा आकाश तो पृथ्वी से लगा हुआ दिखाई देता है फिर सूर्य उसी मे से ऊपर कैसे आता है। पूर्व-पश्चिम भागो मे यदि समुद्र हो तो वह समुद्र मे से आता है और समुद्र ही मे डूबता हुआ दिखाई देता है तो क्या सचमुच वह समुद्र मे डूबता है? इत्यादि बातो मे हमे आज कोई महत्व नही मालूम होता, परन्तु सृष्टि के आरम्भ मे इन्होने मनुष्य को बडी उलझन मे डाल दिया होगा और किसी बात का ठीक निश्चय होने मे बडा समय लगा होगा। पीछे का अनुभव भविष्य मे उपयोगी सिद्ध होता है और इस प्रकार परम्परया मनुष्य का ज्ञान बढता रहता है। जो बाते भविष्य मे बिल्कुल सामान्य-सी समझी जाने लगती है उनका भी अन्वेषण करके उन्हे सिद्धान्त रूप मे रखने मे अनेको वर्ष लग जाते है, तो फिर सृष्टि के आरम्भ मे सामान्य विषयो के भी सच्चे तत्वो को जानने मे बहुत समय लगा होगा इसे कहना ही क्या है।

ऊपर सूर्य के विषय मे जो बाते बतलायी गयी वे कपोल-कल्पित नही है। जैनों ने दो सूर्य माने थे। ग्रन्थो मे इसके प्रमाण मिलते है। पुराणादिको मे भी बारह मासो के बारह भिन्न-भिन्न सूर्य माने गये है। वेदो मे तो द्वादश आदित्य प्रसिद्ध ही है। ये बाते यद्यपि इस समय कल्पित जान पडती है परन्तु कभी न कभी मनुष्य उन्हे बिल्कुल सत्य समझते रहे होगे। 'सूर्य उगने के पहले समुद्र मे डूबा रहता है, इस विषय मे ऋग्वेद की निम्नलिखित ऋचा देखिये—

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।
अत्रा समुद्र आगूल्हमासूर्यमजभर्तन ।।

ऋ० स० १०।७२।७

हे देवताओ! आप लोगो ने ....समुद्र मे डूबे हुए सूर्य को [प्रात काल उदित होने के लिए] ऊपर निकाला।

इसी प्रकार तैत्तिरीय वेद मे कहा है—

य उदगान्महतोर्णवाद्विभ्राजमान सलिलस्य मध्यात्।
स मा वृषभो रोहिताक्ष सूर्यो विपश्चिन्मनसा पुनातु।।

महान् समुद्र मे से जल के मध्य से जो देदीप्यमान सूर्य ऊपर आया वह हमे पवित्र करे।

सूर्य प्रात काल उगता है। मध्याह्न मे अत्यन्त उच्च स्थान मे आता है और साय-काल मे अस्त हो जाता है। मानो वह तीन पगो मे सम्पूर्ण आकाश पार कर जाता है। इस चमत्कार का वर्णन ऋग्वेदादिको मे बहुत-से-स्थानो मे है। ऐसे वर्णन भी कि रात को सूर्य अपना तेज अग्नि में स्थापित करता है बहुत है।

अग्नि वावादित्य साय प्रविशति। तस्मादग्निर्दूरान्नक्त ददृशे।।

तैत्ति० ब्राह्मण २।१।२।८

इस मन्त्र मे कहा है कि सूर्य रात को अग्नि मे प्रवेश करता है। चन्द्रमा की ओर मनुष्य का ध्यान सूर्य की अपेक्षा कुछ अधिक ही लगा होगा। चन्द्रमा का उदय रात्रि मे सूर्य की भाति नियमित रूप से नही होता। कभी-कभी वह सूर्यास्त के समय उगता है और उस समय पूर्ण दिखाई देता है। इसके बाद क्रमश. देर से उगने लगता है और छोटा दिखाई देने लगता है। तारो मे उसका स्थान बहुत शीघ्र परिवर्तित होता रहता है। वह सूर्य के पास आने लगता है और एक दिन बिलकुल अदृश्य हो जाता है। उसके बाद दूसरे, तीसरे दिन सूर्यास्त के बाद तुरन्त ही पश्चिम मे दिखाई देने लगता है, परन्तु उस समय उसकी छोटी-सी कोर मात्र दिखाई देती है और ऐसा मालूम पडता है मानो वह नवीन ही उत्पन्न हुआ है। आज भी उस दिन प्राय चारो वेदो मे उपलब्ध

नवो नवो भवति जायमानोह्ना केतुरुषसामेत्यग्रम्।
भाग देवेभ्यो विदधात्यायन्प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायु ।।

ऋ० स० १०।८५।१९

यह मन्त्र पढकर उसका दर्शन कर वन्दना करते हुए उसे वस्त्र का सूत्र अर्पण करते हैं और उससे प्रार्थना करते हैं कि हमें नवीन वस्त्र और दीर्घायु दे। इसके बाद बढते-बढते वह एक दिन पहले की भांति पूर्ण हो जाता है। उसके इस न्यूनाधिक्य का अर्थात् उसकी कलाओं की क्षय-वृद्धि का हमारे प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों में पर्याप्त वर्णन है। किं-बहुना, चन्द्रमा की कलाएँ, उसका काला धब्बा, सौम्य दर्शन और आह्लादकारक चन्द्रिका इत्यादि बातें सभी देशों में सर्वदा कवि-कल्पना-सृष्टि का एक प्रधान विषय रही हैं।

चन्द्रमा एक बार पूर्ण होने के लगभग २९½ दिनों बाद फिर पूर्ण होता है और आगे भी पुनः-पुनः इतने ही दिनों में पूर्ण हुआ करता है। अतः पहले मनुष्य के ध्यान में यह बात आयी होगी कि एक बार सूर्य का उदय होने के बाद पुनः द्वितीय उदय होने तक प्रायः सर्वदा समान काल लगता है। तत्पश्चात् वही काल अर्थात् एक अहोरात्र मनुष्य की काल-गणना का स्वाभाविक परिमाण हुआ होगा। इसी प्रकार चन्द्रमा के विषय में भी उपर्युक्त नियम दिखलाई पडने पर, उसके एक बार पूर्ण होने से लेकर दूसरी बार पूर्ण होने तक का समय, मनुष्य की काल-गणना का दूसरा दिन से बडा स्वाभाविक परिमाण निश्चित हुआ होगा। बहुत-सी भाषाओं में चन्द्रमा का नाम ही इस काल का भी द्योतक माना हुआ पाया जाता है। वेदों में चन्द्रमा का मास नाम मिलता है। उदाहरणार्थ—

'सूर्यमासा मिथ उच्चरात.'

ऋ० स० १०।६८।१०, अथ० स० २०।१६।१०

'सूर्यमासा विचरन्ता दिवि'

ऋ० स० १०।९२।१२

इससे स्पष्ट है कि चन्द्रमा का मास नाम उपर्युक्त काल का वाचक है।

दिन और मास के मानों का निश्चय हो जाने पर मनुष्य को कुछ दिनों बाद ज्ञात हुआ होगा कि ग्रीष्म, वर्षा इत्यादि ऋतुएं एक नियमित समय के भीतर अर्थात् चन्द्रमा द्वारा ज्ञात होनेवाले मासात्मक काल की बारह संख्याएं बीतने पर, पुनः-पुनः आया करती हैं। वेदों में इस काल के लिए शरद्, हेमन्त इत्यादि ऋतुओं के ही नामों का प्रयोग किया गया है। ऋक्संहिता में वर्ष अर्थ में शरद् शब्द बीस से अधिक बार और हिम शब्द दस से अधिक बार आया है। अन्य वेदभागों में भी ये शब्द अनेकों बार आये हैं। वर्ष शब्द भी मूल में ऋतुविशेष का ही वाचक है।

शतञ्जीव शरदो वर्धमान. शतं हेमन्ताँच्छतमुवसन्तान्॥

ऋ० स० १०।१६१।४, अथ० सं० २०।९६।९

इस ऋचा मे वर्ष अर्थ मे शरद, हेमन्त और वसन्त तीनो शब्द साथ आये है। वर्ष अर्थ मे सवत्सर शब्द भी अनेको जगह मिलता है।

अस्तु, दिवस और मास से बडा• कालगणना का तीसरा स्वाभाविक परिमाण वर्ष हुआ। इन तीनो की उत्पत्ति का सामान्य दिग्दर्शन ऊपर करा दिया गया। यहाँ ज्योतिष-शास्त्र सम्बन्धी विचारो की क्रमश वृद्धि का सूक्ष्म वर्णन नही करते, क्योकि ऐसा करने से विस्तार होगा और उतने की यहाँ आवश्यकता भी नही है। मुख्य विषयो का वर्णन आगे यथास्थान किया ही जायगा।

जैसे सूर्यादिको को देखने से चमत्कार मालूम होता है, उसी प्रकार उनकी नियमित स्थिति देखकर भी अत्यन्त आश्चर्य होता है और उनके विषय मे एक प्रकार की पूज्य बुद्धि उत्पन्न होती है। इस स्थिति मे यह आकाश का सम्पूर्ण व्यवहार किसी अप्रतिहत सत्य द्वारा चल रहा है और उस सत्य की महत्ता अवर्णनीय है इत्यादि विचारो का मन मे आना स्वाभाविक है। ऋग्वेद की निम्नलिखित ऋचा देखिये—

सत्येनोत्तभिता भूमि सूर्येणोत्तभिता द्यौ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रित ॥

ऋ० स० १०।८५।१, अथ० स० १४।१।१

सत्य ने भूमि सभाल रखी है। सूर्य ने आकाश सभाला है। सत्य से आदित्य रहते है [और सत्य से ही] सोम आकाश मे स्थित है।

'इस पापी कलियुग मे सभी ने अपना सत्य छोड दिया पर सूर्य और चन्द्रमा ने नही छोडा' ये उद्गार आज भी बहुतो के मुख से सुनाई देते है।

आकाश के कुछ चमत्कारो को देखकर आनन्द होता है, कुछ आश्चर्योत्पादक और कुछ डरावने भी होते है। ग्रहण, उल्कापात और धूमकेतुओ को देखने से आज भी बहुत से लोगो को विलक्षण विस्मय ही नही भय भी मालूम होता है। इससे स्पष्ट है कि सृष्टि के आरम्भ मे लोग इनमे अत्यन्त भयभीत हुए होगे और इन्हे ईश्वरीय क्षोभ के द्योतक समझते रहे होगे। कोलम्बस ने एक टापू के निवासियों मे कहा कि सूर्य तुम पर क्रुद्ध है और वह अमुक दिन तुम्हे दिखाई नही देगा। बाद मे वैसी ही स्थिति देखकर उनके अत्यन्त भयभीत होने का वर्णन बहुतो ने पढा होगा। ई० स० पूर्व ५८४ के लगभग लीडिया और मीडिया वालो का युद्ध ५ वर्ष तक जारी रहा। ई० स० पूर्व ५८४ मे, जब कि युद्ध हो रहा था, खग्रास सूर्यग्रहण हुआ और अकस्मात् दिन से रात हो गयी, यह देख कर दोनो पक्ष अत्यन्त भयभीत हुए और उन्होने आपस मे समझौता करके युद्ध बन्द किया। यह बात इतिहास-प्रसिद्ध है। कौरव-पाण्डवो का घोर युद्ध होने के पहले एक ही मास मे सूर्य और चन्द्रमा दोनो के ग्रहण लगे थे। उसके बाद वह घोर सग्राम हुआ

जिसने अतिशय मनुष्य-सहार हुआ। इसका वर्णन हमारे महाभारत मे है ही। इसी प्रकार अनेको प्रसगो मे उल्कापात और केतु-दर्शन होने के वर्णन पुराणादिको मे बहुत से है।

मनुष्य-व्यवहार के साधनीभूत तथा कालगणना के स्वाभाविक मान दिन, मास और वर्ष आकाशीय चमत्कारो पर ही अवलम्बित है। खेती के लिए ऋतुओ का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है और ऋतुज्ञान सूर्य पर अवलम्बित है। वर्षा भी सूर्य के ही कारण होती है। ज्वार-भाटे का कारण चन्द्रमा है। मालूम होता है ईश्वर अपने क्षोभो को भी आकाशस्थ तेजो की ही कुछ विशिष्ट स्थितियो द्वारा उनके आने के पूर्व सूचित करता है। इन सब हेतुओ से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य का ध्यान उसके उत्पत्तिकाल से ही ज्योतिषशास्त्र मे लगा होगा और प्राचीनकाल से ही उसकी ये धारणाए होगी कि चन्द्रमा और सूर्य की अमुक स्थिति मे खेती इत्यादि के अमुकामुक कार्य करने पडते है और उसमे भी अमुक विशिष्ट स्थिति मे करने से वे अधिक लाभप्रद होते है उदाहरणार्थ चन्द्रमा की अमुक स्थिति मे बीज बोया जाय तो उपज अच्छी होगी और उसके अमुक नक्षत्र मे रहने पर बोने से नष्ट हो जायगी। सूर्य जब दक्षिण से उत्तर या उत्तर से दक्षिण की ओर मुडता है उस समय अर्थात् अयन-सक्रान्ति के दिन अमुक-अमुक कार्य हिताहित-प्रद होगे, विवाहादि कार्य अमुक समय करने से मगल-प्रद होगे, अमुक कर्म करने से ग्रहण, उल्कापात और केतु इत्यादिको के दर्शन-जन्य अरिष्ट शान्त होगे। आकाश मे दो ग्रह आमने-सामने आ जाने पर उनका युद्ध समझकर, उनकी न्यूनाधिक तेजस्विता द्वारा जय-पराजय मानकर पृथ्वी के राजाओ की जय-पराजय का निश्चय करते रहे होगे। इसी प्रकार कुछ समय बाद उनकी यह कल्पना होना भी स्वाभाविक है कि आकाशस्थ ज्योतियो का सम्बन्ध यदि सम्पूर्ण जगत् के व्यवहार और शुभाशुभ से है, तो प्रत्येक मनुष्य की जन्मकालीन घटनाओ से भी उनका सम्बन्ध अवश्य होगा और मनुष्य के जन्मकाल की तथा अन्य समयो की सूर्य-चन्द्रादि ग्रहो की स्थिति द्वारा उसके जीवन मे होनेवाले सुख-दु.ख का निश्चय किया जा सकेगा।

उपर्युक्त विषयो के तीन भेद होते है। प्रथम भेद मे गणित-सम्बन्धी बाते आती है, जैसे कितने दिनो का महीना होता है, कितने महीनो का वर्ष होता है, वर्ष मे कितने दिन होते है, सूर्य का दक्षिणायन या उत्तरायण अमुक दिन से कितने दिनो बाद होगा, अमुक ग्रह अमुक दिन कहा रहेगा, ग्रहण कब होगा इत्यादि। ग्रहण, केतु तथा ग्रह-युद्धादिकों द्वारा जगत् के शुभाशुभ का ज्ञान और अमुक दिन विवाहादि कर्म करने से शुभ या अशुभ फल होगे इत्यादि बाते द्वितीय भेद मे आती है। किसी व्यक्ति की जन्म-कालीन तथा अन्य समयो की ग्रहस्थिति के अनुसार उसके जीवन मे होने वाले सुख-

दु ख का विचार तृतीय भेद मे किया जाता है। ये ज्योतिषशास्त्र की तीन शाखाएँ (स्कन्ध) कही जा सकती है।

हमारे ज्योतिषशास्त्र के प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थो मे ज्योतिष के यही तीन स्कन्ध माने गये है। पहले को गणित, दूसरे को सहिता और तीसरे को जातक या होरा कहते है। गणित को सिद्धान्त भी कहा जाता है। नारद का वचन है—

सिद्धान्तसहिताहोरारूप स्कन्धत्रयात्मकम्।
वेदस्य निर्मल चक्षुर्ज्योति शास्त्रमनूत्तमम्।।

नारदसहिता १।४

श्रीपतिकृत रत्नमाला के टीकाकार महादेव (शक ११८५) का कथन है—

'ग्रहगणितपाटीगणितबीजगणितरूपसुनिश्चलमलस्य बहुविधवितहोरातन्त्र-शाखस्य ज्योति शास्त्रवनस्पते सहितार्था एव फलानीत्यवधार्य जातकर्मनामकरणमौ-ञ्जीबन्धनविवाहयात्रादौ निखिलसहितार्थमल्पग्रन्थेनाभिधातुमिच्छु आह।'

केशवकृत मुहूर्ततत्त्व नामक ग्रन्थ की टीका मे (लगभग शक १४४०) गणेश दैवज्ञ ने कहा है—

"श्री केशवो गणितस्कन्ध जातकस्कन्ध चोक्त्वा . . . . सहितास्कन्ध चिकीर्षु प्रतिजानीते।"

आकाशस्थ ज्योतियो के विचार की ओर हम लोगो का ध्यान बहुत प्राचीन काल से ही लगा था। परन्तु किसी विषय का शास्त्र बनने मे बहुत समय लगता है, इसलिए ज्योतिषशास्त्र के भी ग्रन्थ बनने मे बहुत समय व्यतीत हुआ होगा और सर्वप्रथम जो ग्रन्थ बने होगे उनमे तो कम-से-कम इस शास्त्र का विवेचन कुछ मूलभूत विषयो के ही रूप मे रहा होगा और वह भी कुछ स्थूल ही। हमारे यहा के सम्प्रति उपलब्ध ज्योतिष-ग्रन्थो मे अति प्राचीन ग्रन्थ वेदाङ्गज्योतिष है। उसमे गणित द्वारा केवल सूर्य और चन्द्रमा की ही स्थिति का विचार हुआ है। उसके बाद का ग्रन्थ अथर्ववेदाङ्ग ज्योतिष होना चाहिए।[1] इसमे सहिता और होरा स्कन्धो का थोडा विचार हुआ है। इसके बाद के ग्रन्थ गर्ग, पराशर इत्यादि की सहिताए जान पडते है। ज्योतिषशास्त्र का कुछ विस्तृत ज्ञान हो जाने पर उसकी गणितादि तीन शाखाएँ हुई होगी। इसके पहले कुछ ऐसे भी ग्रन्थ बने होगे जिनमे तीनो शाखाओ का एकत्र विवेचन हो। मालूम होता है उस समय ऐसे ग्रन्थ थे और उन्हे लोग सहिता ही कहते थे। वराहमिहिर ने अपनी सहिता में लिखा है—

१. इन ग्रन्थों का स्वरूप थोड़े मे दिखाने के लिए बहुत-सी बातो का यहाँ दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। आगे इनका विस्तृत विवेचन किया जायगा।

ज्योति.शास्त्रमनेकभेदविषय स्कन्धत्रयाधिष्ठित ।
तत्कात्स्न्योर्पनयस्य नाम मुनिभि सकीर्त्यते सहिता ।। अध्याय १

वेदाङ्गज्योतिष और गर्गादि की सहिताओ से प्राचीन ग्रन्थ पहले थे या नही इसे जानने का सम्प्रति कोई साधन उपलब्ध नही है। गर्गादिको के जो सहिताग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं उनका मूल जैसा था वैसा ही आज भी है, अथवा नही, यह निश्चिय-पूर्वक कहना कठिन है। सम्प्रति गर्ग-सहिताए भी दो-तीन प्रकार की उपलब्ध हैं। उपर्युक्त वराहमिहिर के वचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले ऐसा सहिता-ग्रन्थ अवश्य रहा होगा जिसमे तीनो स्कन्धो का विवेचन एकत्र हो, वह विवेचन चाहे पूर्ण हो अथवा अशत । जैसे-जैसे ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान बढता गया और प्रत्येक शाखा पूर्ण होती गयी वैसे-वैसे भविष्य मे प्रत्येक शाखा के भिन्न-भिन्न ग्रन्थ बने होगे और सहिता नाम केवल एक स्कन्ध का पड गया होगा। वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका से ज्ञात होता है कि उसके (शक ४२७) पूर्व भिन्न-भिन्न शाखाओ के स्वतन्त्र ग्रन्थ बन चुके थे। केवल गणितस्कन्ध विषयक आर्यभट का ग्रन्थ वराहमिहिर के कुछ पहले का है, परन्तु उसके भी पहले गणित स्वतन्त्र स्कन्ध बन चुका था, यह आगे चलकर सिद्ध करेंगे। स्वय वराह-मिहिर के तो तीनो शाखाओ के भिन्न-भिन्न ग्रन्थ हैं ही।

प्रत्येक स्कन्ध के ग्रन्थों के विषय

गणित स्कन्ध के ग्रन्थो मे सिद्धान्त, तन्त्र और करण तीन भेद हैं। करण ग्रन्थ मे केवल ग्रहगणित रहता है। सिद्धान्त का लक्षण भास्कराचार्य ने इस प्रकार किया है—

त्रुट्यादिप्रलयान्तकालकलना मानप्रभेद: क्रमा-
च्चारश्च द्युसदा द्विधा च गणित प्रश्नास्तथा सोत्तरा ।
भूधिष्ण्यग्रहसंस्थितेश्च कथन यन्त्रादि यत्रोच्यते
सिद्धान्त. सः उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्धप्रबन्धे बुधै ।।६।।
—सिद्धान्त शिरोमणि, मध्यमाधिकार ।।

सिद्धान्त या तन्त्र मे मुख्यत दो अङ्ग होते हैं। एक मे केवल ग्रहादिको का गणित और दूसरे में प्राधान्यत सृष्टि-रचना का वर्णन, गोलविचार, यन्त्ररचना और काल-गणना के मान इत्यादि विषय रहते है, ये दोनो अङ्ग बिल्कुल पृथक् नही रहते और न तो रखे जा सकते हैं। अधिकाश सिद्धान्तो मे दोनो का सम्मिश्रण ही पाया जाता है। सिद्धान्त, तन्त्र और करणो के लक्षण कोई-कोई यो करते हैं कि जिसमे ग्रहगणित का विचार कल्पादि से हो वह सिद्धान्त, जिसमें महायुग से हो वह तन्त्र और जिसमे किसी इष्ट शक से हो वह करण है। केवल ग्रहगणित की दृष्टि से देखा जाय तो इसमें इसके

अतिरिक्त अन्य कोई भेद नही है, अर्थात् यह कह सकते है कि वस्तुत इसमे कोई भेद नही है। तीनो प्रकार के ग्रन्थो मे जिन भिन्न-भिन्न प्रकरणो मे ग्रहगणित का विचार किया रहता है, उन्हे अधिकार या अध्याय कहते है। उनके नाम ये है—

१ मध्यमाधिकार	५ सूर्यग्रहण	९ ग्रहयुति
२ स्पष्टाधिकार	६ छायाधिकार	१० भग्रहयुति
३ त्रिप्रश्नाधिकार	७ उदयास्ताधिकार	११ महापात
४ चन्द्रग्रहण	८ शृङ्गोन्नति	

कुछ ग्रन्थो मे अधिकार-सख्या इससे कुछ कम है, और कुछ मे अधिक और उनका क्रम भी प्रत्येक मे भिन्न-भिन्न है, फिर भी इन ग्यारहो मे उन सबका समावेश हो जाता है।

सहिता के विषयो के सम्बन्ध मे सबकी एकवाक्यता नही है। सामान्यत सहिता के दो अङ्ग माने जा सकते है। एक तो वह जिसमे ग्रहचार अर्थात् नक्षत्र-मण्डल मे ग्रहो के गमन और उनके परस्पर युद्धादि के धूमकेतु, उल्कापात और शकुनादिको द्वारा ससार के लिए शुभाशुभ फल का विवेचन रहता है और दूसरा वह जिसमे मुहूर्त अर्थात् विवाह और यात्रादि कर्मो के शुभाशुभ फलप्रद समय का विचार रहता है। वराहमिहिर की सहिता से विदित होता है कि उनके समय दोनो अङ्गो का महत्व समान था, परन्तु श्रीपति के समय (शक ९६०) से क्रमश प्रथम अङ्ग का महत्व कम होने लगा और लगभग शक १४५० से दूसरे अङ्ग का प्राधान्य हो गया। किबहुना, मुहूर्ततत्त्व मुहूर्तमार्तण्ड, मुहूर्तचिन्तामणि, मुहूर्तचूडामणि, मुहूर्तदीपक और मुहूर्तगणपति इत्यादि ग्रन्थो के नाम से तथा तदन्तर्गत विषयो को देखने से पता चलता है कि आगे जाकर मुहूर्त विषय ही तीसरा स्कन्ध बन बैठा। मुहूर्तग्रन्थो मे वराहमिहिर की सहिता के कुछ विषय रहते है, पर उनका प्राधान्य नही रहता।

किसी मनुष्य के जन्मकालीन लग्न द्वारा उसके जीवन के सम्पूर्ण सुख-दु खो का निश्चय पहले ही कर देना होरास्कन्ध का सामान्यत मूल स्वरूप है। होरास्कन्ध का ही दूसरा नाम पहले जातक था। आगे चलकर इसके दो विभाग हो गये। उपर्युक्त विषय जिस अङ्ग मे आया उसे जातक कहने लगे और दूसरा अङ्ग ताजिक हुआ। किसी मनुष्य के जन्मकाल से आरम्भ कर जिस समय सौरवर्ष की कोई सख्या समाप्त होकर नवीन वर्ष लगता है उस समय के लग्न द्वारा उस वर्ष के सुख-दुं ख का निश्चय करना सामान्यत ताजिक का मुख्य विषय है। इस पद्धति मे जन्मलग्न का मुथहा नाम रख कर उसे भी एक ग्रह मान लिया गया है। कुछ ग्रन्थकारों ने ताजिक शब्द का सस्कृत रूप 'तार्तीयिक' बताया है। मुसलमानो का प्राबल्य होने के समय (लगभग शक १२००) से हमारे देश मे ताजिक अङ्ग उनके ग्रन्थों से आया।

इस ब्रह्माण्ड मे पृथ्वी, चन्द्र और सूर्यादिको की स्थिति कहा है, कैसी है, उन्हे गति कैसे मिलती है, वह किस प्रकार की होती है, इत्यादि प्रश्नो का सामान्य विवरण हमारे ज्योतिषग्रन्थो के जिस प्रकरण मे रहता है, उसके भुवनकोश, भुवनसस्था, जगत्सस्था इत्यादि अर्थो के नाम भिन्न-भिन्न ग्रन्थो मे हे। यद्यपि इन वातो का विस्तृत विवेचन आगे यथास्थान हुआ है तथापि विषय-प्रवेश होने के लिए यहाँ भुवनसस्था, ग्रहगति, अयनचलन और कालगणना करने की युगपद्धति के विषय मे सक्षेप मे कुछ कहूँगा।

भुवनसंस्था

हमारे ज्योतिषशास्त्र के मतानुसार विश्व के मध्यभाग मे पृथ्वी है। उसके चारो ओर क्रमश. चन्द्र, बुध, शुक्र, सूर्य, मगल, गुरु, शनि और तारकामण्डल घूम रहे हे। यह घूमता हुआ नक्षत्र-मण्डल दोनो ध्रुवो मे बँधा हुआ है। पृथ्वी गोल और निराधार है। उसके चारो ओर वायु है, जिसे भूवायु कहते हें। उसके ऊपर आकाश मे प्रवह नाम का वायु मञ्चार करता है। उसी की प्रेरणा से चन्द्रादि तेजो को गति मिलती है, और वे पृथ्वी के चारो ओर घूमते हे। यह वर्णन सभी सिद्धान्त और तन्त्र ग्रन्थो मे रहता है, करण ग्रन्थो मे नही रहता पर पञ्चसिद्धान्तिका मे है। ज्योतिष के पौरुष ग्रन्थो मे पञ्चसिद्धान्तिका मे दिये हुए मतो मे से प्राचीन मत सम्प्रति उपलब्ध नही है, इसलिए उसके उपर्युक्त अर्थो के सूचक वचन नीचे उद्धृत करते है।

पञ्चमहाभूतमयस्तारागणपञ्जरे महीगोल.।
खेऽयस्कान्तान्त स्थो लोह इवावस्थितो वृत्त.।।१।।
मेरो समोपरि वियत्यक्षो व्योम्नि स्थितो ध्रुवोऽधोऽन्य।
तत्र निबद्धो मरुता प्रवहेण भ्राम्यते भगण·।।५।।
चन्द्रादूर्ध्व बुधसितरविकुजजीवार्कजास्ततो भानि।।३०।।

अध्याय १३ त्रैलोक्यसस्थान

आधुनिक ज्योतिषियो की भाति प्रथम आर्यभट का मत है कि "ग्रहो के साथ सम्पूर्ण तारका-मण्डल लगभग एक दिन मे हमे पृथ्वी की एक प्रदक्षिणा करता हुआ दिखाई देता है, परन्तु यह गति वास्तविक नही है। पृथ्वी की दैनन्दिन गति के कारण हमे ऐसा भास होता है।" बहुत से पौरुष सिद्धान्तकारो ने आर्यभट के इस मत मे दोष दिखलाये हैं।

नक्षत्रो के सम्बन्ध से देखने पर ग्रह पश्चिम से पूर्व की ओर जाते हुए दिखाई देते हैं। ज्योतिषशास्त्र मे ग्रहो की इसी गति का विचार किया गया है। ग्रहो की पूर्वाभिमुख गति की उपपत्ति सूर्यसिद्धान्त मे इस प्रकार है—

पश्चाद् व्रजन्तोऽतिजवान्नक्षत्रै सतत ग्रहा ।
जीयमानास्तु लम्बन्ते तुल्यमेव स्वमार्गगा ।।२५।।

मध्यमाधिकार

अर्थ——ग्रह नक्षत्रो के साथ पश्चिम मे जाते समय नक्षत्रो के वेग से अत्यन्त पराजित होने के कारण अपने मार्ग मे नियमित रूप से पीछे रह जाते है, इसलिए उन्हे पूर्वाभिमुख गति प्राप्त होती है।

इसका तात्पर्य इतना ही है, कि नक्षत्रो की गति की अपेक्षा ग्रहो की दैनन्दिन गति कम होने के कारण वे पीछे रह जाते हैं, अत नक्षत्रो से पूर्व मे जाते हुए दिखाई देते है।

प्रथम आर्यभट के मतानुसार नक्षत्रो की दैनन्दिन गति वास्तविक नही है, इसलिए उन्हे ग्रहो की पूर्वाभिमुख गति के विषय मे उपर्युक्त कल्पना नही करनी पडी। उनका कथन है कि ग्रहो की वस्तुत पूर्वाभिमुख गति है।

ग्रहगति के विषय मे एक और ऐसी कल्पना की गयी है, कि सब ग्रहो की पूर्वाभिमुख (योजनात्मक) गति उनके कक्षा-मण्डल मे समान ही है, परन्तु पृथ्वी से ग्रहो के अन्तर समान न होने के कारण दूर की कक्षाए निकट की कक्षाओ की अपेक्षा बडी पडती है, इसलिए दृक्प्रत्यय मे आनेवाली उनकी पूर्वाभिमुख गतिया भिन्न-भिन्न दिखाई देती हैं। चन्द्रमा अत्यन्त पास है, इसलिए उसकी गति सबसे अधिक है और शनि की कक्षा सब ग्रहो से बाहर है, इसलिए उसकी गति सबसे कम है। पञ्चसिद्धान्तिका मे कहा है——

प्राग्गतयस्तुल्यजवा ग्रहास्तु सर्वे स्वमण्डलगा ।।३९।।
पर्येति शशी शीघ्र स्वल्प नक्षत्रमण्डलमधस्थ ।
ऊर्ध्वस्थस्तुल्यजवो विचरति महदर्कजो मन्दम् ।।४१।।

अध्याय १३ त्रैलोक्यसस्थान

सम्पूर्ण नक्षत्रमण्डल मे ग्रह की एक प्रदक्षिणा को भगण कहते हैं। भगण-पूर्ति का काल अनेको प्रदक्षिणाओ का अवलोकन करने के बाद निश्चित किया गया होगा। गणित ग्रन्थो मे प्रत्येक ग्रह की कल्पीय या महायुगीय भगण-सख्या लिखी रहती है। उसके द्वारा लायी हुई और उपर्युक्त पञ्चसिद्धान्तिका के वाक्य मे बतलायी हुई गति प्रति-दिन समान रहती है। उसे मध्यम गति कहते है। परन्तु प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली प्रत्येक ग्रह की गति सर्वदा समान नही रहती। उदाहरणार्थ, गुरु को लीजिये, उसकी भगण-पूर्ति का काल लगभग १२ वर्ष है। इस मान से गुरु की मध्यम गति ५ कला के लगभग आती है, परन्तु प्रत्यक्ष देखा जाय तो गुरु कभी इससे कम चलता है और कभी अधिक। कभी-कभी उसकी गति १५ कला के लगभग रहती है और कभी १ कला से

भी कम। इतना ही नही, कभी-कभी तो वह उलटा (पूर्व से पश्चिम की ओर) चलता है। इसे वक्र गति कहते है। प्रति दिन की इस प्रकार की गति स्पष्ट गति कहलाती है। मध्यम गति द्वारा ग्रह का जो स्थान निश्चित होता है, स्पष्टग्रह उससे कुछ आगे या पीछे रहता है। जो स्थिति प्रत्यक्ष दिखाई देती है, उसे स्पष्ट स्थिति कहते है और मध्यगति द्वारा लायी हुई स्थिति मध्यमस्थिति कही जाती है। इष्टकाल मे गणित द्वारा किसी ग्रह की स्पष्ट स्थिति निकालना, अर्थात् इष्ट समय मे आकाश मे किसी ग्रह का स्थान जानना हमारे ज्योतिषशास्त्र के गणितस्कन्ध का प्रधान विषय है।

अयन-चलन

सूर्य किसी नक्षत्र मे आने के बाद, पुन जितने समय मे वहा आता है उसे नाक्षत्र सौर वर्ष कहते है। विषुववृत्त और क्रान्तिवृत्त का सयोग दो स्थानो मे होता है। उन दोनो बिन्दुओ को सम्पात या क्रान्तिपात कहते है। सूर्य जब सम्पात मे आने के बाद विषुववृत्त के उत्तर की ओर जाता है, और जब कि उस समय वसन्त ऋतु रहती है, उस सम्पात को मेषसम्पात या वसन्तसम्पात कहते है। मान लीजिये किसी समय वसन्त-सम्पात मे एक तारा है। उसी समय सूर्य भी वहा आया और वर्ष का आरम्भ हुआ। सम्पात मे गति है। वह प्रति वर्ष लगभग ५० विकला पीछे हटता है, इसलिये नक्षत्र-मण्डल उतना ही आगे खिसका हुआ दिखाई देता है। सम्पात से चलकर सूर्य को पुन सम्पात तक आने मे जो समय लगता है, उसे साम्पातिक सौर वर्ष कहते है। इसी का नाम आर्तव वर्ष या सायन वर्ष भी है। सूर्य जब सम्पात मे आता है उस समय पहले का नक्षत्र ५० विकला आगे गया रहता है। उसे वहा तक जाने मे लगभग ५० पल अधिक लगते है, अत सिद्ध हुआ कि साम्पातिक सौर वर्ष की अपेक्षा नाक्षत्र सौर वर्ष लगभग ५० पल अधिक है। ऋतुए साम्पातिक सौर वर्ष पर अवलम्बित है। जब-जब सूर्य सम्पात मे आयेगा सर्वदा एक ही ऋतु रहेगी, परन्तु एक बार किसी नक्षत्र मे सूर्य के रहने पर जो ऋतु होगी वही सर्वदा उस नक्षत्र मे आने पर नही होगी, यह स्पष्ट है। वृत्त का एक बिन्दु हिलने पर उसके सभी बिन्दु हिल जाते है, इसलिए सम्पात-बिन्दु की भाति अयन-बिन्दु भी पीछे खिसकते है। अत एक बार जिस नक्षत्र मे सूर्य के आने पर उत्तरायण होता है, बाद मे उसमे नही होता बल्कि पीछे-पीछे हटने लगता है। अयन-बिन्दु की गति सम्पात-बिन्दु के समान ही होती है। सूर्य के अयन नक्षत्रो मे क्रमश पीछे हटने के कारण वह गति पहले ज्ञात हुई, इसलिए उसे अयन-चलन कहने लगे।

कालगणना की युगपद्धति

कलियुग का मान ४३२००० वर्ष है। द्वापर, त्रेता और कृतयुग क्रमश. इससे द्विगुणित, त्रिगुणित और चतुर्गुणित होते है। इन चारो युगों का एक महायुग होता है।

वह कलियुग का दसगुना होता है। उसका मान ४३२०००० वर्ष है। एक सहस्र महायुगो का कल्प होता है। यही ब्रह्मा का दिन है। कल्प मे १४ मनु होते है। कल्पारम्भ से लेकर वर्तमान महायुग के आरम्भ पर्यन्त ६ मनु और २७ महायुग बीत गये। २८वे महायुग के कृत, त्रेता और द्वापर तीन युग बीत गये। इस समय कलियुग है। प्रत्येक मनु ७१ महायुगो का होता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक मनु के आरम्भ मे कृतयुग-तुल्य सन्धि होती है। इस प्रकार ब्रह्मदिन के आरम्भ से लेकर वर्तमान कलियुग के आरम्भ तक ४५६७ कलियुगो जितना समय बीता। इस विषय मे एक प्रथम आर्यभट को छोड, अन्य सब सिद्धान्तो का मत एक है। अन्य विषयो मे थोडा मतभेद है। सूर्यसिद्धान्त और प्रथम आर्यभट के सिद्धान्तानुसार वर्तमान कलियुग के आरम्भ मे सब ग्रह अर्थात् सूर्यादि सात ग्रह एक स्थान मे आते है अर्थात् उनका मध्यम भोग शून्य आता है। ब्रह्मगुप्त और द्वितीय आर्यभट के सिद्धान्तानुसार वे केवल कल्पारम्भ मे एक स्थान मे आते है। कलियुगारम्भ मे पास-पास तीन-चार अशो के भीतर रहते है। और भी एक मतभेद है। उसे आगे कहूँगा।

हमारे देश मे आकाशस्थित ज्योतियो की गति-स्थिति इत्यादि का तथा ज्योतिषशास्त्र के अन्य सब अङ्गो का विचार उत्पन्न होने के बाद, तत्सम्बन्धी ज्ञान क्रमश कैसे बढता गया इसका इतिहास इस पुस्तक मे लिखा गया है। हमारे देश का प्राचीन नाम भारतवर्ष, भरतखण्ड या भारत है। इसमे भारतवर्ष के ज्योतिषशास्त्र का इतिहास है, इसलिए इसका नाम 'भारतीय ज्योतिषशास्त्र अथवा भारतीय ज्योतिषशास्त्र का प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास' रखा है।

ज्योतिषशास्त्र के सहिता और जातक अङ्ग ग्रहादि ज्योतिषो की गति पर अवलम्बित है। ग्रहादिको की स्पष्ट स्थिति अर्थात् अमुक समय ग्रह आकाश मे अमुक स्थान मे रहेगा, पहले बता देना हमारे ज्योतिषशास्त्र का अत्यन्त महत्व का विषय है, और वह उतना ही कठिन भी है। स्पष्ट गति-स्थिति से सूक्ष्म ज्ञान द्वारा मध्यम गति-स्थिति का सूक्ष्म ज्ञान होता है, तथापि सूक्ष्म स्पष्ट स्थिति का ज्ञान होने के पहले भी सामान्यत मध्यम गति-स्थिति का बहुत कुछ सूक्ष्म ज्ञान हो जाता है। यह पहले की सीढी है। ज्योतिषशास्त्र के सम्प्रति उपलब्ध सिद्धान्त-ग्रन्थो मे स्पष्ट-गति-स्थिति का गणित है, परन्तु मनुष्य का ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान इस स्थिति तक पहुँचने मे समय बहुत लगा होगा, इसलिए हम ज्योतिषशास्त्र के इतिहास के दो विभाग 'ज्योतिषसिद्धान्तकाल' और 'सिद्धान्तप्राक्काल' करते है और इसी के अनुसार इस ग्रन्थ के भी दो विभाग किये है। सिद्धान्तप्राक्काल मे हम लोगो का ध्यान ज्योतिष की ओर कैसे लगा, तत्सम्बन्धी ज्ञान क्रमश: कैसे बढता गया और वह स्पष्ट स्थिति जानने वाली सीढी तक कैसे पहुँचा, इसका इतिहास हमें वेद, वेदाङ्ग, स्मृति और महाभारत इत्यादि ग्रन्थों में प्रसगवशात् आये हुए

ज्योतिषसम्बन्धी लेखो द्वारा मालूम होता है। वह इस ग्रन्थ के प्रथम भाग मे है और उसके बाद का आज तक का इतिहास द्वितीय भाग मे दिया गया है। मैंने सिद्धान्तप्राक्काल के और तदनुसार इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के दो विभाग वैदिक-काल और वेदाङ्ग-काल किये है। प्रथम मे वेदो की सहिताओ, ब्राह्मणो और क्वचित् उपनिषदो मे आये हुए ज्योतिष सम्बन्धी विषयो का इतिहास है और द्वितीय विभाग मे वेदाङ्ग, स्मृति और महाभारतादिको मे वर्णित विषयो का वर्णन है। वेदाङ्गो मे ज्योतिष के दो ग्रन्थ है। उनमे केवल ज्योतिष विषय ही है परन्तु मध्यम गति-स्थिति भी है। चूकि वे दोनो ज्योतिष-सिद्धान्तग्रन्थो मे प्राचीन है, इसलिए उनका विवेचन प्रथम भाग मे ही किया है। वैदिक-काल, वेदाङ्गकाल और ज्योतिष-सिद्धान्तकाल की मर्यादा का विचार प्रथम भाग के अन्त मे किया है।

द्वितीय भाग मे ज्योतिष के तीनो स्कन्धो का इतिहास है। उसमे गणितस्कन्ध का इतिहास, पूर्वोक्त, मध्यम, स्पष्ट इत्यादि अधिकारो के क्रम से दिया है। भुवनसस्था, वेध और अयन-चलन का विवेचन भी उसी मे है। इस विवेचन मे अनेक ग्रन्थो और ग्रन्थकारो के नाम आयेगे। चूँकि उनके इतिहास का ज्ञान न रहने से उपर्युक्त विवेचन समझने मे अडचन होने की सम्भावना है, इसलिए दूसरे विभाग के आरम्भ मे ही मध्यमाधिकार मे ज्योतिष-गणित-ग्रन्थकार और उनके ग्रन्थो का इतिहास लिखा है और उसी मे ग्रहो की मध्यम गति-स्थिति का विचार किया गया है। स्पष्टाधिकार मे स्पष्ट गति-स्थिति का विवेचन है। पञ्चाङ्ग के अङ्गो का और इस देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे प्रचलित भिन्न-भिन्न पञ्चाङ्गो का वर्णन भी उसी मे है। दोनो भागो के विषयक्रम का विस्तृत स्वरूप अनुक्रमणिका द्वारा ज्ञात होगा।

प्रथम भाग

वैदिक काल तथा वेदाङ्ग काल में ज्योतिष का विकास

प्रथम विभाग

वैदिक काल

इस प्रकरण मे वेदो मे आये हुए ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धी उल्लेखो का विचार किया जायगा। वेद केवल ज्योतिषशास्त्र के ग्रन्थ नही है, अतः स्पष्ट है कि उनमें कोई भी बात ज्योतिष-विषयक विवेचन के लिए नही कही गयी होगी, बल्कि इतर विषयो का विचार करते समय प्रसगवशात् उसके सम्बन्ध मे कुछ बाते आ गयी होगी। हमे चाहिए कि जहा उनके द्वारा कुछ अनुमान किये जा सकते हो, वहा करे, और जहा अनुमानोपयोगी सब सुसगत उपकरण न हो, वहा उपलब्ध बाते ही ज्यो-की-त्यो उद्धृत कर दे।

यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि हमारे पूर्वज सृष्टि के और विशेषत आकाश के चमत्कारो का अवलोकन करने मे सदा सचेष्ट रहते थे। कोई भी वेद या वेदभाग अथवा उसका कोई प्रपाठक ही लीजिए, उसमे आकाश, चन्द्र और सूर्य, उषा और सूर्य, रश्मि, नक्षत्र और तारे, ऋतु और मास, दिन और रात, वायु और मेघ—इनके विषय मे कुछ न कुछ वर्णन अवश्य मिलेगा और वह भी बडा ही मनोहर, स्वाभाविक, सुन्दर, चमत्कारिक और आश्चर्यकारक। मै यहा इसके कुछ उदाहरण देता पर ऐसा करने से ग्रन्थविस्तार होगा और कुछ अश मे विषयान्तर भी होगा।

विश्वोत्पत्ति

अब पहले यह विचार करे कि जगत् की उत्पत्ति के विषय मे वेदो में क्या लिखा है। ऋग्वेदसहिता मे एक स्थान पर निम्नलिखित वर्णन है—

देवाना नु वयं जाना प्रवोचाम विपन्यया।
उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे ॥१॥
ब्रह्मणस्पतिरेतास कर्मार इवाघमत्।
देवाना पूर्व्ये युगेऽसत· सदजायत ॥२॥
देवाना युगे प्रथमेऽसत. सदजायत।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि ॥३॥

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त ।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदिति परि ।।४।।
अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्षया दुहिता तव ।
ता देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धव ।।५।।

ऋ० स० १०।७२

हम देवो के जन्म स्पष्ट वाणी से कहते है, जो [देवगण पूर्वयुग मे उत्पन्न होते हुए भी] उत्तर युग मे [यज्ञो मे] शस्त्र गाते समय [स्तोता को] देखता है ।।१।। कर्मार की भाँति ब्रह्मणस्पति ने देवो को जन्म दिया। देवो के पूर्वयुग मे असत् (सर्वभाव) से सत् हुआ ।।२।। देवो के प्रथम युग मे असत् से सत् हुआ उससे दिशाएँ हुई और उसके पश्चात् उत्तानपद हुआ ।।३।। उत्तानपद से पृथ्वी हुई, पृथ्वी से आशाए हुई अदिति से दक्ष हुआ, दक्ष से अदिति हुई ।।४।। हे दक्ष ! तुम्हारी दुहिता अदिति मे उत्पन्न होने के बाद स्तुत्य तथा अमर देव उत्पन्न हुए ।।५।।

इस वर्णन के आधार पर सामान्यत. कह सकते है कि पहले कोई अस्तित्व उत्पन्न हुआ, उसके बाद दिशाएँ और तदनन्तर पृथ्वी उत्पन्न हुई ।

ऋक् सहिता मे एक स्थान पर लिखा है—

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत तत समुद्रो अर्णवः ।।१।। समुद्रादर्णवादधिसवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ।।२।। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वम-कल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्व ।।३।।

ऋ० स० १०।१९०

ये मन्त्र अन्य वेदो मे भी है। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे एक स्थान पर निम्नलिखित वर्णन है—

आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तेन प्रजापतिरश्राम्यत। कथमिद ँ स्यादिति। सोऽपश्यत्पुष्करपर्ण तिष्ठत्। सोम-न्यत। अस्ति वै तत्। यस्मिन्निदमधितिष्ठति। स वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत्। स पृथिवीमध आर्छत्। तस्या उप-हत्योदमज्जत्। तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत्। यदप्रथयत्। तत्पृथिव्यै पृथिवीत्वम् ।।

अष्टक १ अध्याय १ अनुवाक ३

इसमे "पहले जल था, उसके बाद पृथ्वी उत्पन्न हुई इत्यादि" वर्णन है। तैत्तिरीय सहिता के भी निम्नलिखित वाक्यो मे इसी प्रकार उदक के पश्चात् वायु और उसके बाद पृथ्वी की उत्पत्ति बतायी गयी है।

> आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् तस्मिन् प्रजापतिर्वायुर्भूत्वा-
> चरत् स इमामपश्यत् ता वराहो भूत्वाऽहरत् ता विश्वकर्मा
> भूत्वा व्यमार्ट् सा प्रथत सा पृथिव्यभवत्। तत् पृथिव्यै पृथिवित्वम्॥
>
> अष्टक ७ अध्याय १ अनुवाक ५

इसमे उदक के बाद वायु और वायु के बाद पृथ्वी यह क्रम है।

निम्नलिखित उपनिषद्भाग मे बतायी हुई उत्पत्ति का क्रम अधिक सुव्यवस्थित ज्ञान होता है।

> तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश. सम्भूत.। आकाशाद्वायु।
> वायोरग्नि·। अग्नेराप:। अद्भ्य पृथिवी। पृथिव्या ओषधय।
> ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुष॥
>
> तैत्तिरीयोपनिषद् २।१ (ब्रह्मवल्ली प्रथमखण्ड)

अन्य भी अनेक स्थलो मे सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन है।

यद्यपि वेदो मे सृष्टि की उत्पत्ति, उसका क्रम इत्यादि बाते बतलायी है, तथापि तैत्तिरीयब्राह्मण मे एक स्थान पर बडा चमत्कारिक वर्णन यह है, कि सृष्टि-उत्पत्ति का वास्तविक कारण बतलाना असम्भव है और उसे कोई भी नही जानता।

> नासदासीन्नोसदासीत्तदानीम्। नासीद्रजो नो व्योमा परो
> यत्। किमावरीव: कुह कस्य शर्मन्। अम्भ· किमासीद् गहन
> गभीरम्। न मृत्युरमृत तर्हि न। रात्रिया अह्न आसीत् प्रकेत।
> आनीदवात ँ स्वधया तदेकम्। तस्माद्धान्यं न पर किञ्च
> नास। तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्। सलिल ँ सर्वं मा
> इदम्। तुच्छेनाभ्वपिहित यदासीत्। तमसस्तन्महिमा
> जायतैकम्। कामस्तदग्रे समवर्तताधि। मनसो रेत प्रथम
> मदासीत्। सतो बन्धुमसति। निरविन्दन्। हृदि प्रतीष्या
> कवयो मनीषा। तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्। अध-
> स्विदासी ३दुपरिस्वदासी ३त्। रेतोधा आसन् महिमान आसन्
> स्वधा अवस्तात् प्रयति. परस्तात्॥
>
> तै० ब्रा० २।८।९

"पूर्व सृष्टि का प्रलय होकर उत्तर सृष्टि उत्पन्न होने के पहले सत् नही था, असत् भी नही था, आकाश नही था उदक नही था, मृत्यु नही थी, अमृत नही था, रात और दिन को प्रकाशित करने वाले कोई (सूर्य-चन्द्र) न थे। केवल ब्रह्म था। उसके मन मे सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा हुई। उसके बाद सारा ससार उत्पन्न हुआ, इत्यादि" वर्णन इन वाक्यो मे है। इसके बाद आगे कहा है—

> को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्। कुत आजाता कुत इय विसृष्टि ।
> अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनाय। अथो को वेद यत आबभूव।
> इय विसृष्टिर्यत आबभूव। यदि वा दधे यदि वा न। यो
> अस्याध्यक्ष. परमे व्योमन्। सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।
> कि [1] स्विद्वन क उ स वृक्ष आसीत् [1]। यतो द्यावापृथिवी
> निष्टतक्षु:॥

तै० ब्रा० २।८।६

यह विविध सृष्टि किससे उत्पन्न हुई, किसलिए हुई, इसे वस्तुत कौन जानता है? अथवा कौन कह सकता है? देवता भी पीछे से हुए, फिर जिससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई, उसे कौन जानता है। जिससे द्यावापृथ्वी बनी वह वृक्ष कौन सा था, और किस वन मे था, इसे कौन जानता है? इन सब का अध्यक्ष परमाकाश मे है, वही इसे जानता है, अथवा वह भी जानता है या नही, इसे कौन जाने?

उपर्युक्त विचारो मे यह अभिप्राय भी स्पष्ट है कि जगदुत्पत्ति का कारण जानने वाला तो कोई नही है, पर उत्पत्तिक्रम भी किसी को ज्ञात नही है। ऋग्वेद मे भी एक स्थान में लिखा है—

> तिस्रो द्याव सवितुर्द्वा उपस्था एका यमस्य भुवने
> विराषाट्। आणि न रथ्यममृताधितस्थु.॥

ऋ० स० १।३५।६

"द्युलोक तीन है। उनमे से दो सविता के उदर में [और] एक यम के भुवन मे...... [है].. .. [चन्द्रतारादि] अमर [उस] पर बैठे है", ऐसा कहने के बाद ऋषि फिर उसी ऋचा में कहते है—

१. "किं स्विद्वनं" मन्त्र वाजसनेयीसंहिता (१७।२०) में भी है। इसी प्रकार इसके पहले के सब मन्त्र ऋक्संहिता (१०।१२६) में भी है। 'किं स्विद्वनं' मन्त्र १०।३१ में है।

इह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत्।

यह सब जाननेवाला यदि कोई है, तो वह यहा आकर बतावे। यहा ऋषि का आशय यह है कि वस्तुत इसे जानने वाला कोई नही है।

यह सब होते हुए भी मालूम होता है जगत्सस्थान का——कम-से-कम पृथ्वी-सस्थिति का तो वेदकाल मे भी अच्छा ज्ञान था।

विश्वसंस्था

सम्पूर्ण जगत् के विषय मे कुछ कहते समय रोदसि, द्यावापृथ्वी अथवा इसी अर्थ के दूसरे शब्दो द्वारा आकाश और पृथ्वी के समुच्चय को लक्षित करके किया हुआ वर्णन बहुत से स्थलो मे पाया जाता है। इससे ज्ञात होता है, जगत् के द्यौ और पृथ्वी दो भाग माने गये है। कही-कही द्युलोक तीन बतलाये है। ऋक्सहिता मे तीन द्युलोको का निर्देश बहुत से स्थलो मे है। कही-कही दिव् का पृष्ठभाग अथवा अत्यन्त उच्च भाग स्वर्ग बतलाया है, पर अधिकाश स्थानो पर द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथ्वी जगत् के तीन भाग माने गये है। द्यौ और पृथ्वी के बीच के भाग का नाम अन्तरिक्ष है। वही वायु, मेघ और विद्युत् का स्थान है। पक्षी उसी मे उडते है।

'नाभ्या आसीदन्तरिक्ष शीर्ष्णोद्यौ समवर्तत, पद्भ्या भूमि।'

पुरुषसूक्त की इस प्रसिद्ध ऋचा मे ये तीन भाग स्पष्ट है। मालूम होता है इनकी ऊर्ध्वाध स्थिति का ध्यान रखकर ही विराट् पुरुष के मस्तक, नाभि और पादो से उनकी उत्पत्ति की कल्पना की गयी है।

य पृथिवी व्यथमानमदहृद्य पर्वतान् प्रकुपिता अरम्णात्।
यो अन्तरिक्ष विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्र ॥

ऋ० स० २।१२।१ अथ० स० २०।३४।२

जिसने काँपती हुई पृथ्वी दृढ की जिसने विस्तीर्ण अन्तरिक्ष व्यवस्थापित किया, जिसने द्यौ को धारण किया, हे मनुष्यो! वह इन्द्र है।

त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रि पार्थिवानि त्रिरुदत्तमद्भ्य ॥

ऋ० स० १।३४।६

हे अश्विनो! आप हमे तीन बार द्युलोक की, तीन बार पृथ्वी पर की और तीन बार अन्तरिक्ष की ओषधिया दीजिये।

यहा मूलोक्त 'अद्भ्य' शब्द का अर्थ है 'जिसमे मेघोदक रहता है उस प्रदेश से

अर्थात् अन्तरिक्ष से।' इसके अनेको प्रमाण है और इस शब्द से भी ज्ञात होता है कि अन्तरिक्ष उसी को कहते हैं जिसमे मेघोदक रहता है।

ये मही रजसो विदुर्विश्वेदेवासो अद्रुहः। मरुद्भिरग्न आगहि ॥

ऋ० स० १।१९।३

'हे अग्ने! जो देवता महान् अन्तरिक्ष मे रहते है उन सब मरुतो (देवताओ) के साथ तुम यहा आओ।' इससे मरुत् (वायु) का स्थान अन्तरिक्ष ज्ञात होता है।

वेदा योवीनाम्पदमन्तरिक्षेण पतताम्। ऋ० स० १।२५।७

'जो (वरुण) अन्तरिक्ष मे उडनेवाले पक्षियो का मार्ग जानता है।' इससे पक्षियो का गमनमार्ग अन्तरिक्ष सिद्ध होता है।

द्यौरन्तरिक्षे प्रतिष्ठितान्तरिक्षि पृथिव्याम्।

ऐ० ब्रा० ११।६

इस ऐतरेयब्राह्मण के वाक्य मे तो यह स्पष्ट है कि पृथ्वी और द्यौ के बीच मे अन्तरिक्ष है। बहुत से स्थलो मे यह वर्णन है कि सूर्य द्युलोक के अत्यन्त उच्च प्रदेश मे सञ्चार करता है। अग्रिम ऋचा देखिये——

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरा दिवम्। हृद्रोग मम सूर्य हरिमाण च नाशय ॥

ऋ० स० १।५०।११

हे अनुकूल-तेज सूर्य! तू परम उच्च द्युलोक पर चढकर मेरा हृद्रोग नाश कर।

निम्नलिखित कुछ वाक्यो मे भी यह कल्पना दिखाई देगी कि सूर्य पृथ्वी से अत्यन्त दूर प्रकाशित होता है।

यथाग्नि पृथिव्या समनमदेव मह्य भद्रा· सन्नतय· सन्नमन्तु वायवे समनमदन्तरिक्षाय समनमद् यथा वायुरन्तरिक्षेण सूर्याय समनमद् दिवे समनमद् यथा सूर्यो दिवा चन्द्रमसे समनमन्नक्षत्रेभ्य समनमद् यथा चन्द्रमा नक्षत्रैर्वरुणाय समनमत् ॥

तै० स० ७।५।२३

इसमे कहा है कि अग्नि पृथ्वी से वायु और अन्तरिक्ष को नत हुआ, वायु अन्तरिक्ष से सूर्य और द्यु को, इसी प्रकार सूर्य द्यु से चन्द्रमा और नक्षत्रो को तथा चन्द्रमा नक्षत्रों से वरुण को नत हुआ। इसका अभिप्राय यह जान पडता है कि अग्नि पृथ्वी पर है, वायु अन्तरिक्ष के आश्रय मे रहता है, सूर्य द्युलोक मे परिक्रमण करता है और चन्द्रमा नक्षत्रमण्डल में सञ्चार करता है। मालूम होता है यहां चन्द्रमा सूर्य से ऊपर समझा गया है।

लोकोसि स्वर्गोसि। अनन्तोस्यपारोसि। अक्षितोस्यक्षय्योसि। तपस. प्रतिष्ठा।[1] त्वयीदमन्त । विश्व यक्ष विश्व भूत विश्व ॅ् सुभूतम्। विश्वस्य भर्ता विश्वस्य जनयिता। तन्त्वोपदधे कामदुघमक्षितम्। प्रजापतिस्त्वासादयतु। तया देवतयागिरस्वध्रुवासीद। तपोसि लोके श्रितम्। तेजस प्रतिष्ठा। त्वयीद । तेजोसि तपसि श्रितम्। समुद्रस्य प्रतिष्ठा । समुद्रोसि तेजसि श्रित.। अपा प्रतिष्ठा। आप स्थ समुद्रे श्रिता:। पृथिव्या प्रतिष्ठा युष्मासु। । पृथिव्यस्यप्सु श्रिता। अग्ने प्रतिष्ठा। । अग्निरसि पृथिव्या ॅ् श्रित.। अन्तरिक्षस्य प्रतिष्ठा। . । अन्तरिक्षमस्यग्नौ श्रितम्। वायो प्रतिष्ठा। । वायुरस्यन्तरिक्षे श्रित.। दिव. प्रतिष्ठा। । द्यौरसि वायौ श्रिता। आदित्यस्य प्रतिष्ठा। .। आदित्योसि दिवि श्रित । चन्द्रमस प्रतिष्ठा। । चन्द्रमा अस्यादित्ये श्रित । नक्षत्राणा प्रतिष्ठा। .। नक्षत्राणि स्थ चन्द्रमसि श्रितानि। सवत्सरस्य प्रतिष्ठा युष्मासु। .।[2] संवत्सरोसि नक्षत्रेषु श्रित । ऋतूना प्रतिष्ठा। . । ऋतव स्थ सवत्सरे श्रिता.। मासाना प्रतिष्ठा युष्मासु। । मासा स्थर्तुषु श्रिता । अर्धमासाना प्रतिष्ठा युष्मासु। . .।

१ यहां से आरम्भ कर ६ वाक्य मूलोक्त तेज, समुद्र इत्यादि प्रत्येक शब्द के आगे उनके लिंग-वचनानुसार परिवर्तित होकर आये हैं। यहाँ उन्हें बार-बार नही लिखा गया।

२. 'संवत्सरोसि' इत्यादि आगे के वाक्य यहाँ आवश्यकता न रहते हुए भी लिखे हैं. इसका कारण यह है कि पूर्ण अनुवाक देने से पूर्वापर सन्दर्भ द्वारा उसमे बतलायी हुई सब बाते ठीक समझ मे आ जायँगी। दूसरी बात यह है कि ज्योतिष शास्त्र सम्बन्धी महत्त्व के मान संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष और अहोरात्र यहाँ एकत्र पठित ह तथा जैसा कि उनका उत्तरोत्तर अवयवावयवी सम्बन्ध है उसी क्रम से आये हैं और आगे भी इनका उपयोग है।

अर्धमासा स्थ मासु श्रिता । अहोरात्रयो· प्रतिष्ठा युष्मासु ।
. . . । अहोरात्रे स्थोर्धमासेषु श्रिते । भूतस्य प्रतिष्ठे
भव्यस्य प्रतिष्ठे । पौर्णमास्यष्टकामावास्या । अन्नादा
स्थान्नदुघो युष्मासु । राडसि बृहती श्रीरसीन्द्रपत्नी
धर्मपत्नी ओजोसि सहोसि बलमसि भ्राजोसि ।
देवाना धामामृतम् । अमर्त्यस्तपोजा । ।

तै० ब्रा० ३।११।१

यहा प्रथम तीन वाक्यो मे कहा है—तुम लोक हो, स्वर्ग हो, अनन्त हो, अपार हो, अक्षित हो, अक्षय्य हो। इसमे लोक शब्द सम्पूर्ण विश्व के उद्देश्य से कहा गया है। इन वाक्यो मे सर्वत्र ऊर्ध्वाधोभाव विवक्षित नही है। कही कार्यकारणभाव, कही व्याप्य-व्यापकभाव और कही अङ्गाङ्गीभाव है। "पृथ्वी के ऊपर अन्तरिक्ष और उसके ऊपर द्यौ है" यह पूर्वोक्त परम्परा तथा सूर्य द्युलोक के आश्रय मे है यह कल्पना भी यहा है।

पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ

उपर्युक्त विवेचन से विदित होता है कि विश्व के पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ (आकाश) ये तीन विभाग माने जाते थे। वेदो मे इस बात का भी स्पष्ट निर्देश है कि मेघ, विद्युत् और वायु जिस प्रदेश मे घूमते है वह पृथ्वी के पास है और सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्रो का परिक्रमण-प्रदेश पृथ्वी से बहुत दूर है। स्वर्ग, मृत्यु (पृथ्वी) और पातालात्मक विभाग वेदों मे नही मिलते।

"चन्द्रमा सूर्य से ऊपर है"—यह वास्तविक स्थिति और वेदोत्तरकालीन ज्योतिप-सिद्धांत-विरुद्ध धारणा ऊपर दो स्थानो मे दिखाई देती है, पर 'नक्षत्र सूर्य से ऊपर है' इस वास्तव स्थिति का भी वर्णन है। चन्द्रमा को सूर्य से ऊपर मानने का कारण हम समझते है, यह है कि जब सूर्य दिखाई देता है उस समय नक्षत्र नही दीखते, इसलिए स्वभावतः ऐसा ज्ञात होता है कि उसका नक्षत्रो से कोई सम्बन्ध नही है। पर चन्द्रमा की स्थिति ऐसी नही है, वह अत्यन्त शीघ्रगामी है और उसके पास के नक्षत्र दिखाई देते है इसलिए वह नक्षत्रो मे से होकर जाता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है। अत उसके विषय में यह धारणा होना स्वाभाविक है कि वह नक्षत्रो के प्रदेश मे तथा उनकी जितनी ही ऊंचाई पर है और चूकि नक्षत्र सूर्य से ऊपर है इसलिए वह भी सूर्य से ऊपर होगा—ऐसा लोगो ने समझ लिया होगा, तथापि निम्नलिखित मन्त्र मे 'चन्द्रमा सूर्य से नीचे हमारे पास है' इस वास्तविक स्थिति का भी वर्णन है।

सुपर्णा एत आसते मध्य अरोधने दिव' । ते सेधन्ति
पथो वृकं तरन्तं यह्वतीरपो वित्तं मे अस्य रोदसी ।।

ऋ० स० १।१०५।११

इसके भाष्य मे सायणाचार्य लिखते है—"यास्कपक्षे त्वाप इत्यन्तरिक्षनाम यह्वतीरपो महदन्तरिक्ष . तरन्त वृक चन्द्रमस .।" अत यास्क और सायणाचार्य के मतानुसार उपर्युक्त ऋचा का आशय यह है कि चन्द्रमा अन्तरिक्ष मे अर्थात् सूर्य से नीचे है। इसी सूक्त की पहली ऋचा मे चन्द्रमा को पक्षी अर्थात् अन्तरिक्ष मे सञ्चार करने वाला कहा गया है। उससे भी इस कथन की पुष्टि होती है।

विश्व का अपारत्व

निम्नलिखित ऋचा मे कहा है कि विश्व पृथ्वी से बहुत बडा है।

यदिन्विन्द्र पृथ्वी दशभुजिरहानि विश्वा ततनन्त कृष्टय ।
अत्राह ते मघवन् विश्रुत सहोद्यामनु शवसा बर्हणा भुवत् ।।
ऋ० स० १।५२।११

[हे इन्द्र] यदि पृथ्वी दशगुणित बडी होगी [और] मनुष्य सर्वदा शाश्वत [रहेगे] तभी हे मघवन्! [तुम्हारी] शक्ति [और] पराक्रम द्वारा प्रख्यात तुम्हारा प्रभाव द्युलोक जितना बडा होगा।

यहा 'दशगुणित' उपलक्षण है, उसका अर्थ 'अनेकगुणित' समझना चाहिये। इस ऋचा मे ऋषि के कहने का तात्पर्य यह है कि इन्द्र का प्रभाव बहुत बडा है और वह द्युलोक जितना बडा होने योग्य है परन्तु उसका वर्णन करनेवाले मनुष्य की आयु बहुत थोडी है और पृथ्वी भी छोटी है। यदि पृथ्वी बडी हो जायगी और उस पर रहनेवाले मनुष्य दीर्घजीवी होगे तो इन्द्र के प्रभाव का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा सकेगा और वह अनन्त विश्व मे फैलेगा। यहा हमे इतना ही देखना है कि यह विश्व पृथ्वी से अनन्त-गुणित बडा है, यह बात इस ऋचा मे स्पष्ट है। विश्व के आनन्त्य का वर्णन अन्य भी बहुत से स्थलो मे है। उदाहरणार्थ तैत्तिरीय ब्राह्मण का उपर्युक्त (३।११।१) अनुवाक देखिये।

सब भुवनों का आधार सूर्य

सब भुवन सूर्य के आधार पर है, इस विषय मे अग्रिम वाक्य देखिये।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनाम।
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्व यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थु ।।
ऋ० स० १।१६४।२

उस एक चक्रवाले रथ मे सात [घोडे] जोडे जाते हैं [परन्तु] सात नामो का एक ही घोडा [रथ] खीचता है। उस चक्र मे तीन नाभिया हैं। वह अक्षय और अप्रतिबन्ध है और उसी के आधार पर सब भुवन स्थित है।

यद्यपि यहा सूर्य शब्द नही है तो भी यह निश्चित है कि यह ऋचा सूर्य-विषयक है।

सनेमि चक्रमजर विवावृत उत्तानाया दशयुक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृत तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा ॥

ऋ० स० १।१६४।१४

जिसका सदा एक ही मार्ग है [और] जो अविनाशी है वह चक्र घूमता ही रहता है, सूर्य का चक्षु घूमता रहता है। उस पर सकल भुवन स्थित है।

मित्रो जनान् यातयति प्रजानन् मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।
मित्र कृष्टीरनिमिषाभिचष्टे . . . . . . ॥

तै० स० ३।४।११

मित्र [प्रत्येक की योग्यता जानकर] मनुष्यो को प्रेरित करता है। मित्र द्युलोक और पृथ्वी को धारण करता है। मित्र मनुष्य और देवताओ को देखता है।

यह ऋचा ऋग्वेद मे भी कुछ परिवर्तित होकर आयी है। इसी प्रकार और भी बहुत से प्रमाण दिखाये जा सकते है।

ऋतुओं का कारण सूर्य

ऋतुओ का कारण सूर्य है। इस विषय मे अग्रिम ऋचा देखिये।

पूर्वामनु प्रदिश पार्थिवानामृतून् प्रशासद्विदधावनुष्ठु।

ऋ० स० १।९५।३

[वह सूर्य] ऋतुओ का नियमन करके क्रमश. पृथ्वी की पूर्वादि दिशाओ का निर्माण करता है।

ऋतुओं का उत्पादक सूर्य है, इसके और भी बहुत से प्रमाण है पर ग्रन्थविस्तार होने के भय से वे यहा नही लिखे हैं। आगे कालमान में ऋतुओ का विचार हुआ है, वहा कुछ वाक्य दिये गये है।

वायु का कारण सूर्य

निम्नलिखित वाक्य मे वायु चलने का कारण भी सूर्य ही बतलाया गया है।

सवितार यजति यत्सवितार यजति तस्मादुत्तरत. पश्चादय
भूयिष्ठ पवमान पवते सवितृप्रसूतो ह्येष एतत्पवते ॥

ऐ० ब्रा० २।७

वह [होता] सविता के लिये याज्य कहता है। सविता का यजन करने से उत्तर पश्चिम की ओर से बहुत वायु चलता है क्योकि वह सविता से उत्पन्न होकर बहता है।

मेरा उद्देश्य यह प्रतिपादित करने का नही है कि पृथ्वी और अन्य ग्रह सूर्य के आकर्षण के कारण उस पर अवलम्बित है और उसके चारो ओर घूमते है ऐसा वेदो मे लिखा है, परन्तु यह कल्पना वेदो मे है कि प्रकाश, उष्णता तथा पर्जन्यादि के विषय में सब भुवन सूर्य के आश्रित है और ऋतुओ की उत्पत्ति भी उसी से होती है अर्थात् वह विश्व का आधारभूत है, इसमे कोई सन्देह नही है।

सूर्य के सात घोड़े

'सूर्य के रथ मे [1] सात घोडे है' यह वर्णन यद्यपि बहुत से स्थानो मे आता है पर वह अलकारिक है। वस्तुत उसके पास रथ, घोडा इत्यादि कुछ नही है, यह बात भी वेदो मे लिखी है।

अनश्वो जातो अनभीशुरर्वा कनिक्रदत् पतयदूर्ध्वसानु ।

ऋ० स० १।१५२।५

अश्व-रहित ही उत्पन्न हुआ [यह सूर्य उत्पन्न होते ही] .. बडी शीघ्रता से ऊपर उड जाता है।

सूर्य और उषा एक एक ही है

सूर्य एक ही है, दो, बारह या अनेक नही है। इस विषय मे ऋक्सहिता मे लिखा है—

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एक: सूर्यो विश्वमनु प्रभूत । एकैवोषा सर्वमिद विभाति . . ।

ऋ० स० ८।५८।२

१. 'ऋ० १।१०५।९ 'अमी ये सप्तरश्मय' के विषय मे वेदार्थयत्नकार शंकर पाण्डुरंग पण्डित ने (पु० २ पृ० ६८३ अप्रैल १८७८ के अक में) लिखा है—"ऋ० ८।७२।१६ में स्पष्ट कहा है कि (सूर्यस्य सप्त रश्मिभि) सूर्य की सात किरणे है। इससे ज्ञात होता है, प्राचीनकाल मे आर्य इस आधुनिक सिद्धान्त से कि 'सूर्य-किरणो के सात रंग है' अपरिचित नहीं थे ।"

एक ही सूर्य विश्व का प्रभु है। एक ही उषा विश्व को प्रकाशित करती है।

'उषा एक ही है' वाक्य ध्यान देने योग्य है। सूर्योदय के पूर्व होने वाले सन्धिप्रकाश को उषा कहते हैं। ऋग्वेद मे बहुत से स्थलो मे चमत्कारपूर्वक कहा है कि नित्य सूर्योदय के पूर्व प्रकाशित होनेवाली उषाए अनेक है परन्तु वस्तुत जैसे सूर्य एक है उसी प्रकार सूर्य से नित्य सम्बद्ध रहनेवाली उषा भी एक ही है।

पृथ्वी का गोलत्व, निराधारत्व और दिन-रात

स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति त यदस्तमेतीति
मन्यन्तेह्न एव तदन्तमित्वाथात्मान विपर्यस्यते रात्रिमेवा-
वस्तात् कुरुतेह परस्तादथ यदेन प्रातरुदेतीति मन्यते
रात्रेरेव तदन्तमित्वाथात्मान विपर्यस्यतेऽह्रेवावस्तात्
कुरुते रात्रि परस्तात् स वा एष न कदाचन निम्नोचति।

ऐ० ब्रा० १४।६

वह (सूर्य) न तो कभी अस्त होता है न उगता है। यह जो अस्त होता है वह (सचमुच) दिन के अन्त मे जाकर अपने को उलटा घुमता है। इधर रात करता है और उधर दिन। इसी प्रकार यह जो सबेरे उगता है वह (वस्तुत) रात्रि का अन्त करके अपने को उलटा घुमता है। इधर दिन करता है और उधर रात्रि। [वस्तुत] यह [सूर्य] कभी भी अस्त नही होता।[1]

उपर्युक्त ब्राह्मण वाक्यो से यह स्पष्ट हो जाता है कि "पृथ्वी गोल है, आकाश से अलग है और आकाश मे निराधार स्थित है"—इन बातो का ज्ञान यहा था। अथर्ववेद के गोपथब्राह्मण (६।१०) मे भी इस अर्थ के बहुत से ऐसे ही वाक्य है।

मालूम होता है ऋग्वेदसहिताकाल मे भी यह बात ज्ञात थी, कि पृथ्वी का आकार गोल है और वह निराधार है। निम्नलिखित ऋचाएँ देखिये—

चक्राणास परीणह पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमाना।
न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्र परिस्पशो अदधात् सूर्येण॥

ऋ० सं० १।३३।८

१. वक्ता अपने स्थान को लक्षित करक बोल रहा है। इधर का अर्थ है वक्ता सूर्य के जिस ओर है। अपने को उलटा घुमाता है अर्थात् सायंकाल तक सीधा जाकर अस्त के बाद नीचे उलटा घुम जाता है।

सुवर्णमय अलकारो से सुशोभित [वृत्र के] दूत पृथ्वी की परिधि के चारो ओर चक्कर लगाते हुए तथा आवेश से दौडते हुए भी इन्द्र को जीतने मे समर्थ नही हुए। [फिर उसने उन] दूतो को सूर्य (प्रकाश) से आच्छादित किया।[1]

पृथ्वी यदि समधरातल होती तो सूर्य के उगते ही उसकी किरणे सम्पूर्ण पृथ्वी पर—कम-से-कम उसके आधे भाग पर एक ही साथ पडती परन्तु वे इस प्रकार न पडकर क्रमश पडती है, ऐसे निर्देश अनेको स्थलो मे है। निम्नलिखित ऋचा देखिये—

आप्रा रजासि दिव्यानि पार्थिवा श्लोक देव कृणुते स्वाय धर्मणे।
प्रबाहू अस्राक् सविता सवीमनि निवेशयन् प्रसुवन्नक्तुभिर्जगत्॥

ऋ० स० ४।५३।३

देदीप्यमान [सविता ने] अन्तरिक्ष के, द्युलोक के [और] पृथ्वी पर के प्रदेश [तेज से] भर डाले है .अपनी काति से जगत् को सुलाते और जाग्रत करते हुए सविता ने उदित होकर अपनी बाहे फैला दी है।

"सूर्य सुलाते और जाग्रत करते हुए उगता है"—इसका अर्थ यह है कि वह जैसे-जैसे आकाश मे ऊपर चढता जाता है वैसे-वैसे जगत् के कुछ भागो मे रात्रि होने लगती है और कुछ भागो मे दिन। इससे पृथ्वी का गोलत्व व्यक्त होता है।[2]

१. वेदार्थयत्नकार श्री शंकर पाण्डुरंग पडित इस ऋचा की व्याख्या (वेदार्थयत्न, पु० १ पृ० ३८०) मे लिखते हैं—

इस ऋचा के 'परीणहं चक्राणास' शब्दों से स्पष्ट विदित होता है कि इस सूक्त की रचना के समय हमारे आर्य पूर्वजों को यह ज्ञान था कि पृथ्वी की आकृति सपाट नहीं बल्कि गोल है।

२. स्पष्ट है कि सब वेदों की संहिताएँ, ब्राह्मण और उपनिषद् एक ही समय मे नही बने है। उनके रचनाकाल की अवधि निश्चित करना बड़ा कठिन है। भाग करना हो तो संहिताकाल, ब्राह्मणकाल और उपनिषत्काल, ये तीन भाग करने पड़ेंगे और इनके अन्तर्विभाग तो अनेकों होंगे। वैदिककालीन ज्योतिष-ज्ञान सम्बन्धी थोड़े से अनुमानों के लिए उनके अनेक विभाग न करके मैंने यही दिखलाया है कि वे वाक्य किस ग्रन्थ के है। इसके द्वारा विभाग करने का कार्य मुझे वाचकों को ही सौंप देने में सुभीता दिखाई दे रहा है और इसीलिए सब वाक्यों का समावेश वैदिककाल में किया गया है। यह तो स्पष्ट ही है कि उपनिषदों से ब्राह्मण और ब्राह्मणों से संहिताएँ प्राचीन है और उनमें भी ऋक्संहिता सबसे प्राचीन है।

मेरु पर्वत, जम्बू प्रभृति सप्त द्वीप इत्यादि जो पृथ्वी के कुछ विभाग माने जाते है, उनका वर्णन हमे वेदो मे कही नही मिला।

जगदुत्पत्ति, सृष्टिसस्था इत्यादि सम्बन्धी वैदिक उल्लेखो का विवेचन यहा तक हुआ। अब यह देखना है कि वर्ष मासादि कालमान, सूर्य-चन्द्रमा की गतिस्थिति और नक्षत्र, ग्रहण, ग्रह इत्यादिको के विषय मे उनमे क्या लिखा है।

कल्प

वेदोत्तरकालीन ज्योतिषग्रन्थो का कल्प नामक कालमान तो वेदो मे नही ही है, पर अन्य किसी भी कालमान के अर्थ मे हमे उनमे कल्प शब्द नही मिला।

युग

किसी कालमान के अर्थ मे युग शब्द वेदो मे अनेको बार आया है। केवल युग शब्द या कृतादि चार युगो मे से कोई एक जिन मन्त्रो मे आया है उन्हे पहले यहा उद्धृत करते है, क्योकि ऐसा करने से उनके विषय मे विचार करने मे सुविधा होगी।

देवाना पूर्व्ये युगे सत सदजायत।

ऋ० स० १०।७२।२

इसका अर्थ पहले लिख चुके है।

तदूचुषे मानुषेमा युगानि कीर्तेन्य मघवा नाम बिभ्रत्।
उपप्रयन्दस्युहत्याय वज्री यद्धसूनु श्रवसे नाम दधे।।

ऋ० स० १।१०३।४

अति प्रबल इन्द्र ने हाथ मे वज्र लेकर दस्यु को मारने के लिए जाते समय जो नाम धारण किया उसी प्रख्यात नाम को इस मानवयुग[1] मे स्तोता के लिए मघवा धारण करता है।

१. वेदमन्त्रों का अर्थ सर्वत्र मूल का अनुसरण करते हुए लिखा गया है। ऊपर से एक भी बात ऐसी नहीं लायी गयी है जो कि मूल में नहीं है।

सायणाचार्य का कथन है कि यहा युग शब्द से कृतत्रेतादि युगो का ग्रहण करना चाहिये।

विश्वे ये मानुषा युगा पान्ति मर्त्य रिष.।

ऋ० स० ५।५२।४

ईर्मान्यद्वपुषे वपुश्चक्र रथस्य ये मथु। पर्यन्या नाहुषा युगा मह्ना—
रजासि दीयथ ॥ ऋ० स० ५।७३।३

अर्थ—[हे अश्विनो] मानवयुग मे तुम अपने रथ के दूसरे चक्र से . भुवन के चारो ओर घूमते हो।

दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान दशमे युगे। अपामर्थ यतीना ब्रह्मा
भवति सारथि ॥ ऋ० स० १।१५८।६

ममता का पुत्र दीर्घतमा दशम युग मे वृद्ध होता हुआ परिणाम के प्रति जानेवाले कर्म का ऋत्विक् रूप सारथी हुआ है।

इसके भाष्य मे सायणाचार्य ने लिखा है—अश्वियो के प्रभाव से दीर्घतमा दस युग पर्यन्त सुखी रहते हुए कालक्रमण करने के बाद वृद्ध हुआ। युग शब्द से क्या ग्रहण करना है, इसे उन्होने स्पष्ट नही किया है परन्तु लेख के पूर्वापर सन्दर्भानुसार यहा उनका अभिप्राय कृतादि दस युग ग्रहण करने का ज्ञात होता है।

युगे युगे विदध्य गृणद्भ्योग्नेरयि यशस धेहि नव्यसीम्।

ऋ० स० ६।८।५

हे अग्ने! प्रत्येक युग मे यज्ञार्थ तुम्हारे उद्देश्य से नयी स्तुति करनेवाले हमको द्रव्य और यश दो।

या ओषधी· पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुग पुरा।

ऋ० स० १०।९७।१

अर्थ—जो औषधिया पहिले तीन युगो मे देवों से उत्पन्न हुई।

इसके भाष्य मे सायणाचार्य ने त्रियुग शब्द का अर्थ "कृत, त्रेता, द्वापर तीन युगो मे अथवा वसन्त, वर्षा, शरद् तीन ऋतुओ में" किया है। तैत्तिरीय सहिता में यह

मन्त्र "या जाता ओषधयो देवेभ्यस्त्रियुगम्पुरा"—इस प्रकार है। वाजसनेयिसहिता (१२।७५) मे भी "या ओषधी पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगम्पुरा"—इस प्रकार है। भाष्यकार महीधर ने यहा त्रियुग शब्द से वसन्त, वर्षा और शरद् ऋतुओ का ग्रहण किया है। वाजसनेयिसहिता मे युगनिर्देश इस प्रकार है—

श्रुत्कर्ण ८० सप्रथस्तम त्वागिरा दैव्य मानुषा युगा।

वा० स० १२।१११

यह निश्चित है कि इन वाक्यो मे युग शब्द किसी काल का वाचक है परन्तु वह कितने वर्षों का है, यह किसी भी वाक्य से स्पष्ट नही होता। वेदाङ्गज्योतिष मे पाच वर्षों का एक युग माना गया है। उपर्युक्त वाक्य मे युग का यही अर्थ है, यह निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता परन्तु यह भी नही कह सकते कि यह अर्थ नही है, क्योकि वेदाङ्गज्योतिष-षोक्त युग के अङ्गभूत पाच सवत्सरो के नाम वेदो मे आये हैं, यह आगे दिखायेगे। स्पष्ट है कि 'दीर्घतमा दसवे युग मे वृद्ध हुआ'—इस अर्थ के उपर्युक्त मन्त्र मे दीर्घतमा का न्यूनत्व सिद्ध करने का नही बल्कि उसका कुछ न कुछ वैशिष्ट्य दिखाने का अभिप्राय है और यदि युग पाच वर्ष का मानते है तो पचासवे वर्ष मे वृद्धत्व आता है जो कि दीर्घतमा के न्यूनत्व का द्योतक है। अत मनुष्य की आयु सहस्रो वर्ष न मानकर बिलकुल मर्यादित १०० वर्ष माने तो भी युग कम से कम १० वर्षों का मानना पडता है। "प्रत्येक युग मे हम तुम्हारी नवीन स्तुति करते हैं" इस अर्थ के द्योतक उपर्युक्त ऋग्वेद के मन्त्र से भी युग मनुष्य की आयु के भीतर आनेवाला एक कालपरिमाण अर्थात् १०० वर्षो से न्यून ज्ञात होता है, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि वह एक दीर्घकाल का बोधक नही था। वह किसी दीर्घकाल का बोधक है, यह कल्पना वक्ता के मन मे आये बिना "पहिले देवयुग मे अमुक हुआ, वर्तमान मानवी युग" ये उद्‌गार निकलने असम्भव है, अतः मानना पडता है कि युग शब्द का कोई नियमित अर्थ नही था और इससे ज्ञात होता है कि कोई

युग शब्द का ज्योतिषोक्त सामान्य अर्थ

बात किसी क्रम से एक होकर उसी काल क्रमानुसार पुनः जितने समय मे होती है वह युग है, यह युग शब्द का ज्योतिषोक्त अर्थ वेदकाल मे भी रहा होगा। सूर्य-चन्द्रमा के ग्रहण जिस क्रम से और जितने समय के अन्तर से होते है, लगभग १८ वर्षों के बाद वे उसी क्रम से और उतने ही काल के अन्तर से पृथ्वी पर कही न कही पुन

दृश्य होते हैं अत यह एक प्रकार का १८ वर्षो का ग्रहण युग कहा जा सकता है। इसी अर्थ के तत्वो का अनुसरण करते हुए युग शब्द प्रवृत्त हुआ है, यह बात वेदाङ्गज्योतिष के युग शब्द और अन्य उदाहरणो से स्पष्ट हो जाती है। कलियुगादि प्रत्येक युग या महायुग के आरम्भ मे सब ग्रह एक स्थान मे रहते है और युग मे वे अनेको प्रदक्षिणाए करके दूसरे युग के आरभ मे पुन. एक स्थान मे आ जाते है। इस काल को युग कहते है। यद्यपि ज्योतिष ग्रन्थो मे युग शब्द का प्रयोग ४३२००० अथवा इसके कुछ गुणित वर्षो के अर्थ मे ही पाया जाता है तथापि उपर्युक्त अर्थ के अनुकूल भी मिलता है। उदाहरणार्थ प्रथम आर्यभट के ग्रन्थ की सूर्यदेवयज्वकृत भटप्रकाशिका टीका मे लिखा है—

खाकाशाष्टकृतद्विद्विव्योमेष्वद्रोषुवह्नय ३५७५०२२४८०० । युग बुधादिपाताना. . ।।
रव्युच्चस्य रसैकाकगिर्यष्टिनवशकरा सहस्रघ्ना ११९१६७९१६००० युग प्रोक्त. . ।

इन वाक्यो मे पात और उच्चो के युग परिमाण दिये है और उनकी वर्ष सख्याए भिन्न-भिन्न है। इनमे युग शब्द बार-बार आवृत्ति करनेवाले किसी पदार्थ की एक आवृति के काल परिमाण अर्थ मे आया है। इससे ज्ञात होता है कि उपर्युक्त वेदवाक्यो मे युग शब्द इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ होगा और युग के परिमाण भिन्न भिन्न होगे परन्तु यह नही कहा जा सकता कि यह काल कितना है और किस बात की आवत्ति का ध्यान रखकर निश्चित किया गया है तथापि उस समय महायुग यदि ४३२०००० वर्षो का न माना जाता रहा हो तो भी वेदकाल मे युग को किसी दीर्घकाल का मान अवश्य समझते थे। इतना ही नही, वेदत्रयी-संहिताकाल मे चार युगो की भी कल्पना थी, यह बात "या जाता ओषधयो देवेभ्यस्त्रियुगम्पुरा" वाक्य से स्पष्ट हो जाती है।

कृतादि शब्द

अब यहाँ उन वाक्यो को उद्धृत करेगे जिनमे कृतत्रेतादि शब्द है।

प्राची दिशा वसन्त ऋतूनामग्निर्देवता ब्रह्म द्रविण त्रिवृत्सोम:
स उ पञ्चदश वर्तनिस्त्यविर्वय: कृतमयाना. . .त्रेतायाना. .
द्वापरोयाना . .आस्कन्दोयाना. . .अभिभूरयाना पितर:

[1] आर्यभटीय की परमादीश्वरकृत भटदीपिका टीका, गीतिकापाद की सातवी आर्या देखिए।

पितामहा· परेवरेते नः पान्तु तेनोवन्त्वस्मिन् ब्रह्मन्नस्मिन्क्षत्रम्यामाशिष्यम्या
पुरोधायामस्मिन् कर्मन्नस्या देवहूत्याम् ।

तै० म० ४।३।३

इस अनुवाक के अन्त मे यह प्रार्थना है कि पितर इत्यादि हमारा रक्षण करे। इसी प्रकार 'कृतत्रेताद्वापर रक्षण करे' यह भी है।

वाजसनेयिसहिता मे पुरुषमेध का वर्णन है। उसमे कृतादिको को अर्पण करने के लिए पुरुष इस प्रकार बताये हैं—

कृतयादिनवदर्शं त्रेतायै कल्पिन द्वापरायाधिकल्पिनमा स्कन्दाय सभास्थाणुम।
वा० स० ३०।१८

अर्थ—कृत को आदि नवदर्श त्रेता को कल्पी और आस्कन्द को सभास्थाणु

आदिनव नामक दोष को देखने वाले को आदिनवदर्श और कल्पक को कल्पी कहते हैं, ऐसा अर्थ भाष्यकार महीधर ने किया है। इससे किञ्चिद् भिन्न एक वाक्य तैत्तिरीय ब्राह्मण मे —

कृताय सभाविन। त्रेताया आदिनवदर्शम्। द्वापराय बहि.सदम्। कलये सभास्थाणुम्। तै० ब्रा० ३।४।१

कृत के लिए सभावी का (आलम्भन किया जाय)। त्रेता (देवता) को आदिनवदर्श, द्वापर को बहि सद और कल को सभास्थाणु देना चाहिये।

यहा यह बताया है कि भिन्न-भिन्न देवताओ को अमुकामुक मेध्यपुरुष देने चाहिये। माधवीय भाष्य में सभावी का अर्थ द्यूतसभा में बैठनेवाला, आदिनवदर्श का द्यूतद्रष्टा, बहि.सद का स्वयं न खेलते हुए बाहर बैठ कर खेल देखने वाला और सभास्थाणु का खेल बन्द हो जाने पर भी सभास्थान को न छोडनेवाला किया है।

ऐतरेय ब्राह्मण मे हरिश्चन्द्र की कथा है। हरिश्चन्द्र पुत्रविहीन था। उसने वरुण से प्रार्थना की कि यदि आप मुझे पुत्र दे तो मै आपको उसकी बलि चढ़ाऊँगा। उसके बाद पुत्र हुआ। उसका नाम रोहित था। कुछ वर्षो बाद जब उसे बलि देने लगे, वह भाग कर अरण्य मे चला गया। एक वर्ष अरण्य मे भ्रमण करने के बाद गॉव मे आया। उस समय इन्द्र ने मनष्य रूप धारण कर आकर कहा कि तू लौट जा। चार वर्ष के बाद रोहित फिर लौट आया। उस समय इन्द्र वहा आया और उससे कहने लगा—

कलिः शयानो भवति सज्जिहानस्तु द्वापरः। उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृत सम्पद्यते चरँश्चरैवेति चरैवेति ॥ ऐ० ब्रा० ३३।१५

सोनेवाला कलि, बैठनेवाला द्वापर और उठनेवाला त्रेता होता है। घूमने-वाला (होने पर) कृत सम्पन्न होता है (अत.) घूमता ही रह, घूमता ही रह।

ये वै चत्वार ' स्तोमा.। कृत तत्। अथ ये पञ्च कलि स । तस्माच्चष्तुष्टोमः।
तै० ब्रा० १।५।११

चार स्तोम कृत और पाच कलि है अत (ज्योतिष्टोम यज्ञ) चतुष्टोम (होना चाहिए) यहा ज्योतिष्टोम सम्बन्धी स्तोमो की सख्या बतायी है। कोई पाच बतलाता है और कोई चार। पाच का होना कलि अर्थात् अशुभ और चार होना कृत अर्थात् शुभ है इसलिए चार ही रखने का निश्चय किया है।

यद्यपि यह सिद्ध नही किया जा सकता कि उपर्युक्त वालो मे कृतादि शब्द किसी कालपरिमाण के ही अर्थ मे आये है पर उनमे यह कल्पना स्तष्ट है कि वे चार देवता है और कृत की अपेक्षा त्रेतादिको की योग्यता उत्तरोत्तर कम है तथा कलियुग अत्यन्त अशुभ है। युग कालपरिमाण-दर्शक है और चार है, यह बात यदि वेदो में है तो वेदो-त्तरकाल मे अत्यन्त प्रबल हो गयी हुई युग कल्पना का मूल भी उन्ही वेदवाक्यो मे होगा जिनमे कृतादि नाम है—इसमे कोई सन्देह नही है। गोपथ ब्राह्मण (१।२८) मे द्वापर शब्द एक काल परिमाण अर्थ मे आया है।

पञ्चसंवत्सरात्मक युग

वेदाङ्गज्योतिष मे पाच वर्ष का युग माना गया है। उसके नाम है सवत्सर, परि-वत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर। ये नाम यद्यपि वेदाङ्ग ज्योतिष में नही हैं पर वेदो से ज्ञात होता है कि उन पाचो के नाम ये ही है। गर्गादिको ने भी इस युग संवत्सरों के ये ही नाम लिखे हैं। अब देखना है कि इस विषय में वेदो में क्या लिखा है।

संवत्सरस्य तदह' परिषष्ठयन्मण्डूकाः प्रावृषीण बभूव।
ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्मकृण्वन्तः परिवत्सरीणम्॥
ऋ० सं० ७।१०३।७

यह नही कहा जा सकता कि संवत्सर, परिवत्सर इत्यादिको का जो क्रम है उसी के अनुसार कहने के उद्देश्य से यहा सवत्सर और परिवत्सर शब्द रखे गये है पर वे है उसी क्रम से। केवल वर्ष के विषय में जो कुछ कहना होता है उस स्थिति मे ऋग्वेद मे प्रायः शरद्, हेमन्त सरीखा कोई ऋतुवाचक शब्द आता है। इससे ज्ञात होता है कि ये दोनो

नाम कदाचित् पञ्चवर्षात्मक युग के अङ्गभूत दो पदार्थों के होंगे। परिवत्सर शब्द ऋग्वेद में और एक स्थान पर (१०।६२।२) आया है पर शेष तीन नाम उसमे नही है।

सवत्सरोसि परिवत्सरोसीदावत्सरोसीद्वत्सरोमि वत्सरोसि

वा० स० २६।४५

सवत्सराय पर्यायिणी परिवत्सरायाविजातामिदावत्सरायातीत्वरीमि—
द्वत्सरायातिष्कद्वरी वत्सराय विजर्जरा, सवत्सराय पलिक्नीम्॥

वा० म० ३०।१६

यह मन्त्र पुरुषमेध का है। इसमे सवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर और वत्सर को पर्यायिणी प्रभृति स्त्रिया देने के लिए कहा है। वाजसनेयिसहिता के इन दोनो मन्त्रो मे नामो का क्रम एक ही है। द्वितीय मन्त्र मे सवत्सरादि पाच नामो के बाद सवत्सर शब्द एक बार फिर आया है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण मे लिखा है—

अग्निर्वा सवत्सर। आदित्य परिवत्सर। चन्द्रमा इदावत्सर। वायुरनुवत्सर।

तै० ब्रा० १।४।१०

अग्नि ही सवत्सर है। आदित्य परिवत्सर है। चन्द्रमा इदावत्सर और वायु अनुवत्सर है। यहा चार ही नाम है। इनमे से प्रथम तीन वाजसनेयिसहिता के ही क्रमानुसार हैं। चौथा अनुवत्सर उनसे भिन्न है।

सवत्सराय पर्यायिणी। परिवत्सरायाविजाता। इदावत्सरायापस्कद्वरी। इद्वत्सरायातीत्वरी। वत्सराया विजर्जरा। सवत्सराय पलिक्नीम्॥

तै० ब्रा० ३।४।१

यह वाक्य उपर्युक्त वाजसनेयिसहितान्तर्गत वाक्य सदृश ही है। दोनो में सवत्सरो के नामो का क्रम एक ही है। मेध्य पशुओ मे थोडा अन्तर है। यहा भी पांच नामों के बाद अन्त मे सवत्सर शब्द पुन आया है।

सवत्सरोसि परिवत्सरोसि। इदावत्सरोसीदुवत्सरोसि। इद्वत्सरोसि वत्सरोसि।

तै० ब्रा० ३।१०।४

वाजसनेयिसंहिता का ऐसा ही एक वाक्य ऊपर लिखा है परन्तु उसकी अपेक्षा यहां चतुर्थ स्थान मे 'इदुवत्सर' एक अधिक नाम है और सब मिलकर छ है। यहा माधवा-

चार्य ने इदुवत्सर का अर्थ अनुवत्सर किया है। तैत्तिरीय और वाजसनेयि सहिताओ मे सवत्सर. परिवत्सर इत्यादि नाम अन्य भी बहुत से स्थानो मे आये हैं।

इस प्रकार कही पाच, कही छ और कही चार ही नाम आये है और वे भी भिन्न-भिन्न प्रकार से। अत. निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता कि ये वेदाङ्गज्योतिष के पञ्चसवत्सरात्मक युग के ही प्रचारदर्शक हैं तथापि वेदोत्तरकालीन बहुत से ग्रथो मे पञ्चसवत्सरात्मक युग तथा उसके अवयवी भूत सवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर, इन पाच सवत्सरो का निर्देश अनेको स्थानो मे है, अत. उसका पूर्वपरम्परागत कोई न कोई आधार अवश्य होना चाहिए। साराश यह कि वैदिककाल मे प्रचलित युगपद्धति सर्वथा वेदाङ्गज्योतिषोक्त पचसवत्सरात्मक युगपद्धति सरीखी न रही हो तो भी उसका कुछ अशो मे इससे साम्य अवश्य रहा होगा।

वर्ष

अब वर्ष और तदङ्गभूत मास का विवेचन करेंगे। ३५४ दिन या ३६५ दिन अथवा अन्य किसी काल का वाचक वर्ष शब्द ऋग्यजु सहिता, ऐतरेय, तैत्तिरीय, ताण्ड्य और गोपथ ब्राह्मणो मे नही है। शतपथब्राह्मण (२।२।३) मे है। ऋग्वेद मे शरद् प्रभृति ऋतुवाचक शब्द वर्ष अर्थ मे अनेको बार आये है। कुछ स्थलो मे सवत्सर और परिवत्सर शब्द भी हैं। दोनो यजुवेदो मे वर्ष अर्थ मे शरद् और हेमन्त इत्यादि शब्द तो अनेको बार आये ही हैं परन्तु सवत्सर शब्द उनकी अपेक्षा अधिक बार आया है। गोपथ ब्राह्मण (६।१७) मे वर्ष अर्थ मे हायन और वाजसनेयिसहिता के निम्नलिखित मन्त्रो मे समा शब्द आया है।

षदे ँ श्रीर्मयिकल्प्यतामस्मिन्लोके शत ँ समा। वा० स० १९।४६
कुर्वन्नेवेहकर्माणि जिजीविषे शत ँ समाः। वा० स० ४०।२
ऋक्सहिता (१०।८५।५) के "समाना मास आकृति" वाक्य मे भी सवत्सर अर्थ में समा शब्द आया है।

वेदकाल में मास चान्द्र थे[1] और ऐसा ही होना स्वाभाविक भी है। यहा इसका

१. संवत्सर का विचार करना है, इसलिए यहां इसका स्पष्टीकरण नहीं किया है। सावन, चान्द्र और सौर मासों का विवेचन आगे किया है।

प्रमाण देने की आव यकता नही है। आगे मास का विचार किया है, वहा कुछ प्रमाण दिये है। पूर्णिमा को पूर्णमासी कहते है। अर्थात् वहा मास की समाप्ति समझी जाती है और चन्द्रवाचक मास शब्द से मास का ग्रहण किया जाता है, यह पहले ही बता चुके है। इन दोनो हेतुओ से यह सिद्ध होता है कि वेदकाल मे मास चान्द्र थे। चान्द्र, मास गिनने के लिए जैसे चन्द्रमा स्वाभाविक साधन है उस प्रकार सौर मास गिनने का कोई सहज साधन नही है। उसका मान केवल गणित द्वारा ही जाना जा सकता है, अत सृष्ट्युत्पत्ति के पचात् प्रथम-प्रथम सब लोगो के मास चान्द्र ही रहे। सौरमास बाद मे प्रचलित हुए होगे। आपाततः ऐसा ज्ञात होता है कि यदि मास चान्द्र थे तो वर्ष भी चान्द्र ही रहा होगा पर इसका विचार करना होगा कि वर्ष चान्द्र था या सौर और यदि सौर था तो नाक्षत्र (Sidereal) सौर था या साम्पातिक (Tropical) सौर। अत यहा पहिले उन वाक्यो को उद्धृत करते है जिनमे वर्ष के मास या दिन का निर्देश है।

मास-चान्द्र

वर्ष-सौर

वेदमासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावत। वेदा य उपजायते।

ऋ० स० १।२५।८

धृतव्रत [वरुण] बारह महीनो [और] उनमे उत्पन्न होनेवाले प्राणियों को जानता है [और उन बारह महीनो के] पास उत्पन्न होने वाले [अधिमास] को जानता है। यद्यपि यहा प्रत्यक्ष अधिमास शब्द नही है पर वह विवक्षित है, यह बात सन्दर्भ से स्पष्ट हो जाती है और इस ऋचा की परम्परागत व्याख्या भी यही है। यूरोपियन विद्वानो को भी यही अर्थ मान्य है। इस ऋचा में यह भी बतलाया है कि वर्ष मे मास सामान्यतः १२ होते है।

द्वादशार न हि तज्जराय वर्वर्ति चक्र परिद्यामृतस्य। आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थु.।।

ऋ० सं० १।१६४।११

सत्यभूत [आदित्य] का बारह अरो वाला चक्र द्युलोक के चारों ओर सतत भ्रमण करते हुए भी नष्ट नही होता है। हे अग्ने इस [चक्र] पर पुत्रों के ७२० जोडे आरूढ़ हुए रहते है।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेक त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तस्मिन्त्साकं त्रिशता न न शंकवोऽर्पिताःषष्टिर्न चलाचलासः।। ऋ० सं० १।१६४।४८

बारह परिधि, एक चक्र और तीन नाभि—इन्हे कौन जानता है? उस चक्र में शकु की तरह ३६० चञ्चल अरे लगाये हुए है।

इन दोनो ऋचाओ के चमत्कारिक वर्णन का तात्पर्य यह है कि सवत्सर रूप एक चक्र है, बारह मास ही उसके बारह अरे है और ३६० दिवस ३६० काटे है। रात्रि-दिन ही एक मिथुन है और ऐसे मिथुन ३६० है अर्थात् दिन रात मिलाकर सब ७२० है।

मधुश्च माधवश्च शुक्रश्च शुचिश्च नभश्च नभस्यश्चेषश्चोर्जश्च सहश्च सहस्यश्च तपश्च तपस्यश्चोपयामगृहीतोसि ँ॒ स सर्पोस्य ँ॒ हस्पत्याय त्वा ।।

तै० सं० १।४।१४

[हे सोम तुम] उपयाम (स्थाली) [द्वारा गृहीत हुए हो। मधु हो, माधव हो .। यहा मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभस्, नभस्य, इष,ऊर्ज, सहस् सहस्य, तपस् तपस्या—ये मासो के १२ नाम आये है और संसर्प नाम अधिमास के लिए आया है। इसके भाष्य मे माधवाचार्य ने अहस्पति का अर्थ क्षयमास किया है।

मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृत् शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृत् नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृत् इषश्चोर्जश्च शरदावृतूसहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू। तै०स० ४।४।११

मधु और माधव वसन्त ऋतु के , शुक्र और शुचि ग्रीष्म के, नभस् और नभस्य वर्षा के, इष और ऊर्ज शरद् के, सहस् और सहस्य हेमन्त के एव तपस् और तपस्या शिशिर के मास है।

षड्रात्रीर्दीक्षित. स्यात् षड् वा ऋतव. सवत्सर· . . . .
द्वादशरात्रीर्दीक्षित. स्यात् द्वादश मासा. सवत्सर . . . .
त्रयोदशरात्रीर्दीक्षित स्यात् त्रयोदशमासाः संवत्सर . . . .
पञ्चदशरात्रीर्दीक्षित. स्यात्पञ्चदश वा अर्धमासस्य रात्रयोर्धमासश सवत्सर आप्यते . चतुर्वि ँ॒ शति ँ॒ रात्रिर्दीक्षितः स्याच्चतुर्वि ँ॒ शतिरर्ध-मासा सवत्सर· . . . . .त्रि ँ॒ शत ँ॒ रात्रीर्दीक्षित· स्यात् त्रि ँ॒ शदक्षरा विराट् . माम दीक्षित स्याद्यो मास स सवत्सर ।।

तै० सं० ५।६।७

१. मालूम होता है यहां ऋतु शब्द का प्रयोग मास अर्थ में किया गया है।

छ रात्रि दीक्षित रहना चाहिए [क्योकि] छ ऋतुओ का सवत्सर [होता है]; बारह रात्रि दीक्षित रहना चाहिए , संवत्सर मे १२ मास होते है। १३ रात्रि दीक्षित रहना चाहिए, १३ मासो का सवत्सर होता है। १५ रात्रि दीक्षित रहना चाहिए, अर्धमास मे १५ राते होती है। अर्धमासो से सवत्सर होता है। २५ रात्रि दीक्षित रहे, संवत्सर मे २४ अर्धमास होते है। ३० रात्रि दीक्षित रहे, ३० अक्षरो का विराट् होता है। मासभर दीक्षित रहना चाहिए, मास ही सवत्सर है।[1]

तस्य त्रीणि च शतानि षष्टिश्च स्तोत्रीयास्तावती सवत्सरस्य रात्रय ।
तै० स० ७।५।१

उसमे ३६० स्तोत्रीय रहते है [क्योकि] सवत्सर मे उतनी ही राते होती है।

उपयामगृहीतोसि। मधवे त्वोपयामगृहीतोसि माधवाय त्वोपयामगृहीतोसि शुक्राय त्वोपयामगृहीतोसि शुचये .नभसे नभस्याय इषे ऊर्जे सहसे सहस्याय तपसे .तपस्याय ..अ ँ हसस्पतये त्वा।
वा० स० ७।३०

[हे ऋतुग्रह तुम] उपयाम [स्थाली] से मधु के लिए गृहीत हुए हो . . ।

यह वाक्य प्राय: उपर्युक्त तैत्तिरीयसहितोक्त वाक्यो सरीखा ही है। इसमे मधु माधवादि १२ नाम वे ही है परन्तु अहसस्पति एक अधिक है।

उपर्युक्त तैत्तिरीय सहिता के "मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृत" इत्यादि सदृश ही वाक्य वाजसनेयिसहिता में भी है (१३।२५, १४।६, १५, १६, २७ और १५।५७ देखिये)।

स ँ सर्पाय स्वाहा चन्द्राय स्वाहा ज्योतिषे स्वाहा मलिम्लुचाय स्वाहा दिवापतये स्वाहा ।।
वा० स० २२।३०

मधवे स्वाहा माधवाय स्वाहा शुक्राय स्वाहा शुचये स्वाहा नभसे स्वाहा नभस्याय स्वाहे षाय स्वाहोर्जाय स्वाहा सहसे स्वाहा सहस्याय स्वाहा तपसे स्वाहा तपस्याय स्वाहा ँ हसंपतये स्वाहा ।।
वा० स० २२।३१

१. यहां ३० दिन और मास में भेद मालूम होता है क्योकि दीक्षित रहने की रातों की संख्या के हेतुओं के अनुसार ३० रात्रि दीक्षित रहने का कारण यह यह बतलाना चाहिए था कि मास में ३० रातें होती है परन्तु ऐसा नहीं कहा है। इससे यह निःसंशय सिद्ध होता है कि वेदकाल मे भी यह बात ज्ञात थी कि चान्द्र मास में ३० से कुछ कम सावन-दिन होते हैं।

यहा ससर्प और मलिम्लुच नाम आये है जिनका प्रयोग सम्प्रति अधिमास अर्थ मे किया जाता है। इसके बाद मधु माधवादि १२ नाम है और तनन्तर तेरहवा नाम अहस्पति है। इससे ज्ञात होता है कि ससर्प, मलिम्लुच और अहस्पति मे कुछ भेद है।

न त्रयोदशान्मासादक्रीणँस्तस्मात् त्रयोदशोमासो नानुविद्यते।

ऐ० ब्रा० ३।१

उन्होने उस (सोम) को तेरहवे मास से मोल लिया अत: १३वा मास निन्द्य है।

त्रीणिच वैशतानि षष्टिश्च सवत्सरस्याहानि ... सप्त च वै शतानि विंशतिश्च सवत्सरस्याहोरात्रय:।। 'ऐ० ब्रा० ७।१७

सवत्सर मे ३६० दिन और दिनरात [मिलकर] सब ७२० होते है।

द्वादशरत्नी रशना कर्त्तव्या ३ त्रयोदशरत्नी ३ रिति। ऋषभो वा एष ऋतूना। यत्सवत्सर:। तस्य त्रयोदशो मासो विष्टप। ऋषभ एष यज्ञाना। यदश्वमेध.। यथा वा ऋषभस्य विष्टप। एवमतस्य विष्टपम्।।

तै० ब्रा० ३।८।३

[अश्वमेध मे] रशना १२ अरत्नी की करनी चाहिए या १३ की? सवत्सर ऋतुओ का ऋषभ (श्रेष्ठ) है। १३वाँ मास उसका विष्टप है। अश्वमेध यज्ञो मे श्रेष्ठ है। जैसे ऋषभ (वृषभ) का विष्टप है उसी प्रकार उसका भी है।

उपर्युक्त वाक्यो से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदकाल मे वर्ष सौर था। जैसे दिन का मान जानने का स्वाभाविक साधन दो सूर्योदयो के बीच का काल और मास जानने का साधन चन्द्रमा के दो बार पूर्ण होने के मध्य का काल है उसी प्रकार वर्ष जानने का सहज साधन ऋतुओ की एक परिक्रमा है। ऋतुए न होती तो वर्ष एक कालमान न बना होता। ऋतुए सूर्य द्वारा होती है, अत. वर्ष सौर ही रहा होगा। वस्तुत १२ चान्द्र मास और लगभग ११ दिनों में ऋतुओं की एक प्रदक्षिणा होती है पर सर्वप्रथम इतना सूक्ष्म ज्ञान होना कठिन है। प्रथम-प्रथम लोग बहुत दिनो तक १२ चान्द्रमासो मे ही ऋतुओ की एक प्रदक्षिणा अर्थात् वर्ष मानते रहे होगे पर इस पद्धति मे जो प्रथम मास माना गया रहा होगा वह कुछ दिनों तक ग्रीष्म मे, उसके बाद शिशिर मे और तत्पश्चात् वर्षा मे अर्थात् उत्तरोत्तर पीछे आता रहा होगा और सम्प्रति प्रचलित मुसलमानो के मुहर्रम की तरह लगभग ३३ वर्षों मे उसका सब ऋतुओ में भ्रमण होता रहा होगा। इस प्रकार ३३ वर्षों के कई पर्याय समाप्त होने पर अधिकमास प्रक्षेपण की कल्पना ध्यान में आयी होगी और वह थी। इससे सिद्ध होता है कि उस समय वर्ष सौर था। यद्यपि

सम्प्रति इसमे कोई विशेषता नही मालूम होती परन्तु इतने प्राचीन काल मे हमारे यहा अधिकमास की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ, यह बडे महत्व का विषय है। प्राचीन रोमन राष्ट्र मे, जो कि किसी समय अत्यन्त प्रबल राष्ट्र समझा जाता था, बहुत दिनो तक वर्ष मे १० ही मास माने जाते थे। हमारे जिन वेदो मे अधिक मास का उल्लेख है उनके कुछ भाग ई० पू० १५०० के कुछ पूर्व ही बने है, इसे यूरोपियन विद्वान् भी मानते हैं। उपर्युक्त वाक्य मे अधिक मास का उल्लेख इस ढग से नही किया गया है जिससे यह प्रतीत हो कि उसे लोग कोई विलक्षण पदार्थ समझते थे। इससे सिद्ध होता है कि उस वेदभाग की रचना के अनेको वर्ष पूर्व ही उसका ज्ञान हो चुका था और उसे लोग बिलकुल साधारण विषय समझने लगे थे।

उस समय अधिकमास कितने मासो के बाद मानते थे, यह जानने का कोई साधन नही है। आजकल मध्यम मान से लगभग ३२-३३ महीनो के बाद मानते है, यद्यपि स्पष्ट मान से कुछ न्यून या अधिक मासो मे ही पड जाता है। वेदाङ्गज्योतिष मे ३० मास के बाद एक अधिमास बताया है अत वेदकाल मे भी इसके विषय मे कोई न कोई नियम अवश्य रहा होगा, पर इस समय वह ज्ञात नही है।

उपर्युक्त वाक्यो मे मलिम्लुच, ससर्प, और अहस्पति नाम आये है। आजकल मलिम्लुच अधिमास को कहते हैं।

रविणा लघितो मासश्चान्द्र ख्यातो मलिम्लुच। व्यास
मासद्वये यदाप्येकराशि संक्रमेतादित्यस्तत्राद्यो मलिम्लुच शुद्धोन्य।

मैत्रेयसूत्र

नारदसहिता के निम्नलिखित श्लोक मे अधिमास को ससर्प और क्षयमास को अंहस्पति कहा है।

असंक्रान्तिद्विसंक्रान्ती संसर्पांहस्पती समौ।

मुहूर्तचिन्तामणिकार का कथन है कि जब किसी मास का क्षय होता है उस समय अधिमास दो होते हैं। उनमे से पूर्व के अधिमास को ससर्प और क्षयमास के बाद आनेवाले को अहस्पति कहते हैं (प्रकरण १ श्लोक ४७ की टीका देखिये)। पता नही चलता, वेदकाल में इनका क्या अर्थ करते थे।

यह तो निश्चित है कि वर्ष सौर था परन्तु वह नाक्षत्रिक सौर था कि साम्पातिक सौर, इसका विचार आगे करेंगे।

सावन चान्द्र और सौर मान

अब यह देखना है कि सौर की तरह अन्य मानो के भी वर्ष थे या नही। सावन, चान्द्र, सौर, नाक्षत्र और वार्हस्पत्य, इन पॉच ज्योतिषशास्त्रोक्त मानो मे से नाक्षत्र और बार्हस्पत्य मानो का स्पष्ट या अस्पष्ट वर्णन वेदो मे मुझे कही नही मिला। शेष तीन का विचार करेगे।

एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक के काल को सावन दिन कहते है। सावन सज्ञा यज्ञो के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई है। सोमयाग मे एक अहोरात्र मे सोम के तीन सावन होते है। कालमाधव मे माधवाचार्य ने लिखा है—सावनशब्दोऽहोरात्रोपलक्षक सोमयागे सवनत्रयस्याहोरात्रसम्पाद्यत्वात्, अत सवन के सम्बन्ध से सावन हुआ। इसी प्रकार चन्द्रमा और सूर्य सम्बन्धी कालो को क्रमशः चान्द्र और सौर कहा है।

अहोरात्र मे होनेवाले एक सोमयाग को (और सम्भवत. उस दिन को भी) वेद मे अह कहते है। ६ अहो के समूह को षडह और पाच षडहसमूह को मास कहते है। सवत्सर सत्र इत्यादिको मे ऐसे कई षडह और मास करने पडते है। ये सब मिलकर ३६० दिवस होते है (इसके अतिरिक्त बीच मे एक विषुवान् दिवस होता है। माधवाचार्य ने लिखा है—

अहोरात्रसाध्य एक' सोमयागो वेदेष्वह. शब्देनाभिधीयते तादृशानामर्ह्विशेषाणा गण षडह ......षडहेन पञ्चकेन एको मास सम्पद्यते तादृशैद्वदशिभिर्मासै: साध्यं सवत्सरसत्रम्।

इससे और अन्यान्य अनेक प्रमाणो से ज्ञात होता है कि यज्ञकृत्यो मे वर्ष सावन लिया जाता था। हम समझते है गणना मे सौर और चान्द्र वर्षों की अपेक्षा सुगम होने के कारण व्यवहार मे भी उसका प्रचार अवश्य रहा होगा। मास चान्द्र थे, यह पहिने सिद्ध कर चुके है, अत. चान्द्र वर्ष भी अवश्य रहा होगा। परन्तु उसमे अधिकमास डालकर सौर वर्ष से उसका मेल रखते रहे होगे।

मालूम होता है, चान्द्र वर्ष मे दिन ३६० से कुछ कम होते है, यह बात ज्ञात हो चुकी थी। ऊपर पृष्ठ की टिप्पणी मे बता चुके है कि चान्द्र मास में ठीक ३० दिन नही होते है, यह जानते थे। उत्सर्गिणामयन नामक एक सत्र है। वह गवामयन की विकृति है। तैत्तिरीयसहिता ७।५।६ मे उसके विषय मे लिखा है—षडहैर्मासात्सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति। इस अनुवाक मे सत्र होते समय बीच मे तदङ्गभूत कुछ अह छोडने कहा है। एक चान्द्र मास में लगभग २९५ अर्थात् दो मासो में ५९ दिन होते है अत यदि चान्द्र मास के

आरम्भ मे षडह का आरम्भ किया जाय तो यज्ञ सम्बन्धी दो मास (६० दिन) समाप्त होने के एक दिन पहिले चान्द्र मास समाप्त हो जायगा, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होने पर याज्ञिक लोगो को ज्ञात हुआ होगा कि षडह मे एकाध दिवस[1] छोडने होगे और इसी कारण उत्सर्गिणामयन की प्रवृत्ति हुई होगी। ताण्ड्यब्राह्मण ५।१०।२ मे इस उत्सर्ग का कारण बतलाया है—यदि [दिवस] छोडा नही गया तो सवत्सर चमडे के भाथे की तरह फूल जायगा।

यथा वै दृतिराध्मात एव सवत्सरोनुत्सृष्ट

उपर्युक्त वाक्य जिस अनुवाक मे है उसी के आगेवाले अनुवाक मे कहा है—उत्सृज्या ३ नोत्सृज्या ३ मिति मीमा ँसन्ते ब्रह्मवादिन । इससे अनुमान होता है कि याज्ञिक लोगो मे बहुत दिनो तक इस विषय मे मीमासा होती रही होगी कि एक दिन छोडा या न छोडा जाय। यद्यपि उपर्युक्त वाक्यो से यह स्पष्ट नही होता कि एक वर्ष मे कितने दिन छोडते थे पर उनमे यह कल्पना स्पष्ट है कि १२ चान्द्र मासो में अर्थात् एक चान्द्र वर्ष मे दिन ३६० से कम होते है। साराश यह कि उस समय सावन, चान्द्र और सौर वर्षों का प्रचार था।

अयन

अयन दो है। उत्तरायण और दक्षिणायन। इन शब्दो से किस काल और सूर्य स्थिति का ग्रहण करना चाहिए, इस विषय मे दो मत ज्ञात होते है। ज्योतिषसिद्धान्त ग्रन्थो मे ये दो मत नही है। उनमें सायन मकरारम्भ से सायन कर्कारम्भ पर्यन्त उत्तरायण और सायन कर्कारम्भ से मकरारम्भ पर्यन्त दक्षिणायन होता है—यह अर्थ निश्चित हो चुका है। सूर्य विषुवृत्त के चाहे जिस ओर हो, उत्तरायण मे प्रतिदिन क्रमश उत्तर और दक्षिणायन मे दक्षिण ओर खिसकता रहता है। कुछ ग्रन्थकारो ने उत्तर गोलार्द्ध मे शिशिर के आरम्भ से ग्रीष्म के अन्त पर्यन्त और कुछ ने हेमन्त के मध्य से ग्रीष्म के मध्य पर्यन्त उदगयन माना है। ज्योतिषगणितग्रन्थोक्त अयन का यह अर्थ व्यवहार मे भी बहुधा सर्वमान्य है पर मालूम होता है उसका एक और अर्थ प्रचलित था। शतपथ ब्राह्मण २।१।३ मे लिखा है—

१. इस उत्सर्ग के विषय मे कालमाधव में माधवाचार्य ने लिखा है—

द्वादशमासेष्वनुष्ठेयायां प्रकृतौ चैकस्मिन् मासे त्रिंशस्त्वहत्सु सोमयागविशेषाणा त्रिंशतामनुष्ठेयत्वात् न किञ्चिदहरुत्स्रष्टुं शक्यते तद्वद्विकृतावपि प्राप्ते प्रतिमास-मेकस्मिन्नहनि सोमयागपरित्यागो विधीयते। तत्र कतमदहस्त्यज्यतामिति वीक्षाया-मिदं (अमावस्याया मासान् सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति. . .) उच्यते ।।

> वसन्तो ग्रीष्मो वर्षा । ते देवा ऋतव शरद्धेमन्त शिशिरस्ते पितरो. .. स (सूर्य) यत्रोदगावर्तते। देवेषु तर्हि भवति .. यत्र दक्षिणावर्तते पितृषु तर्हि भवति ।

यद्यपि इन वाक्यो मे उदगयन और दक्षिणायन शब्द नही है पर कहा है—जहा सूर्य उत्तर ओर आवर्तित होता है (मुडता है या रहता है) वहा देवताओ मे रहता है और वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा ये देवताओ की ऋतुए है । इससे ज्ञात होता है कि उस समय सूर्य जब तक विषुवत्त के उत्तर रहता था तब तक उत्तरायण और जब तक दक्षिण रहता था तब तक दक्षिणायन मानते थे । कुछ ज्योतिष-सहिताग्रन्थो मे उत्तरायण को देवताओ का दिन कहा है। जब कि सूर्य विषुवत्त से उत्तर रहता है, वह मेरु पर रहने-वाले देवताओ को छ मास तक सतत दिखाई देता रहता है, अत इस कथन से भी सूर्य का विषुवत्त से उत्तर रहने का काल ही उत्तरायण सिद्ध होता है। भावगत मे भी यही परिभाषा है।

> तस्मादित्य षण्मासो दक्षिणेनैति षडुत्तरेण
>
> तै० स० ६।५।३

यहा अस्पष्ट रूप मे बताया है कि सूर्य ६ मास दक्षिण और ६ मास उत्तर चलता है। मरने के बाद जीव के गन्तव्य स्थान के विषय मे आगे निरुक्त प्रकरण मे निरुक्त का एक वचन उद्धृत किया है, उसमे सूर्य की उत्तर-दक्षिण गति का वर्णन है। वैसा वर्णन प्राय उपनिषदो मे मिलता है परन्तु वह स्पष्ट नही है। अयन शब्द का प्रयोग किस काल के लिए किया गया है, इस बात का स्पष्ट उल्लेख मुझे वेदो मे उपर्युक्त शतपथ-ब्राह्मणवाक्य के अतिरिक्त और कही नही मिला।

> य......उदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमान गत्वा-दित्यस्य सायुज्य गच्छत्यथयो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमान गत्वा चन्द्रमसः सायुज्य सलोकतामाप्नोति ।
>
> नारायण उ नि० अनु० ८०

इसमे और मैत्रायण्युपनिषद् मे उद्गयन और उत्तरायण शब्द है। अन्यत्र बहुधा उदगयन के लिए देवयान और देवलोक तथा दक्षिणायन के लिए पितृयाण और पितृलोक शब्द का प्रयोग किया गया है। शतपथब्राह्मणोक्त अयन शब्द का उपर्युक्त अर्थ ही सब वेदवाक्यो मे है या दूसरा भी कही है, दोनो मे कौन सा प्राचीन है, दूसरा कब प्रचलित

हुआ इसका निश्चय नही होता। योतिषग्रन्थो का उपर्युक्त अर्थ ही सब ज्योतिष-गणितग्रन्थो मे है, इसमे सन्देह नही है और वही बहुधा सर्वत्र प्रचलित भी है।

ऋतु

ऋतुओ का थोड़ा सा विवेचन ऊपर कर चुके है। ऋग्वेद सहिता मे शरद् हेमन्त इत्यादि ऋतुओ के नाम अनेको स्थानो मे आये है परन्तु केवल ऋतु शब्द जैसे बह्मच-ब्राह्मण और दोनो यजुर्वेदो मे अनेको बार आया है उस प्रकार ऋक्सहिता मे नही है। उसमे ऋतुओ का विशेष माहात्म्य नही दीखता। ऋक्संहिता के पाचवे अष्टक के तृतीयाध्याय के २८ और २९ वे वर्गो के "शन्न इन्द्राग्नी भवता" इत्यादि ५०, ६० वाक्यो मे कहा है कि अमुकामुक देवता कल्याणकारक हो परन्तु उनमे से एक भी वाक्य मे यह नही कहा है कि सवत्सर, ऋतु, मास और नक्षत्र हमारा कल्याण करे। यजुर्वेद मे यदि एक साथ इतने देवताओ की प्रार्थना की गयी होती तो ऋतुओ का नाम आये बिना न रहता।

ऋतु-संख्या

ऋक्सहिता को छोड अन्य वदग्रन्थो मे ६ ऋतुओ और उनक नामो का उल्लेख अनेको स्थानो मे है (तैत्तिरीयसहिता ४।३।२, ५।६।२३, ७।५।१४ इत्यादि देखिये। कुछ वचन ऊपर लिखे भी है)। बहुत से स्थलो मे पाच ऋतुओ का भी विधान मिलता है। उदाहरणार्थ—

पञ्च शारदीयेन यजेत। .....पञ्च वा ऋतवः सवत्सरः।

तै० ब्रा० २।७।१०

पञ्चशारदीय ये यजन करना चाहिए.. .. [क्योकि] सवत्सर मे पांच ऋतुएं [होती है]। जिस समय पाच ऋतुएं मानी जाती थी उस समय मालूम होता है हेमन्त और शिशिर दोनो को मिला कर एक ही ऋतु मानते थे। अग्रिम वाक्य देखिये—

द्वादशमासाः पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन

ऐ० ब्रा० १।१

तैत्तिरीयसहिता, तैत्तिरीयब्राह्मणो मे भी जहां ऋतुए पांच हैं वहा हेमन्त और शिशिर मिल कर एक ही ऋतु मानी गयी है। कई प्रमाण देकर माधवाचार्य ने भी लिखा है कि इस स्थिति में हेमन्त मे शिशिर का अन्तर्भाव करना चाहिए (कालमाधव

का ऋतुनिर्णय देखिये)। कही कही (शतपथब्राह्मण ३।४।४।१७) तीन ऋतुओ का भी वर्णन मिलता है।

प्रथम ऋतु

वेदों में जहा छ ऋतुओ का एकत्र निर्देश है वहा आरम्भ वसन्त से है। इसके अतिरिक्त "ऋतुओं मे वसन्त मुख्य है", इसके स्वतन्त्र विधान भी हैं। निम्नलिखित वाक्य में वसन्त को ऋतुओ का मुख कहा है।

मुख वा एतदृतूनां। यद्वसन्त तै० ब्रा० १।१।२।६,७

तस्य ते (सवत्सस्य) वसन्त शिर॰। ग्रीष्मो दक्षिण पक्ष॰।
वर्षा पुच्छ। शरदुत्तर पक्ष॰। हेमन्तो मध्यम्।
तै० ब्रा० ३।१०।४।१

इन्ही सरीखे वाक्य और भी दो स्थानों मे आये है। यहां हेमन्त को सवत्सर का मध्य और वर्षा को पुच्छ कहा है। सवत्सर को एक पक्षी मानने से इसकी इस प्रकार ठीक सगति लगती है।

(मुख-वसन्त)
(उत्तरपक्ष-शरद्) |हेमन्त| (दक्षिण-ग्रीष्म)
(पुच्छ-वर्षा)

ऋत्वारम्भ

उमयतो मुखमृतुपात्रं भवति को हि तद्वेद यदृतूनां मुखम्।
तै० स० ६।५।३

ऋतुपात्र मे दोनो ओर मुख होते हैं। कौन जानता है कि ऋतु का मुख कौन-सा है। इस उद्गार का अभिप्राय यह ज्ञात होता है कि किसी विवक्षित ऋतु का आरम्भ कहा से होता है, इसका पता नही चलता और यह ठीक भी है क्योकि ऋतुए सूर्य की स्थिति पर अवलम्बित है पर सौरमास की तिथि सदा अनिश्चित रहती है। यदि किसी वर्ष मे सौर मास का आरम्भ चान्द्र मास के साथ हुआ तो अग्रिम वर्ष में वह शुक्ल द्वादशी के लगभग और उसके आगे वाले वर्ष मे कृष्णाष्टमी के आसपास होगा। अतः ऋत्वारम्भ की तिथि निश्चित नही की जा सकती। इतना ही नही, सौर मासो मासो से भी उनका सम्बन्ध थोडा अनियमित ही है। सम्प्रति वर्षा निरयण मृगशीर्ष-

नक्षत्र के आरम्भ से चार- छ दिन पूर्व या पश्चात् आरम्भ होती है। स्थलभेद मे भी ऋत्वारम्भ मे दस-पाच दिन का अन्तर पडता है, अत प्राचीन काल मे इसकी अनियमित स्थिति के सम्बन्ध मे उपर्युक्त उद्गार निकलना अस्वाभाविक नही है।

चन्द्रमा और सूर्य की गति के सूक्ष्म ज्ञान और कालमापन के साधनो के अभाव मे पक्षसन्धि और ऋतुसन्धि का सूक्ष्म ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है। निम्नलिखित आख्यायिका से ज्ञात होता है कि मनुष्य की आद्यस्थिति मे पूर्णिमान्त और अमान्त तथा ऋत्वारम्भ का जानना कितना कठिन था।

> प्रजापतेर्ह वै प्रजा ससृजानस्य पर्वाणि विसस्र ँसु स वै सवत्सर एव प्रजापतिस्तस्यैतानि पर्वाण्यहोरात्रयो सन्धी पौर्णमासी चामावास्या चतुर्मुखानि ।।३५।। स विस्रस्तै पर्वभि । न शशाक स ँहातूँ तमेतैर्हविर्यज्ञैर्देवा अभिषज्यन्नग्निहोत्रेणै वाहोरात्रयो सन्धी तत्पर्वाभिषज्यँस्तत्समदधु पौर्णमासेन चैवामास्येन च पौर्णमासी चामावास्या चतत्पर्वाभियज्यस्तत्समदधु-श्चातुर्मास्यैरेवर्तुमुखानि तत्पर्वाभिषज्यँस्तत्समदधु ।।३६।।
>
> शतपथब्राह्मण १।६।३

तात्पर्यार्थ—प्रजा उत्पन्न करने के बाद प्रजापति के पर्व शिथिल हो गये। सवत्सर ही प्रजापति है। अहोरात्र की दो सन्धियाँ, पौर्णमासी, अमावस्या और ऋत्वारम्भ ही उसके पर्व हैं। देवताओ ने उनकी चिकित्सा की। अग्निहोत्र द्वारा अहोरात्र की सन्धियां, पौर्णमासेष्टि और दर्शेष्टि यज्ञों द्वारा पौर्णमासी और अमावस्या पर्व तथा चातुर्मास्य यज्ञ द्वारा ऋतुसन्धिया व्यवस्थित की। इस कथा मे यज्ञ और काल-ज्ञान का भी थोडा सम्बन्ध दिखाई देता है।

मास

ऊपर सवत्सरविचार मे मासो का बहुत विचार हो चुका है उपर्युक्त मधुमाधव इत्यादि सज्ञाओ के अतिरिक्त तैत्तिरीयब्राह्मण के निम्नलिखित वाक्यो में उनके और भी नाम आये है। इन्ही में अर्द्धमास और ऋतुओ के भी अन्य नाम हैं।

> अथ यदाह। पवित्रन् पवयिष्यन्त्सहस्वान्त्सहीयानरुणो-रुणरजा इति। एष एव तत्। ए ह्येव तेर्धमासा.। एष मासा:। अथ यदाह। अग्निष्टोम उक्थ्योग्निर्ऋतु:

प्रजापति सवत्सर इति। एष एव तत्। एषह्येव ते यज्ञ-
ऋतव ।एष ऋतव । एष सवत्सर ।

तै० ब्रा० ३।१०।९

सवत्सर के २४ अर्धमासो के नाम ये है—

पवित्रन् पवयिष्यन् पूतो मेध्य । यशो यशस्वानायुरमृत ।
जीवो जीविष्यन्त्स्वर्गो लोक.। सहस्वान् सहीयानोजस्वान्
सहमान । जयन्नभिजयन्त्सुद्रविणो द्रविणोदा । आर्द्रपवित्रो
हरिकेशो मोद प्रमोदः ।।

तै० ब्रा० ३।१०।१

अरुणोरुणरजा पुण्डरीको विश्वजिदभिजित्। आर्द्र
पिन्वमानोन्नवान् रसवानिरावान्। सर्वोषध सम्भरो
महस्वान् ।।

तै० ब्रा० ३।१० १

ये १३ नाम मासो के है। मालूम होता है, इसमे एक नाम अधिमास का है।

अग्निर्ऋतु. सूर्यऋतुश्चन्द्रमा ऋतु.। प्रजापति. सवत्सरो महान्क.।

तै० ब्रा० ३।१०।१

ये छ नाम ऋतुओ के है। यह भी सम्भव है कि तीन ही ऋतुए मानकर उनके अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा नाम रखे गये हो। अन्त मे सवत्सर को प्रजापति कहा है।

मध्वादि और चैत्रादि नाम

स्पष्ट है कि मध्वादि और अरुणादि सज्ञाओ का सम्बन्ध नक्षत्रो से नही, ऋतुओ से है। ऋग्वेदसहिता मे ये नाम नही है। ऐतरेयब्राह्मण, तैत्तिरीयसहिताब्राह्मण और वाजसनेयिसहिता–ब्राह्मणो में मध्वादि नामो का विशेष माहात्म्य है पर उनमें चित्रा नक्षत्र युक्त पूर्णिमा को चैत्री और चैत्री जिस मास में हो वह चैत्र है—इस व्युत्पत्ति के नक्षत्रप्रयुक्त चैत्रादि नाम नही है। चन्द्रमा नियमित नक्षत्रो मे पूर्ण होता है, उसका ज्ञान होने के कुछ दिनों बाद पूर्णिमाओ के चैत्री, वैशाखी नाम पडे होगे और इसके कुछ समय बाद "सा.स्मन् पौर्णमासीति (पाणिनि ४।२।२१)" सूत्र की प्रवृत्ति हो कर चैत्रादि नाम सिद्ध हुए होगे। सब वेदो मे नक्षत्रो के नाम अनेक स्थानो में है (इसका विवेचन आगे किया है) परन्तु नक्षत्रो मे चन्द्रमा के पूर्ण होने का वर्णन मुझे केवल दो

स्थानो मे मिला है। उनमे से एक तैत्तिरीयसहिता के निम्नलिखित अनुवाक मे है। इसमे कालमान सम्बन्धी कुछ और बाते भी है, इसलिए यहा सम्पूर्ण अनुवाक लिख दिया है। इसमे गवामयन (सवत्सरसत्र) की दीक्षा के समय का भी विचार किया है।

> सवत्सराय दीक्षिष्यमाणा एकाष्टकाया दीक्षेरन्नेषा वै सवत्सस्य पत्नी यदेकाष्टकैतस्या वा एष एता रात्रि वसति साक्षादेव सवत्सरमारभ्य दीक्षन्त आर्त वा एते सवत्सरस्याभिदीक्षन्ते य एकाष्टकाया दीक्षन्तेन्तनामानावृतू भवतो व्यस्त व एते संवत्सरस्याभिदीक्षन्ते य एकाष्टकाया दीक्षन्तेऽन्तनामानावृतू भवन फल्गुनीपूर्णमासे दीक्षेरन् मुख वा एतत् ॥१॥ सवत्सरस्य यत्फल्गुनीपूर्णमासो मुखत एव सवत्सरमारभ्य दीक्षन्ते तस्यैकैव निर्या यत्सामेध्ये विषूवात्सम्पद्यते चित्रापूर्णमासे दीक्षेरन्मुख वा एतत्सवत्सरस्य यच्चित्रापूर्णमासो मुखत एव सवत्सरमारभ्य दीक्षन्ते तस्य न काचन निर्या भवति चतुरहे पुरस्तात् पौर्णमास्यै दीक्षेरन् तेषामेकाष्टकाया क्रय सम्पद्यते तेनैकाष्टका न छबट् कुर्वन्ति तेषाम् ॥२॥ पूर्वपक्षे सुत्या सम्पद्यते पूर्वपक्ष मासा अभिसम्पद्यन्ते ते पूर्वपक्षे उत्तिष्ठन्ति तानुत्तिष्ठत ओषधयो वनस्पतयोनुत्तिष्ठन्ति तान् कल्याणी कीर्तिरनूत्तिष्ठत्यरात्सुरिमे यजमाना इति तदनु सर्वे राध्नुवन्ति ॥

तै० स० ७।४।८

अर्थ

स वत्सर (सत्र) के लिए दीक्षा लेनेवाले को एकाष्टका मे (उस दिन) दीक्षा लेनी चाहिए। एकाष्टका संवत्सर की पत्नी है। वह उस रात्रि मे उसके पास रहता है (अत: एकाष्टका के दिन दीक्षा लेनेवाले) साक्षात् सवत्सर के आरम्भ में ही दीक्षित होते है। एकाष्टका मे दीक्षा लेने वाले, सवत्सर की पीड़ा के प्रति दीक्षित होते है। [उनकी] अन्तिम नामो की दो ऋतुए होती है। जो एकाष्टका को दीक्षा लेते है वे सवत्सर के व्यस्त के प्रति दीक्षित होते है (उनका सवत्सर व्यस्त होता है)। (उनकी) दो ऋतुए अन्तिम नामो की होती है। फल्गुनी पूर्णमासी को दीक्षा लेनी चाहिए।

यद्यपि यहा पौर्णिमा शब्द नही है पर मालूम होता है पूर्वफल्गुनीयुक्त पूर्णिमा ही उद्दिष्टार्थ है अर्थात् यह कल्पना है कि फल्गुनी मे चन्द्रमा पूर्ण होता है पर ऐसा होते हुई भी यहा फाल्गुन शब्द नही आया है। इतना ही नही, फल्गुनी पूर्णमास शब्द भी नही है जो कि उपर्युक्त सहितावाक्य मे आ चुका है।

उपर्युक्त वाक्यो से ज्ञात होता है कि तैत्तिरीयसहिताब्राह्मणकाल मे यह बात ध्यान मे आ चुकी थी कि चन्द्रमा नक्षत्रो मे पूर्ण होता है पर उस समय तक चैत्रादि नाम नही पडे थे, यह निश्चित है। शतपथ-गोपथब्राह्मणो के निम्नलिखित वाक्यो मे फाल्गुनी पूर्णमासी शब्द है।

एषाह सवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्या फाल्गुनीपूर्णमासी।

शतपथब्राह्मण ६।२।२।१८

फाल्गुन्या पौर्णमास्या चातुर्मास्यानि प्रयुञ्जीत।
मुख वा एतत्सवत्सरस्य यत्फाल्गुनीपौर्णमासी॥

गोपथब्राह्मण ६।१९

सुनते है कि साख्यायनब्राह्मण मे भी "या वैषा फाल्गुनी पौर्णमासी सवत्सरस्य प्रथमा रात्रि." वाक्य है पर मैने वह ब्राह्मण नही देखा है। इन सब वाक्यो मे फाल्गुनी का अर्थ 'फाल्गुनीनक्षत्रयुक्त' ही है। शतपथब्राह्मण २।६।३ मे फाल्गुनी पूर्णमासी शब्द है। सायणाचार्य ने उनकी व्याख्या 'फल्गुनीभ्या युक्ता पौर्णमासी फाल्गुनी' यही की है। सामविधानब्राह्मण २।४ मे कहा है—या रौहिणी वा पौषी वा पूर्णमासी। यहाँ रौहिणी का अर्थ रौहिणमास सम्बन्धी नही बल्कि रोहिणीयुक्त है। इसी प्रकार पौषी, फाल्गुनी इत्यादिको का भी अर्थ तन्नक्षत्रयुक्त ही है। साराश यह कि ब्राह्मण-काल मे फाल्गुनी इत्यादि नाम प्रचलित थे पर फाल्गुन, चैत्र इत्यादि मास-नाम नही। संहिताब्राह्मणो मे वे कही भी नही मिलते। शास्त्रीय-सिद्धान्त स्थापित होने मे कितना समय लगता है, इसका सूक्ष्म विचार करने से यह बात सहज ही ध्यान मे आ जायगी कि फाल्गुनी इत्यादि नामो का प्रचार होने के बहुत दिनों बाद फाल्गुनादि नाम प्रचलित हुए होंगे। अत. ऐतिहासिक रीति से यह सिद्ध होता है कि मध्वादि नामो के बहुत दिनो बाद चैत्रादि सज्ञाएँ प्रचलित हुई। अब यह सिद्ध करेंगे कि स्वाभाविक क्रम भी ऐसा ही है।

मनुष्य प्रथम चन्द्रमा द्वारा मास गिनने लगा होगा और सूर्य-चन्द्रमा आकाश में जिस मार्ग मे घूमते हुए दिखलायी पडे होगे उस मार्ग के नक्षत्रविशेषों के अर्थात् २७ नक्षत्रों के नाम शीघ्र पडे होंगे परन्तु चन्द्रमा की गति नियमित नक्षत्रो मे होती है और

वह उनमे से कुछ मे पूर्ण होता है, इसका सूक्ष्म ज्ञान होने मे और उसके द्वारा 'चैत्री-पूर्णिमा' इत्यादि सज्ञाओं के प्रवृत्त होने मे और उनके बाद चैत्रादि सज्ञा स्थापित होने मे मध्वादिको की प्रवृत्ति और २७ नक्षत्रो के नाम पडने के पश्चात् बहुत समय लगा होगा क्योकि क्रान्तिवृत्त से नक्षत्रो का दूरत्व प्राय सदा एक सा रहता है। उदाहरणार्थ रोहिणी-योगतारा क्रान्तिवृत्त से लगभग ५$\frac{१}{२}$ अश दक्षिण है और वह सहस्रो वर्षो तक वही रहेगा परन्तु चन्द्रमा का भ्रमणमार्ग क्रान्तिवृत्त नही है। वह कभी-कभी क्रान्तिवृत्त से पाँच, साढे पाँच अश उत्तर और कभी-कभी उतना ही दक्षिण चला जाता है। उसकी कक्षा क्रान्तिवृत्त को दो स्थानो में काटती है। उन दोनो छेदनबिन्दुओ को चन्द्रपात या राहु-केतु कहते है। यदि चन्द्रपात अचल होता तो किसी नक्षत्रविशेष से चन्द्रमा का सम्बन्ध सदा एक सा रहता पर पात मे भी गति है। लगभग १८$\frac{१}{२}$ वर्षो मे उसका एक भगण होता है अत १८$\frac{१}{२}$ वर्षो मे कभी-कभी चन्द्रमा रोहिणी को आच्छादित कर देता है और कभी-कभी दोनो मे ११ अश का अन्तर पड जाता है। इस कारण नक्षत्रो मे चन्द्रमा के पूर्ण होने का नियम जानने मे बडी अडचन पडी होगी। साथ ही साथ एक और छोटी सी अडचन है। सन १८८४ के सितम्बर से १८८८ क मार्च तक किसी एक ही स्थान मे नही पर कही न कही रोहिणी चन्द्रमा की प्रत्येक प्रद-क्षिणा मे उससे आच्छादित दिखाई पडी थी। इस प्रान्त मे यह मनोहर दृश्य देखने का अवसर तीन ही चार बार आया। कई बार यह चमत्कार उस समय हुआ जब कि चन्द्रमा क्षितिज के नीचे था या हमारे यहाँ दिन था। कई बार वह रोहिणी के बिलकुल पास दिखायी पडा था। पात की प्रत्येक प्रदक्षिणा मे प्रत्येक नक्षत्र के साथ चन्द्रमा की यह स्थिति नही होती अर्थात् वह प्रत्येक नक्षत्र से पाँच अश उत्तर और दक्षिण नही जाता कुछ के बिलकुल पास आ जाता है, किसी किसी से दूर रहता है, कुछ के केवल उत्तर और किसी किसी से केवल दक्षिण जाता है। नियमित नक्षत्रो मे उसके पूर्ण होने का नियम बनाने मे कुछ अन्य अडचने भी है। चन्द्रमा किसी मास मे किसी नक्षत्र पर पूर्ण होने के बाद अग्रिम मास मे उससे दूसरे या तीसरे नक्षत्र मे पूर्ण होता है। इस प्रकार १२ चान्द्रमास समाप्त होने पर, प्रथम पर्याय के प्रथम चान्द्र मास मे जिस नक्षत्र पर पूर्ण हुआ था उसी पर यदि द्वितीय पर्याय के प्रथम मास मे भी पूर्ण होता तो उसके विषय में नियम बनाने मे सुविधा होती, पर प्रथम पर्याय के प्रथम मास मे यदि अश्विनी मे पूर्ण हुआ तो द्वितीय पर्याय अर्थात् द्वितीय चान्द्र वर्ष के प्रथम मास मे रेवती में पूर्ण होता है। चैत्रादि १२ नामों के कारणीभूत चित्रा प्रभृति द्वादश ही नक्षत्रो मे उसके पूर्ण होने का

१. यहाँ थोडे मे इसका सूक्ष्म विचार करना कठिन है। सायन पञ्चाङ्गो में तारा-चन्द्रयुति नामक एक कोष्ठक दिया रहता है। उसमें पांच-सात वर्षों की युति का विचार करने से यह बात समझ मे आ जायगी।

नियम नही है, कभी न कभी सब मे पूर्ण होता है। दूसरी बहुत बडी अडचन यह है कि २७ मे से मघा, जयेष्ठा, चित्रा और रोहिणी चार ही नक्षत्र ऐसे है जिनके पास पूर्णचन्द्र के आने पर तारे दिखाई देते है। कुछ नक्षत्र चन्द्रमा से सात आठ अश और कुछ उससे भी अधिक दूर रहने पर ही अदृश्य हो जाते है। साराश यह कि नक्षत्रो का नामकरण होने के बहुत दिनो बाद इस बात का निश्चित ज्ञान हुआ होगा कि चन्द्रमा नियमित नक्षत्रो नक्षत्रो मे पूर्ण होता है। इसके बाद पूर्णिमाओ के चैत्री, वैशाखी इत्यादि नाम पडे होगे और तदनन्तर चैत्र, वैशाख इत्यादि नाम प्रचलित हुए होगे। अत ऐतिहासिक और नैसर्गिक दृष्ट्या सिद्ध हुआ कि मध्वादि सज्ञाओ के बहुत दिनो बाद चैत्रादि सज्ञाएँ प्रचलित हुई।

सौरमास

सावन और चान्द्र मास तो वेदो मे है पर उनमे सौर मास का स्पष्ट उल्लेख मुझे नही मिला। भचक्र का एक द्वादशाश भोगने मे सूर्य को जितना समय लगता है उसे सौर मास कहते है। मेषादि १२ राशियो के नाम तो वेदो मे नही ही है पर भचक्र के १२ तुल्य भागो के उन सरीखे अन्य नाम भी नही है। वेदोक्त मधु-माधवादि नाम सौर मासो के नही है—यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता, क्योकि उनके अर्थ का सम्बन्ध ऋतुओ से अर्थात् सूर्य से है, इतना ही नही मध्वादिको को ऋतु भी कहा है, परन्तु वेदो मे ऐसा विधान कही नही मिलता जिससे यह प्रकट हो कि उन मासो की समाप्ति पूर्णिमा या अमावस्या के अतिरिक्त किसी अन्य दिवस मे भी होती थी। पूर्णिमा और अमावास्या मे मासान्त होने का निर्देश है। इससे सिद्ध होता है कि ये नाम पूर्णिमा या अमावास्या मे समाप्त होने वाले चान्द्र मास के ही है तथापि वर्ष सौर था, यह निर्विवाद सिद्ध है। अत चान्द्र मास से भिन्न मान के सौर मास भी अवश्य रहे होगे और मध्वादि संज्ञाओ का प्रयोग दोनो के लिए किया जाता रहा होगा।

पूर्णिमान्त और अमान्त मास

पूर्णिमा और अमावास्या मे समाप्त होने वाले मासो को क्रमश पूर्णिमान्त और अमान्त मास कहते है। वेदो मे ये दोनो मिलते है। पूर्णिमान्त मान था, यह बात पूर्णमासी शब्द से ही सिद्ध हो जाती है, क्योकि जिसमे मास पूर्ण होता है वही पूर्णमासी है। तैत्तिरीयसहिता १।६।७ मे लिखा है—

बर्हिषा पूर्णमासे व्रतमुपैति वत्सैरमावास्यायाम्।

यहाँ अमावास्या की जोडी में पूर्णमास ही शब्द आया है, इससे सिद्ध होता है कि पौर्णमासी मे मासान्त मानते थे।

अमावास्यया मासान्सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति अमावास्यया हि मासान् सम्पश्यन्ति
पौर्णमास्या मासान्सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति पौर्णमास्या हि मासान्सम्पश्यन्ति ।।

पै० स० ७।५।६।१

उत्सर्गिणामयन सम्बन्धी अनुवाक के इन वाक्यो से विदित होता है कि अमावास्या और पूर्णिमा दोनो मे मास की समाप्ति मानते थे[1]। उसमे भी इन वाक्यो के आगे के निम्नलिखित वाक्यो मे पूर्णिमान्त मान के विषय मे ही विशेष कटाक्ष दिखायी देता है।

> यो वै पूर्ण आसिञ्चति परा स सिञ्चति य पूर्णादुदचति प्राणमस्मित्सदधाति यत्पौर्णमास्या मासात्सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति सवत्सरायैव तत्प्राण दधति तदनु सत्रिण प्राणन्ति यदहर्नो सवत्सरायैव तत्प्राण द.त तदनु स.त्रण प्राणन्ति यदहर्नो-त्सृजेयुर्यथा दृतिरुपनद्धो विपतत्येव ँ संवत्सरो विपतेदार्ति-मार्छेयुर्यत्पौर्णमास्या मासान्सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति सवत्सरायैव तदुदान दधति तदनु सत्रिण उदनन्ति नार्तिमार्छाति पूर्णमासे वै देवाना ँ सुतो यत्पौर्णमास्या मासान्त्सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति देवानामेव तद्यज्ञेन यज्ञ प्रत्यवरोहन्ति ।।

तै० स० ७।५।६

अथर्वश्रुति के सृष्टिप्रकरण मे सवत्सरादिको की उत्पत्ति बतलाने के बाद मास और पक्ष के विषय मे कहा है—

> मासो वै प्रजापति । तस्य कृष्णपक्ष एव रवि शुक्ल प्राण ।।

यहाँ कृष्णपक्ष का नाम पहिले आया है। इससे भी पूर्णिमान्त ही मास सिद्ध होता है, परन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण मे शुक्लपक्षान्तर्गत दिनो के बाद कृष्णपक्ष के दिन पठित है। इससे अमान्त मान का भी प्रचार सिद्ध होता है।

पूर्वापर पक्ष

पूर्णिमान्त मानने से कृष्णपक्ष पहिले और शुक्ल पक्ष उसके बाद आता है, अतः कृष्णपक्ष की पूर्व और शुक्लपक्ष की पर सज्ञा होनी चाहिए। परन्तु वर्णन ऐसा नही है। शुक्लपक्ष को पूर्व और कृष्ण पक्ष को पर कहा है।

१. माधवाचार्य ने कालमाधव में शङ्का-समाधानपूर्वक निश्चय किया है कि इन वाक्यों में पूर्णिमान्त और अमान्त दोनों मान माने गये हैं।

पूर्वपक्ष देवान्वसृज्यन्त। अपरपक्षमन्वसुरा । ततो देवा अभवन्। परासुरा ।।
तै० ब्रा० २।२।३।१

पूर्वपक्ष मे देवता उत्पन्न हुए और अपर पक्ष मे असुर, इसलिए देवताओ की जय हुई और असुरो की पराजय।

पूर्वपक्षाश्चितय । अपरपक्षा पुरीषम ।।
तै० ब्रा० ३।१०।४।१

इन दोनो वाक्यो मे शुक्ल और कृष्ण शब्द नही है, पर शुक्लपक्ष को शुभ और कृष्ण को अशुभ मानने से शुक्लपक्ष पूर्व और कृष्णपक्ष पर ज्ञात होता है। पूर्व और अपर पक्षो के १५ दिनो के नाम नीचे लिखे हैं। वहाँ पूर्व और अपर सज्ञाओ का प्रयोग शुक्ल और कृष्ण अर्थ मे किया गया है। चन्द्रमा सम्बन्धी "नवो नवो भवति" मन्त्र के निरुक्त (११।६) मे कहा है—

नवो नवो भवति जायमान इति पूर्वपक्षादिमभिप्रेत्याह्ना
केतुरुषसामेत्यग्रमित्यपरपक्षान्तमभिप्रेत्य . ।।

स्पष्ट है कि यहाँ पूर्व पक्ष और अपरपक्ष शब्दो का प्रयोग शुक्ल और कृष्ण पक्षो के उद्देश्य से किया गया है। वेदोत्तरकालीन अन्य ग्रन्थो मे भी पूर्वापरपक्षो का यही अर्थ मिलता है।

दिवस

अब सावन दिन, सौर दिन और चान्द्र दिन अर्थात् तिथि का विवेचन करेगे। वेदो मे सौर मास का स्पष्ट उल्लेख नही है, अत' सौर दिन का न होना भी स्पष्ट ही है। सावन दिन है। वह बडा व्यवहारोपयोगी है। यज्ञ उसी के अनुसार किये जाते थे, यह ऊपर बता चुके हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के निम्नलिखित वाक्यो मे शुक्ल और कृष्णपक्षो के दिन और रातो के भिन्न-भिन्न नाम पठित हैं।

सज्ञान विज्ञान दर्शा दृष्टेति। एतावनुवाकौ पूर्वपक्षस्याहोरात्राणा नामधेयानि।
प्रस्तुत विष्टुत ॅ सुता सुन्वतीति ।एतावनुवाकावपरपक्षस्याहोरात्राणां नामधेयानि ।।
तै० ब्रा० ३।१०।१०।२

सज्ञानं विज्ञान प्रज्ञान जानदभिजानत्। सकल्पमान
प्रकल्पमानमुपकल्पमानमुपक्लप्त क्लृप्त। श्रेयोवसीय
आयत् सम्भूत भूतम् ।।

तै० ब्रा० ३।१०।१।१

ये पूर्वपक्ष के अहो (दिवसो) के प्रत्येक वाक्य मे पॉच-पॉच और सबमिलकर १५ नाम है।

दर्शा दृष्टा दर्शता विश्वरूपा सुदर्शना। अप्यायमाना प्यायमाना
प्याया सूनृतेरा। आपूर्यमाणा पूर्यमाणा पूरयन्ति पूर्णा पौर्णमासी ।।

तै० ब्रा० ३।१०।१।१

ये पूर्वपक्ष की १५ रात्रियो के १५ नाम है। पौर्णमासी इत्यादि शब्दो से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ पूर्वपक्ष का अर्थ शुक्लपक्ष है।

प्रस्तुत विष्टुत ँस ँ स्तुत कल्याण विश्वरूप। शुक्रमभृत
तेजस्वि तेज समृद्ध। अरुण भानुमन् मरीचिमदभितपत्
तेजस्वि तेज समृद्ध अरुण भानुमन मरीचिमदभितपत
तपस्वत् ।

तै० ब्रा० ३।१०।१।२

ये अपरपक्ष अर्थात् कृष्णपक्ष के १५ दिनो के नाम है।

सुता सुन्वती प्रसुता सूयनामाऽभिषूयमाणा। पीति प्रपा सम्पा
तृप्तिस्तर्पयन्ती। कान्ता काम्या कामजाताऽयुष्मती कामदुघा ।।

तै० ब्रा० ३।१०।१।२.३

ये कृष्णपक्ष की १५ रात्रियो के नाम है।

यहाँ दिवसो के नाम नपुसकलिङ्गी और रात्रियो के स्त्रीलिङ्गी है। दिवसवाची अह शब्द नपुसकलिङ्गी और रात्रिशब्द स्त्रीलिङ्गी है। मालूम होना है इसी कारण यहाँ ऐसा प्रयोग किया गया है। उपर्युक्त वाक्य मे कृष्णपक्ष की अन्तिम रात्रि को अमावास्या न कहकर कामदुघा कहा है, परन्तु शुक्लपक्ष की अन्तिम रात्रि का नाम पौर्णमासी ही है।

इन वाक्यों और अन्य लेखो से ज्ञात होता है कि पौर्णमासी और अमावास्या किसी तिथि के विशेषण नही है बल्कि रात्रि के है। तैत्तिरीयसहिता–ब्राह्मण मे अमावास्या

और पूर्णिमा नाम अनेको स्थानो मे है परन्तु तिथि शब्द नही है अत. इनका किसी तिथि का विशेषण होना सर्वथा असम्भव है।

तिथि

चान्द्रमास का तीसवाँ भाग अथवा सूर्य और चन्द्रमा में १२ अश अन्तर पडने मे जितना समय लगता है—इस अर्थ मे मुझे वेदो मे तिथि शब्द कही नही मिला। यद्यपि उस समय चान्द्र मास था पर उसमे २९½ सावन दिन होने के कारण उसका तीसवाँ भाग सावन दिन से छोटा होता है। स्पष्ट सूर्य और चन्द्रमा सम्बन्धी तिथि कभी सावन दिन से बडी और कभी छोटी होती है और उसका मध्यममान सावन दिन से सदा न्यून रहता है इन दोनो को नापने का कोई भी नैसर्गिक सुलभ साधन नही है, अत वेदो मे आधुनिक मध्यम और स्पष्ट दोनो तिथियाँ नही है। बह्वृच ब्राह्मण मे तिथि शब्द दो एक स्थानों मे है। उसमे तिथि का लक्षण यह है—

या पर्यस्तमियादभ्युदियादिति सा तिथि।

जिसमे (चन्द्रमा) उगता है और अस्त होता है उसे तिथि कहते है। चन्द्रमा के एक उदय से दूसरे उदय पर्यन्त एक सावन दिन से लगभग एक मुहूर्त अधिक समय लगता है। एक चान्द्र मास मे सूर्य के उदय कभी २९, कभी ३० और चन्द्रमा के उससे एक कम अर्थात् २८ या २९ होते है, अत तिथि के उपर्युक्त लक्षणानुसार चान्द्र मास मे ३० तिथियाँ कभी नही होगी। यह लक्षण अन्य वेदो या वेदोत्तरकालीन ग्रन्थो मे नही मिलता, अत उसका विशेष प्रचार नही रहा होगा। सम्भव है, उपर्युक्त वाक्य का भावार्थ दूसरा हो। कुछ भी हो, ज्योतिषग्रन्थोक्त अर्थ मे वेदो मे तिथि शब्द और प्रतिपदादि तिथिया नही मिलती तथापि पूर्णिमा और अमावास्या को पञ्चदशी कहा है।

चन्द्रमा वै पञ्चदश। एष हि पञ्चदश्यामपक्षीयते। पञ्चदश्यामापूर्यते॥
तै० ब्रा० १।५।१०

इसमे कहा है, पञ्चदशी मे चन्द्रमा क्षीण होता है और पञ्चदशी मे पूर्ण होता है। पञ्चदशी शब्द से ज्ञात होता है कि उस समय प्रथमा, द्वितीया अर्थात् प्रतिपदा, द्वितीया इत्यादि सज्ञाएँ प्रचलित रही होगी। वे पहिले रात्रि की वाचक रही होगी और बाद में तिथिवाचक हुई होगी। सामविधानब्राह्मण (२।६, २।८, ३।३) मे कृष्णचतुर्दशी, कृष्णपञ्चमी और शुक्लचतुर्दशी शब्द आये है।

अष्टका-एकाष्टका

अमावास्या और पौर्णिमा के अतिरिक्त एक अष्टका शब्द भी वेदो मे आया है।

द्वादश पौर्णमास्य । द्वादशाष्टका. । द्वादशामावास्या ॥

तै० ब्रा० १।५।१२

शतपथब्राह्मण (६।४।२।१०) मे भी इसी अर्थ का एक वाक्य है। इससे ज्ञात होता है कि १२ पौर्णमासी और १२ अमावास्याओ की भॉति १२ अष्टकाए भी होती है। वर्ष मे वे १२ वे, २४ नही है। इससे ज्ञात होता है कि शुक्लपक्ष या कृष्णपक्ष की आठवी रात को अष्टका कहा होगा। उपर्युक्त वाक्य मे पूर्णिमा के बाद अष्टाका आयी है। तैत्तिरीयब्राह्मण ३।११।१।१९ मे कहा है—

पौर्णकास्यष्टकामावास्या

इस वाक्य मे भी पूर्णिमा के बाद अष्टका है, अत कृष्णपक्ष की आठवी रात्रि को अष्टका कहते रहे होगे। आश्वलायनादि सूत्रो मे इसका स्पष्ट उल्लेख है।

द्वादश पौर्णमास्यो द्वादशैकाष्टका द्वादशामावास्या ।

ताण्ड्यब्राह्मण १०।३।११

यहॉ कृष्णाष्टमी को एकाष्टका कहा है। अपस्तम्बसूत्र मे माघी पूर्णिमा के बाद की अष्टमी को एकाष्टका कहा है ।

व्यष्टका-उदृष्ट

पौर्णमास्या पूर्वमहभवति। व्यष्टकायामुत्तर।. .अमावास्याया पूर्वमहर्भति। उदृष्ट उत्तरम्॥ तै० ब्रा० १।८।१०।२

ये वाक्य ताड्यब्राह्मण (१८।११।८) मे भी है। यहॉ कृष्ण प्रतिपदा को व्यष्टका और शुक्लप्रतिपदा को उदृष्ट कहा है।

चन्द्रकला

वेदो मे चन्द्रमा की कला के न्यूनाधिक्य का कारण यह बताया है कि देव उसका प्राशन करते है।

यत्वा देव प्रपिवन्ति तत आप्यायसे पुन । वायु सोमस्य रक्षिता समाना मास आकृति ॥ ऋ० म० १०।८५।५

हे देव [सोम] तुम्हारा प्राशन करते हैं। उसके बाद तुम पुन तेजस्वी होते हो। वायु सोम का रक्षक है और तुम समो (सवत्सरो) और मासो के कर्त्ता हो। निरुक्त मे यह ऋचा सोमवल्ली पर और चन्द्र पर है।

यमादित्या अ ँ शुमाप्यायन्ति यमक्षितमक्षितय पिबन्ति ।। तै० स० २।४।१४

इसका अर्थ यह है कि आदित्य चन्द्रमा को तेजस्वी करते है और पूर्ण हो जाने के बाद उसका प्राशन करते हैं। यहाँ आदित्या शब्द बहुवचन मे है। पहिले यह प्रयोग द्वादश आदित्यो के उद्देश्य से किया गया होगा अर्थात् लोगो की यह धारणा रही होगी कि चन्द्रमा की कलाओं का क्षयवृद्धिकारक सूर्य ही है परन्तु आदित्य शब्द सब देवताओ का वाचक होने के कारण लोग समझने लगे होगे कि देवता चन्द्रकला का प्राशन करते हैं।

चन्द्र प्रकाश

सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व ।		तै० स० ३।४।७।१

इसमे चन्द्रमा को सूर्यरश्मि अर्थात् सूर्य द्वारा प्रकाश प्राप्त करनेवाला कहा है। निम्नलिखित वाक्यो में यह कल्पना है कि चन्द्रमा अमावास्या की रात्रि मे जो आकाश मे नही दीखता उसका कारण यह है कि वह पृथ्वी पर आकर, प्राणी, औषधी और वनस्पति इत्यादिको मे प्रवेश करता है।

सोमावास्याया रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिद प्राणभृदनु प्रविश्य तत प्रातर्जायते ।।		बृहदा,० शत० ब्रा० १४।४।३।२२

एष वै सोमो राजा देवानामन्न यच्चन्द्रमा स यत्रैष एता ँ रात्रि न पुरस्तान्न पश्चाद्दृशे तदिमं लोकमागच्छति स इहैवापश्चौषधीश्च प्रविशति स वै देवाना वस्वन्न ँ ह्येषा तद्यदेष एता ँ रात्रिमिहामावमति तस्मादमावास्या नाम ।।

शत० ब्रा० १।६।४।५

अग्रिमवाक्य मे यह वर्णन भी है कि अमावास्या को सूर्य-चन्द्रमा एकत्र रहते हैं। इसमे कहा है कि अमावास्या को चन्द्रमा सूर्य मे प्रवेश करता है। आदित्य से चन्द्रमा उत्पन्न होता है।

चन्द्रमा अमावास्यायामादित्यमनुप्रविशति. . .आदित्याद्वै चन्द्रमा जायते।

ऐ० ब्रा० ४०।५

यहाँ सूर्य से चन्द्रमा उत्पन्न होने का अभिप्राय यह है कि शुक्लप्रतिपदा को वह पुन. दिखायी देता है।

दर्श, पर्व, अनुमति इत्यादि

अमावास्या को दर्श[1] और अमावास्या तथा पूर्णिमा को पर्व कहा है। पूर्णिमा को अनुमति और राका तथा अमावास्या को सिनीवाली और कुहू भी कहा है। ऋक्-संहिता के मण्डल २ सूक्त मे राका और सिनीवाली शब्द है। वहाँ वे कदाचित देवता-वाचक होगे। ऐतरेयब्राह्मण ३२।१० और गोपथब्राह्मण ६।१० मे लिखा है—

या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिर्योत्तरा सा राका या पूर्वामावास्या सा सिनीवाली योत्तरा सा कुहू ॥

कठशाखा के वेद मे भी यह वाक्य है। निरुक्त ११।३१ मे कहा है—
सिनीवाली कुहूरिति देवपत्नयाविति नैरुक्ता अमावास्येति यज्ञिका ॥

चन्द्रसूर्यगति

यज्ञो के विषय मे वेदो मे अमावास्या और पूर्णिमा का बडा प्राधान्य है। वेदकालीन सूर्य-चन्द्रमा का गतिविषयक आविष्यकार–जो कि प्रसङ्गाभाव के कारण वेदो मे नही आये है, परन्तु जिनका परिणत स्वरूप वेदाङ्गज्योतिष मे दिखायी देता है–दर्शपूर्णमासेष्टियो के कारण ही प्रादुर्भूत हुए होगे, इसमे कोई सन्देह नही है। वेदों मे "सन्धौ यजेत, सन्धिमभितो यजेत" इत्यादि वाक्यो मे बताया है कि पर्व की सन्धि मे अर्थात् पर्व और प्रतिपदा की सन्धि मे अथवा उसके आस-पास यज्ञ करना चाहिये। अत उस समय लोगो ने पर्वसन्धि जानने का प्रयत्न किया होगा और उन्हे इस विषय का कुछ न कुछ ज्ञान भी अवश्य रहा होगा।

वार

वारो के सात नाम वेदो मे नही मिलते। सात वारो का सामान्य नाम 'वासर' ऋक्संहिता मे दो स्थानो मे आया है।

आदिप्रत्नस्य रेतसो ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवा॥
ऋ० सं० ८।६।३०

१ अमावास्या को सूर्य-चन्द्रमा एकत्र हो जाते है, यह कल्पना पुराणों में भी है। मत्स्यपुराण और वायुपुराण में दर्श के विषय में कहा है–

आश्रित्यताममावास्यां पश्यतः सुसमागतौ।
अन्योन्यं चन्द्रसूर्यौ तौ यदा तद्दर्श उच्यते॥

जब यह इन्द्र द्युलोक पर सूर्यरूप से प्रकाशित होता है उस समय चिरन्तन उदकवान् इस सूर्य रूपी इन्द्र के तेज को सब दिन भर देखते है—इस प्रकार सायणाचार्य ने यहाँ वासर का अर्थ दिवस किया है। इसके अतिरिक्त उसे ज्योति का विशेषण मानकर "निवासक" "निवासस्य हेतुभूत"—ये दो अर्थ किये है।

दिनमान

निम्नलिखित ऋचा मे दिनमान के न्यूनाधिक होने का वर्णन है। इसमे कहा है कि सूर्य दिन को बढाता है।

सोमराजन् प्रण आयूषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि ।। ऋ० स० ८।४८।७

हे सोमराजन् (वासर) (जगद्वासक) जैसे दिवस सूर्य बढाता है उसी प्रकार तुम हमारी आयु बढाओ। यहाँ वासर शब्द का अर्थ दिवस नही है।

विषुव

विषुव-दिवस का उल्लेख वेदो मे अनेको स्थानो मे है। सवत्सरसत्रविषयक तैत्तिरीयसहिता का एक अनुवाक ऊपर पृष्ठ मे लिखा है, उसमे विषुव का वर्णन है। अब यहाँ एक दूसरा वर्णन उद्धृत करते है। सवत्सरारम्भ के विवेचन मे भी इसकी आवश्यकता पडेगी।

एकविशमेतदहरूपयन्ति विषुवन्त मध्ये सवत्सरस्यैतेन वै देवा एकविंशेनादित्य स्वर्गाय लोकायोदयच्छन्त्स एष इत एकविंशस्तस्य दशावस्तादहानि दिवाकीर्त्यस्य भवन्ति दश परस्तान्मध्य एष एकविंश उभयतो विराजि प्रतिष्ठितस्तस्मा-देषोन्तरेमा लोकान्यन् न व्यथते तस्य वै देवा आदित्यस्य स्वर्गाल्लोकादवपाताद-बिभयुस्त त्रिभि. स्वर्गलोकैरवस्तात्प्रत्युत्तभ्नुवन् स्तोमा वै त्रय स्वर्गा लोकास्तस्य पराचोतिपाताद बिभयुस्त त्रिभि: स्वर्गैर्लोकै परस्तात्प्रत्यस्तभ्नुवस्तोमा वै त्रय स्वर्गा लोका स्तत्र योऽवस्तात्सप्तदशा भवन्ति त्रय परस्तान्मध्य एष एकविंश ।। ऐ० ब्रा० १८।१८

अर्थ—सवत्सर के मध्य भाग मे विषुव-दिन मे एकविशाह करते है। इस एकविश द्वारा देवताओ ने सूर्य को स्वर्ग मे चढाया। यह वह एकविश है। उस दिवाकीर्त्य के पूर्व १० दिन होते हैं, १० दिन पीछे होते है और बीच मे यह एकविश रहता है। इस प्रकार दोनो ओर से दस-दस के बीच मे होने के कारण यह [एकविंश अर्थात् आदित्य]

इस लोक मे चलते समय व्यथा नही पाता। देवता डरे कि वह आदित्य कदाचित स्वर्ग से नीचे गिरेगा। [उन्होने] इधर तीन स्वर्ग लोको का आधार देकर उसे सँभाल रखा। [विषुवादिवस के पूर्व तीन स्वरसाम दिवस होते है। उस दिन कहे जाने वाले तीन] स्तोम ही तीन स्वर्गलोक है। वह [सूर्य] उनकी उस ओर गिरेगा, इस भय से [देवता] डरे। उन्होने उस ओर तीन स्वर्ग लोक रखकर उसे तौल रखा। [विषुव के बाद के तीन दिनो के तीन] स्तोम ही तीन स्वर्ग है। उनमे इस ओर १७ और उस ओर तीन रहते है। बीच मे यह एकविश [२१ वा रहता है।]

तैत्तिरीयब्राह्मण (१।२।४) मे भी प्राय ऐसा ही वर्णन है। इसमे विषुव-सवत्सर के मध्यभाग मे बतलाया है। इसके अतिरिक्त मालूम होता है यहा कुछ कल्पनाएं इस आधार पर भी की गई है कि सूर्य आकाश मे कभी अधिक और कभी कम ऊँचाई पर रहता है ।

यथा वै पुरुष एव विषुवास्तस्य यथा दक्षिणोर्ध एव पूर्वार्धो विषुवतो यथोत्तरोर्ध एवमुत्तरोर्धो विषुवतस्तस्मादुत्तर इत्याचक्षते प्रबाहुक्सत शिर एव विषुवान्।।
ऐ० ब्रा० १८।।२२

जैसा पुरुष वैसा विषुवान्। उस (पुरुष) का जैसा दक्षिणार्ध (दाहिना अङ्ग) वैसा इसका पूर्वार्ध। जैसा उसका उत्तरार्ध (बाया अङ्ग) वैसा इसका उत्तरार्ध। इसीलिए [विषुव के बाद छ मास तक सत्र होता रहता है। उसे] उत्तर [अर्ध] कहते है। [वाम-दक्षिण] भाग समान [करके बैठे] हुए [पुरुष] के शिर के समान विषुवान है। तैत्तिरीयब्राह्मण मे भी इसी प्रकार का अग्रिम वर्णन है।

सन्ततिर्वा एते ग्रहा । यत्पर सामान.। विषुवान् दिवा कीर्त्य। यथा शालायै पक्षसी। एव ॅ् सवत्सरस्य पक्षसी। तै० ब्रा० १।२।३

इसमे सवत्सरसत्र का वर्णन है। कहा है—जिस प्रकार शाला अर्थात् घर के दो पक्ष होते है उसी प्रकार संवत्सर के भी दो पक्ष है और विषुवान् उसका मध्यभाग है। इसी प्रकार विषुवान् शब्द अनेको स्थानो मे आया है और बहुत से स्थलो मे वह दिवस सवत्सर-सत्र या तदङ्गभूत पर.सामन् इत्यादि अहो के मध्यभाग मे बतलाया है।

जिस दिन दिनरात्रिमान समान होते है वह विषुवान् दिवस है—ऐसा स्पष्ट उल्लेख वेदो मे नही है। सत्र अथवा षडह इत्यादि अहो के मध्य का इतिहास, इतना ही उसका अर्थ है, चाहे वह सत्र वर्ष भर होता रहे या कुछ ही दिनो तक (ताण्ड्यब्राह्मण १३।४।१६ और उसका सायणभाष्य देखिये)। जिनमे दिन-रात्रि समान होती है।

ऐसे विषवान् वर्ष मे दो होते है। उनमे से प्रथम मे सवत्सरसत्र का आरम्भ करने से दूसरा उसके मध्य मे आता है।

दिवस-विभाग

धर्मशास्त्रग्रन्थो मे दिन के अर्थात् सूर्योदय मे सूर्यास्त पर्यन्त तक के काल के २, ३, ४, ५ और १५ विभाग किये गये है। दो विभाग पूर्वाह्न और अपराह्न नामक है। तीन विभाग पूर्वाह्न मध्याह्न और अपराह्न है। चार पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न और सायाह्न है। ये दिन के चार प्रहर है। पाच विभाग प्रात, सगव, मध्याह्न, अपराह्न और साय है। १५ विभाग मुहूर्त्त नामक है। प्रथम दो विभाग स्वाभाविक है। वे वेदकाल मे थे। तीन विभाग निम्नलिखित दो वाक्यो मे है।

ऋग्भि पूर्वाह्ने दिवि देव ईयते। यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्न। सामवेदेना स्तमये महीयते। वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्य ।। तै० ब्रा० ३।१२।९।१

पूर्वाह्ने वै देवाना मध्यन्दिनो मनुष्याणामपराह्न पितृणाम्।।
शत० ब्रा० २।४।२।८

अग्रिम ऋचा मे पाच विभागो मे से प्रात, सगव और मध्याह्न, इन तीन के नाम आये है। इससे अनुमान होता है कि उस समय पाच विभाग थे।

उतायात सगवे प्रातरह्नो मध्यन्दिन उदिता सूर्यस्य। दिवानक्तमवसा शन्तमेन नेदानी पीतिरश्विना ततान ।। ऋ० स० ५।७६।३

देवस्य सवितु प्रात प्रसव प्राणः। वरुणस्य सायमासवोपान.। यत्प्रतीचीन प्रातस्तनात्। प्राचीन ँ सगवात्। ततो देवा अग्निष्टोम निरमिमत। तत्तदात-वीर्य निर्मार्गं। मित्रस्य सगव। तत्पुण्य तेजस्व्यह। तस्मात्तर्हि पशव समायन्ति। यत्प्रतीचीन् ँ सगवात्। प्राचीन मध्यन्दिनात्। ततो देवा उक्थ्य निरमिमत। तत्०। बृहस्पतेर्मध्यन्दिन.। तत्पु०। तस्मात्तर्हि तेक्ष्णिष्ठ तपति। यत्प्रतीचीन मध्यन्दिनात्। प्राचीनमपराह्नात्। ततो देवा. षोडशिन निरमिमत। तत्तदा०। भगस्यपराह्न.। तत्पु०। तस्मादपराह्ने कुमार्यो भगमिच्छमानाश्चरन्ति। यत्प्रतीचीनमपराह्नात्। प्राचीन ँसायात्। ततो देवा अतिरात्र निरमिमत। तत्तदा०। वरुणस्य साय। तत्पु० तस्मात्तर्हि नानृत वदेत् ।।
तै० ब्रा० १।५।३

यहा प्रात, सगव, मध्याह्न, अपराह्न और साय, ये पाच विभाग है।

आदित्यस्त्वेव सर्व ऋतव । यदैवोदेत्यथ वसन्तो यदा सगवोथ ग्रीष्मो यदा मध्यन्दिनोथ वर्षा यदापराह्णोथ शरद्यदैवास्तमेत्यथ हेमन्त ॥

शत० ब्रा० २।२।३।९

तस्मा उद्यन्त्सूर्यो हिङ्कृणोति सगव प्रस्तौति मध्यन्दिन उद्‌गायत्यपराह्ण प्रतिहरत्यस्त यन्निधनम् ॥ अथ स० ९।६।४६

यहा सगव, मध्यन्दिन और अपराह्ण तीन विभाग नही बल्कि दिन के चार विभागो (प्रहरो) की सन्धिया ज्ञात होती हैं।

माधवाचार्य ने कालमाधव मे दिवस के पञ्चधा विभाग के विषय मे तैत्तिरीय-ब्राह्मण का उपर्युक्त अनुवाक देकर लिखा है—इसमे प्रातरादि पाच विभागो की सन्धियो मे अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशि और अतिरात्र इन चार सोमसस्थाओ की निर्मिति का वर्णन है। सब विभागो के विषय मे उन्होने लिखा है, पञ्चधा विभाग श्रुति-स्मृतियो मे बहुत मिलता है। आश्वलायनसूत्र (श्रौतसूत्र ३।१२) में लिखा है, 'प्रदोषान्तो होमकाल सगवान्त प्रात ।' इसमे ज्ञात होता है कि सगव सन्धि नही प्रत्युत एक विभाग ही है।

१५ मुहूर्त

तैत्तिरीयब्राह्मण मे दिवस और रात्रि दोनो के मुहूर्त सज्ञक १५ विभाग बताय हैं।

अथ यदाह। चित्र केतुर्दाता प्रदाता सविता प्रसविताभिशास्तानुमन्तेति। एष एव तत्। एष ह्येव तेह्नो मुहूर्ता । एष रात्रे ।

तै० ब्रा० ३।१०।९

उपर्युक्त अनुवाक उसी ब्राह्मण मे एक ही अनुवाक मे आये हैं। वे ये ह—

चित्र केतु प्रभानाभात्सभान्। ज्योतिष्मा ँ् स्तेजस्वानातप ँ् स्तपन्निभितपन्। रोचनो रोचमान शोभन. शोभमान कल्याण:॥ तै० ब्रा० ३।१०।१

यहा प्रत्येक वाक्य मे पाच और सब मिलाकर १५ मुहूर्त हैं। पूर्वापर सन्दर्भ से स्पष्ट है कि ये मुहूर्त शुक्लपक्ष के हैं और निम्नलिखित १५ मुहूर्त शुक्लपक्ष की रात्रि के है।

दाता प्रदाताऽनन्दो मोद. प्रमोद । आवेशन्निवेशयन् सवेशन: स ँ् शान्त शान्त । आभवन् प्रभवन् सम्भवन् सम्भूतो भूत ॥

तै० ब्रा० ३।१०।१।१,२

सविता प्रसविता दीप्तो दीपयन् दीप्यमान । ज्वलन् ज्वलिता तपन् वितपन् सन्तपन् । रोचनो रोचमान शुभू शुभमानो वामः ।।

तै० ब्रा० ३।१०।१।२

ये कृष्णपक्ष के दिन के १५ मुहूर्तो के नाम है।

अभिशास्तानुमन्तानन्दो मोद. प्रमोदः। आसादयन् निषादयन् स ् सादनः स ् सन्न सन्न । आभूर्विभू प्रभू शभूर्भुवं ।। तै० ब्रा० ३।१०।१।३

ये कृष्णपक्ष की रात्रि के १५ मुहूर्तो के नाम है।

मास में ३० दिवस की भाँति अहोरात्र मे ३० मुहूर्त माने गये होगे। वेदोत्तरकालीन ग्रन्थो मे मुहूर्त नामक ये विभाग तो है पर उपर्युक्त नाम नही है। मुहूर्त्तो के भिन्न-भिन्न अन्य भी बहुत से नाम है।

प्रतिमुहूर्त

एक मुहूर्त मे १५ सूक्ष्म मुहूर्त माने गये है। कहा है—

अथ यदाह। इदानी तदानीमिति। एष एव तत्। एषह्येव ते मुहूर्ताना मुहूर्ता ।

तै० ब्रा० ३।१०।९।९

वे प्रतिमुहूर्त ये है—

इदानी तदानीमेतर्हि क्षिप्रमजिर। आशुर्निमेष फणोद्रवन्नतिद्रवन्। त्वर ् स्त्वरमाण आशुरशीयान् जव ।। तै० ब्रा० ३।१० १।४

कला-काष्ठा

सर्वे निकेषा जज्ञिरे विद्युत पुरुषादधि। कला मुहूर्ता काष्ठाश्चाहोरात्रश्च सर्वश ।। नारायण उपनिषद् अनु० १

इस उपनिषद् वाक्य म मुहूर्त, कला और काष्ठ नामक कालमानो के नाम आये है, पर पता नही चलता इनका परस्पर या अन्य मानो से क्या सम्बन्ध है। घटी और पल नामक दिन के भाग-प्रभाग वेदों में नही हैं।

नक्षत्र

अब यहा ऋग्वेद सहिता के कुछ ऐसे वाक्य उद्धृत करते है जिनमे किसी नक्षत्र विशेष का नही बल्कि आकाश में इतस्ततः सर्वत्र फैले हुए तारों का वर्णन है। इनमे के

कुछ मन्त्र अथर्वसहिता मे भी है। निम्नलिखित मन्त्र मे कहा है कि विश्वदर्शी सूर्य के आते ही नक्षत्र और रात्रि चोर की तरह भाग जाती है।

अप त्ये तावयो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभि । सूराय विश्वचक्षसे ।।
ऋ० स० १।५०।२ अथ० स० १३।२।१७, २०।४७।१४

अभि श्याव न कृशनेमिरश्व नक्षत्रेभि पितरो द्यामपिशन् ।।
ऋ० स० १०।६८।११

इन दोनो वाक्यो मे तारो को नक्षत्र कहा है। "द्यौरिव स्मयमानो नभोभि" वाक्य मे तारका अर्थ मे नभ शब्द का प्रयोग किया गया है। कही-कही तारका अर्थ मे रोचना शब्द आया है।"द्यावो न स्तृभिश्चितयन्त (ऋ० स० २।३४।२)" और "ऋतावान विचेतस पश्यन्तो द्यामिव स्तृभि (ऋ० स० ४।७।३)" इन दो मन्त्रो मे तारा अर्थ मे 'स्तृ' शब्द आया है। यहा पहिली दो ऋचाओ मे नक्षत्र शब्द केवल चन्द्र-मार्ग मे आनेवाले नक्षत्रो के लिए ही नही, सब तारो के लिए आया है। वेदोत्तर-कालीन सस्कृत ग्रन्थो मे भी नक्षत्र सज्ञा चन्द्रमार्ग मे आये हुए नक्षत्रो के साथ-साथ सब तारो के लिए भी आयी है।

अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहित ।।
ऋ० स० १०।८५।२ अथ० स० १४।१।२

इसमे लिखा है—नक्षत्रो मे सोम रखा है। मालूम होता है यहा नक्षत्र शब्द केवल चन्द्रमार्गान्तिर्गत नक्षत्रो के लिए ही आया है। ऋक्सहिता मे चन्द्रमार्ग के सत्ताईसो नक्षत्रो के नही, पर कुछ के नाम है। ५।५४।१३ और १०।६४।८ मे तिष्य शब्द है। वह पुष्यनक्षत्रवाचक होगा। ४।५१।२ मे चित्रा नक्षत्र है। ४।५१।४७ मे रेवती शब्द है। वह रेवती नक्षत्र के ही अर्थ मे आया हुआ ज्ञात होता है। अग्रिम ऋचा मे क्रमश-दो नक्षत्र है।

सूर्याया वहतु प्रागात् सवितायमवासृजत् । अघासु हन्यन्ते गावोर्जुन्यो पर्युह्यते ।।
ऋ० स० १०।८५।१३

सविता ने जो [दहेज] दिया वह दहेज सूर्या के पहिले ही आगे गया। अघा [मघा][1] नक्षत्र मे गायो को मारते है। अर्जुनी (फल्गुनी) नक्षत्र मे [कन्या] ले जाते है। सविता की कन्या सूर्या सोम को दी गयी। उस समय सूर्य ने दहेज मे जो गाये दी

१. यहाँ हन् धातु का अर्थ मार डालना नहीं, केवल ताडन मात्र है।

वे पहिले ही दिन अर्थात् मघा नक्षत्र मे ही हॉक कर ले जायी गयी और कन्या अर्जुनी नक्षत्र मे गयी, इस कथा के उद्देश्य से यह ऋचा कही गयी है। यहा फाल्गुनी के लिए अर्जुनी और मघा के लिए अघा शब्द आया है। वेदोत्तरकालीन ज्योतिषग्रन्थो मे ये शब्द प्राय. नही मिलते, पर ये उन नक्षत्रो के द्योतक है इसमे सन्देह नही है क्योकि अथर्वसहिता (१४।१।१३) मे इसी ऋचा मे मघा और फाल्गुनी ही शब्द है। वह ऋचा इस प्रकार है।

सूर्याया वहतु प्रागात् सवितायमवासृजत्।
मघासु हन्यन्ते गाव फल्गुनीषु व्युह्यते ।।
एता वा इन्द्रनक्षत्र यत्फल्गुन्योप्यस्य प्रतिनाम्न्मोर्जुनो हवै
नामेन्द्रो यदस्य गुह्य नामार्जुन्यो वै नामैतास्ता ।।

शत० ब्रा० २।१।२।११

इससे भी अर्जुनी का अर्थ फल्गुनी ही सिद्ध होता है। यजुर्वेद मे मघासु प्रयोग स्त्रीलिंग—बहुवचन मे और फल्गुन्यो· स्त्रीलिग -द्विवचन मे आता है। यहा भी आघासु और फल्गुन्यो प्रयोग उसी प्रकार है। मघा और फाल्गुनी नक्षत्रो के क्रमानुसार ही क्रमश होनेवाली दो क्रियाएँ इनमे बतलायी है।[1] यहा अघासु और फल्गुन्यो. शब्द के वचन, लिङ्ग और क्रम तैत्तिरीयवेद और वेदोत्तरकालीन योतिषग्रन्थोक्त नक्षत्रो के अनुसार हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि यजुर्वेद की नक्षत्रपद्धति ऋग्वेदकाल मे पूर्ण प्रचलित थी।

ऋक्सहिता मे (७।५।२५) चन्द्रमार्गान्तर्गत और उनसे भिन्न तारो के लिए एक ही शब्द है परन्तु तैत्तिरीयसहिता मे एक स्थान पर दोनो मे भेद किया है। मेध्य अश्व के विषय में कहा है—

यो वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरो वेद शीर्षण्वान्मेध्यो भवत्युषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिर सूर्यश्चक्षुर्वात प्राणश्चन्द्रमा श्रोत्रं दिश· पादा अवान्तरदिश: पर्शवोऽहोरात्रे निमेषोर्धमासा पर्वाणि मासा. सन्धानान्यृतवोऽगानि सवत्सर आत्मा रश्मय. केशा नक्षत्राणि रूपं तारका अस्थीनि नभो मा ँ ् सानि. . . ।।

जो मेध्य अश्व का शिर जानता है वह शीर्षण्वान् और पवित्र होता है। उषा मेध्य अश्व का शिर है। सूर्य चक्षु, वात प्राण, चन्द्रमा कर्ण, दिशाए पैर, अवान्तर दिशाएँ पर्शु, अहोरात्र निमेष, अर्धमास पर्व, मास सन्धान, ऋतु अङ्ग, संवत्सर आत्मा, रश्मि कश, नक्षत्र रूप और तारे अस्थिया है।

१. इस विषय मे पृष्ठ के "अर्यम्णः पूर्वे फाल्गुनी। जाया परस्तादृषभोवस्तात्। भगस्योतरे वहतवः परस्ताद्वहमाना अवस्तात्।" वाक्य ध्यान देने योग्य है।

तैत्तिरीय श्रुति मे नक्षत्रसम्बन्धी बहुत सी बाते है। कही सब नक्षत्रो के नाम और उनके देवता पठित है, कही उनके विषय मे अन्य प्रकार के बहुत से वर्णन है, कही उनके नामों की व्युत्पत्ति बतायी है और कही कुछ बीच के ही नक्षत्रो के नाम प्रसगवशात् आये हैं। तैत्तिरीयसहिता के निम्नलिखित अनुवाक मे सब नक्षत्र है।

> कृत्तिकानक्षत्रमग्निर्देवताग्नेरुचस्थ प्रजापतेर्धातु सोमस्यर्चे त्वा रुचे त्वा भासे त्वा ज्योतिषे त्वा रोहिणी नक्षत्र प्रजापतिर्देवता मृगशीर्ष नक्षत्र ँ सोमो देवतार्द्रानक्षत्र ँ रुद्रो देवता पुनर्वसूनक्षत्रमदितिर्देवता तिष्यो नक्षत्र बृहस्पतिर्देवताश्रेषा नक्षत्र सर्पा देवता मघा नक्षत्र पितरो देवता फल्गुनी नक्षत्रमर्यमा देवता फल्गुनी नक्षत्र भगो देवता हस्तो नक्षत्र ँ सविता देवता चित्रानक्षत्रमिन्द्रो देवता स्वाती नक्षत्र वायुर्देवता विशाखे नक्षत्रमिन्द्राग्नीदेवतानुराधा नक्षत्र मित्रो देवता रोहिणी नक्षत्रमिन्द्रो देवता विचृतौ नक्षत्र पितरो देवताषाढानक्षत्रमापो देवताषाढा नक्षत्रं विश्वेदेवा देवता श्रोणा नक्षत्र विष्णुर्देवता श्रविष्ठा नक्षत्र वसवो देवता शतभिषङनक्षत्रमिन्द्रो देवता प्रोष्ठपदानक्षत्रमजएकपाद्देवता प्रोष्ठपदा नक्षत्रमहिर्बुध्नियो देवता रेवती नक्षत्र पूषा देवताऽश्वयुजौ नक्षत्रमश्विनौ देवतापभरणीर्नक्षत्र यमो देवता पूर्णापश्चाद्यते देवा अदधु ॥
>
> तै० स० ४।४।१०

तैत्तिरीय ब्राह्मण मे तीन स्थानों पर सब नक्षत्रो के नाम और उनके देवता पठित है। उनमे से अग्रिम अनुवाक मे बडा चमत्कारिक वर्णन है इसलिए उसे यहा उद्धृत करते है।

> अग्ने. कृत्तिका। शुक्र परस्ताज्ज्योतिरवस्तात्। प्रजापते. रोहिणी। आपः परस्तादोषधयोवस्तात्। सोमस्येन्वका विततानि। परस्तात् वयन्तोवस्तात्। रुद्रस्य बाहू। मृगयव. परस्ताद्विक्षारोऽवस्तात्। आदित्यै पुनर्वसू। वात परदार्द्रमवस्तात्। बृहस्पतेस्तिष्य। जुह्वत परस्ताद्यजमाना अवस्तात्। सर्पाणामाश्रेषा। अभ्यागच्छन्त परस्तादभ्यानृत्यन्तोवस्तात्। पितृणा मघा। रुदन्त परस्तादपभ्रंशोवस्तात्। अर्यम्ण. पूर्वेफल्गुनी। जाया परस्तादृषभोवस्तात्। भगस्योत्तरे। वहतव परस्ताद्वहमाना अवस्तात्। देवस्य सवितुर्हस्त। प्रसव परस्तात्सनिरवस्तात्। इन्द्रस्य चित्रा। ऋत परस्तात्सत्यमवस्तात्। वायोर्निष्ट्या व्रतति। परस्तादसिद्धिरवस्तात्। इन्द्राग्नियोर्विशाखे। युगानि परस्तात् कृषमाणा अवस्तात्। मित्रस्यानूराधा। अभ्यारोहत्परस्तादभ्यारूढमवस्तात्। इन्द्रस्य रोहिणी। शृणत्परस्तात्प्रतिशृणदवस्तात्। निर्ऋत्यै मूलबर्हणी। प्रति-

भञ्जन्त परस्तात्प्रतिशृणन्तोवस्तात्। अपा पूर्व अषाढा.। वर्चं परस्तात्समितिरवस्तात्। विश्वेषा देवानामुत्तरा। अभिजयत्परस्तादभिजितमवस्तात। विष्णो श्रोणा। पृच्छमाना परस्तात्पन्था अवस्तात्। वसूना ँ श्रविष्ठा। भत परस्ताद्भूतिरवस्तात्। इन्द्रस्य शतभिषक। विश्वव्यचा परस्ताद्विश्वक्षितिरवस्तात्। अजस्यैकपद पूर्वे प्रोष्ठपदा। वैश्वानर परस्ताद्वैश्वावसवमवस्तात्। अहेर्बुध्नियस्योत्तरे। अभिषिञ्चन्त परस्तादभिशृण्वन्तोवस्तात्। पूष्णो रेवती गाव परस्तात् वत्सा अवस्तात्। अश्विनोरश्वयुजौ। ग्राम परस्तात्सेनावस्तात्। यमस्यापभरणी। अपकर्षन्त परस्तादपवहन्तोवस्तात्। पूर्णा पश्चाद्यते देवा अदधु ॥

तै० ब्रा० १।५।१

यहा "अग्नि की कृत्तिकाएँ, शुक्र उस ओर और ज्योति इस ओर है"—इस प्रकार प्रत्येक नक्षत्र का वर्णन है। इस ओर अमुक और उस ओर अमुक है, यह कहने का हेतु और उसकी उत्पत्ति पूर्णतया समझ मे नही आती। मालूम होता है, कुछ बाते नक्षत्र के शुभाशुभ फल के उद्देश्य से और कुछ उनकी आकृति इत्यादि के विषय मे कही गयी है। फल्गुनी विषयक उपर्युक्त ऋग्वेद की ऋचा और यहा के फल्गुनी सम्बन्धी वाक्यो मे बहुत साम्य है। इसी प्रकार आगे एक वाण्य (मैत्रेण कृषन्ते) मे कहा है— अनुराधा नक्षत्र मे हल चलाते है। अनुराधा के पूर्व नक्षत्र विशाखा के विषय मे कहा है कि इस ओर युग (हलो की जोडिया) और उस ओर कृषमाणा (हल जोतनेवाले) है। अनुराधा मे हल चलाने का कुछ न कुछ कारण इस कथन में है। युग और कृषमाण का आकृति सम्बन्धी सम्बन्ध ज्ञात होता है।

तैत्तिरीयब्राह्मण—तृतीयाष्टक के प्रपाठक १ के अनुवाक १ और २ मे सब नक्षत्र, उनके देवता और नक्षत्र विषयक कुछ चमत्कारिक और मनोरंजक वर्णन है। परन्तु ग्रन्थविस्तार होने के भय से वह अनुवाक यहा नही लिखा है। यद्यपि उसमे स्पष्टतया यह नहीं लिखा है कि अमुक नक्षत्र की अमुक देवता है पर "अग्निर्न. पातु कृत्तिका·, आर्द्रया रुद्रः प्रथमान एति"—इस प्रकार किसी न किसी सम्बन्ध से नक्षत्र और उनके देवता पठित हैं। उस प्रपाठक के ४ और ५ अनुवाको मे भी नक्षत्रों और देवताओं के नाम हैं। ये दोनो भी बहुत विस्तृत है। उनमें से एक नक्षत्र के वाक्य यहा उद्धृत करते हैं। अन्य नक्षत्रो के वाक्य भी प्राय इसी ढग के हैं।

बृहस्पतिर्वा अकामयत। ब्रह्मवर्चसी स्यामिति। स एत बृहस्पतये तिष्याय नैवार चरु पयसि निरवपत्। ततो वै स ब्रह्मवर्चस्य भवत्। ब्रह्मवर्चसी ह वै

भवति। य एतेन हविषा यजते। य उ चैनदेव वेद। सोत्र जुहोति। बृहस्पतये स्वाहा तिष्याय स्वाहा। ब्रह्मवर्चसाय स्वाहेति ।। तै० ब्रा० ३।१।४।६

बृहस्पति से ब्रह्मवर्चसी होना चाहा। उसने बृहस्पति और तृष्य (पुष्य) को पय में नीवार का चरू दिया। इस कारण वह ब्रह्मवर्चसी हुआ। जो इस हवि से यज्ञ करता है और इसे जानता है वह ब्रह्मवर्चसी होता है। वह हवन इस प्रकार करता है—बृहस्पतये स्वाहा, तिष्याय स्वाहा, ब्रह्मवर्चसाय स्वाहा।

इस प्रकार नक्षत्रो और देवताओ के नाम चार स्थानो मे आये है। अग्रिम पृष्ठ मे नक्षत्रो और देवताओ के लिङ्ग—वचन एकत्र लिखे है। नक्षत्रो और देवताओ के नाम उन चारो स्थानो मे कही-कही भिन्न है, इसलिए उन स्थानो के लिए यहा क्रमश १,२, ३ ४, अक लिखे है। जहा चारो की एकवाक्यता है वहा कोई अक नही लिखा है। तैत्तिरीय-सहिता के अनुवाको के पदो को देखने से ज्ञात होता है कि तदन्तर्गत नक्षत्रो के लिङ्ग और वचन इतर तीन स्थलो के समान ही है। अथर्वसहिता मे नक्षत्रो के नाम इस प्रकार है—

चित्राणि साक दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि।
अष्टविंश सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भि सपर्यामि नाकम् ।।१।।
सुहव मे कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्र मृगशिर शमार्द्रा।
पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयन मघा मे ।।२।।
पुण्य पूर्वाफल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वाति सुखो मे अस्तु।
राधो विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्ट मूलम् ।।३।।
अन्न पूर्वा रासता मे अषाढा ऊर्ज ज्ये द्युत्तर आ वहन्तु।
अभिजिन्मे रासता पुण्यमेव श्रवण श्रविष्ठा कुर्वता सुपुष्टिम् ।।४।।
आ मे महच्छतभिषग्वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा सुशर्म।
आ रेवती चाश्वयुजौ भग म आ मे रयि भरण्य आ वहन्तु ।।५।।

अथ० स० १९।७

यहा नक्षत्रो के देवता नही बतलाये है। प्रथम मन्त्र से ज्ञात होता है कि नक्षत्र २८ माने है। तैत्तिरीयश्रुति मे उन चारो स्थानो मे से दो स्थलो मे अभिजित नक्षत्र का नाम आया है परन्तु स्पष्टतया कही भी यह नही बताया है कि नक्षत्र २७ है या २८। शतपथब्राह्मण मे एक स्थान (१०।५।४५) पर २७ नक्षत्र और २७ उपनक्षत्र बतलाये है। अथर्वसहिता के उपर्युक्त वाक्य मे कृत्तिका शब्द एकवचनान्त ज्ञात होता है, मृग-शिर· और पुष्य शब्द है, स्वाति शब्द ह्रस्वान्त और पुल्लिङ्गी ज्ञात होता है, अनुराधा शब्द एकवचनी है और उसके द्वितीय अक्षर नु में उ ह्रस्व ज्ञात होता है, श्रवण और

भरण्य शब्द है—यहा इतनी बाते तैत्तिरीयश्रुति से भिन्न है। शेष बातो मे दोनो की एकवाक्यता है। कुछ नक्षत्रो के लिङ्ग-वचन अस्पष्ट है पर वे तैत्तिरीयश्रुति सरीखे ही होगे तथापि प्रोष्ठप्रदा के विषय मे सन्देह है। कही-कही (२।८।१, ३।७।४) कहा है—"विचृतौ नाम तारके।" मालूम होता है यह मूल नक्षत्र के उद्देश्य से कहा गया है।

तैत्तिरीयश्रुति के नक्षत्र

अक	नक्षत्र-नाम	देवता	लिङ्ग	वचन
१	कृत्तिका	अग्नि	स्त्री०	बहु०
२	रोहिणी	प्रजापति	स्त्री०	एक०
३	१, ३, ४ मृगशीर्ष	सोम	नपुसक	एक०
	२ इन्वका	सोम	स्त्री०	बहु०
४	१, ३, ४ आर्द्रा	रुद्र	स्त्री०	एक०
	२. बाहू	रुद्र	पु०	द्वि०
५	पुनर्वसु	अदिति	पु०	द्वि०
६	तिष्य	बृहस्पति	पु०	एक०
७	आश्लेषा	सर्प	स्त्री०	बहु०
८	मघा	पितृ०	स्त्री०	बहु०
९	१, ३, ४ फल्गुनी	अर्यमा	स्त्री०	द्वि०
	२ पूर्वफल्गुनी	अर्यमा	स्त्री०	द्वि०
१०	१, ३, ४ फल्गुनी	भग	स्त्री०	द्वि०
	२ उत्तरफल्गुनी	भग	स्त्री०	द्वि०
११	हस्त	सविता	पु०	एक०
१२	चित्रा	१, २ इन्द्र	स्त्री०	एक०
		३, ४ त्वष्टा		
१३	१ स्वाती		-	
	२, ३, ४ निष्टचा	वायु	स्त्री०	एक०
१४	विशाखा	इन्द्राग्नि	स्त्री०	द्वि०
१५	अनुराधा	मित्र	स्त्री०	बहु०
१६	१, २ रोहिणी	इन्द्र	स्त्री०	एक०
	३, ४ ज्येष्ठा			

अंक	नक्षत्र-नाम	देवता	लिङ्ग	वचन
१७	१ विचृतौ	पितृ	पु०	द्वि०
	२ मूलबर्हणी	निर्ऋति	स्त्री०	एक०
	३ मूल	निर्ऋति	नपु०	एक०
	४ मूल	प्रजापति	नपु०	एक०
१८	१, ३ ४ अषाढा	आप·	स्त्री०	बहु०
	२ पूर्वाषाढा	आपः	स्त्री०	बहु०
१९	१, ३, ४ अषाढा	विवेश्वेदेव	स्त्री०	बहु०
	२ उत्तराषाढा	विश्वेदेव	स्त्री०	बहु०
×	३, ४ अभिजित्	ब्रह्म	नपु०	एक०
२०	श्रोणा	विष्णु	स्त्री०	एक०
२१	श्रविष्ठा	वसु	स्त्री०	बहु०
२२	शतभिषक्	१, २ इन्द्र	पु०	एक०
		३, ४ वरुण	पु०	एक०
२३	१, ३, ४ प्रोष्ठपद	अजएकपाद्	पु०	बहु०
	२ पूर्व प्रोष्ठपद	अजएकपाद्	पु०	बहु०
२४	१, ३, ४ प्रोष्ठपद	अहिर्बुघ्निय	पु०	बहु०
	२ उत्तर प्रोष्ठपद	अहिर्बुघ्निय	पु०	बहु०
२५	रेवती	पूषा	स्त्री०	एक०
२६	अश्वयुज	अश्विन्	स्त्री०	द्वि०
२७	अपभरणी	यम	स्त्री०	बहु०

तैत्तिरीयब्राह्मण मे नक्षत्र शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

प्रबाहुर्वा अग्रे क्षत्राण्यातेपु । तेषामिन्द्र क्षत्राण्यादत्त ।
न वा इमानि क्षत्राण्यभूवन्निति । तन्नक्षत्राणा नक्षत्रत्वम् ।।
तै० ब्रा० २।७।१८।३

इसका तात्पर्य इतना ही ज्ञात होता है कि जो क्षत नही है वे नक्षत्र हैं। निरुक्त मे नक्षत्र शब्द का "नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः" इस प्रकार निरूपण करते हुए आगे कहा है—

नेमानि क्षत्राणीति च ब्राह्मणम् ।

तैत्तिरीयब्राह्मण मे अन्यत्र एक जगह लिखा है—

> मलिल वा इदमन्तरासीत् । यदतरन् । तत्तारकाणा तारकत्वम् । यो वा इह यजते । अमु ँ सलोक नक्षते । तन्नक्षत्राणा नक्षत्रत्वम् । देवगृहा वै नक्षत्राणि । य एव वेद । गृह्येव भवति । यानि वा इमानि पृथिव्याश्चित्राणि । तानि नक्षत्राणि । तस्मादश्लीलनाम् ँ श्चित्रे नावस्येन्न यजेत । यथा पापाहे कुरुते । तादृगेव तत् ॥
>
> तै० ब्रा० १।५।२

बीच मे जल था। चूँकि [उसे तैर गयी] इसलिए तारकाओ को तारकत्व प्राप्त हुआ। जो यहा यज्ञ करता है वह उस लोक मे जाता है, इसलिए नक्षत्रो का नक्षत्रत्व है। नक्षत्र देवताओं के गृह है। जो यह जानता है वह गृही होता है। ये जो पृथिवी के चित्र है वे नक्षत्र है। अत अशुभ नामवाले नक्षत्रो मे [कोई कार्य] समाप्त नही करना चाहिए और न तो यज्ञ ही करना चाहिए। उसमे कार्य करना पापकारक दिन मे करने के समान ही है।

ये वाक्य बडे महत्व के है। तारका शब्द की व्युत्पत्ति केवल शाब्दिक कोटि ज्ञात होती है। दूसरी व्युत्पत्ति गत्यर्थक नक्ष धातु द्वारा बतलायी है। उसकी यह कल्पना कि इस लोक के पुण्यात्मा स्वर्ग मे नक्षत्र हो जाया करते है, ध्यान देने योग्य है। आज भी ससार के बहुत से राष्ट्रो की यही धारणा होगी। नक्षत्र देवो के गृह है, यह वाक्य बडे महत्व का है। यहा नक्षत्रो से सचार करनेवाले प्रत्यक्ष प्रकाशमान ग्रहो को ही देव कहा गया है। मालूम होता है "देवगृहा वै नक्षत्राणि" वाक्य के आधार पर ही "गृह्णतीति ग्रह." व्युत्पत्ति द्वारा शुक्रादि तेजोमय देवताओ को ग्रह कहने लगे होगे।

पृथ्वी के अर्थात् पृथ्वीस्थ पदार्थो के चित्र नक्षत्र है, इस व्युत्पत्ति से ज्ञात होता है कि नक्षत्रो के नाम उनकी आकृतियो द्वारा पडे होगे, पर इसके कुछ अन्य कारण भी ज्ञात होते है। अब यह देखना है कि प्रत्येक नक्षत्र की व्युत्पत्ति इत्यादि के विषय में वेदो में क्या कहा है। नक्षत्रवाचक शब्दो मे से पुनर्वसु, चित्रा, मघा और रेवती शब्द ऋक्सहिता मे नक्षत्र-भिन्न अर्थ मे आये है। वे वाक्य ये है—

> अग्नीषोमा पुनर्वसू । अस्मे धारयत रयिम् ॥
>
> ऋ० सं० १०।१९।१

सायणाचार्य ने यहा पुनर्वसु का अर्थ "पुन. पुनर्वस्तारौ स्तोतॄणामाच्छादयितारौ (देवौ)" किया है। नक्षत्रवाचक पुनर्वसु शब्द द्विवचन मे आया करता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि वह यहा भी द्विवचन मे ही है।

वाजिनीवती सूर्यस्य योषा चित्रामघा राय इश वसूनाम् ॥
ऋ० स० ७।७५।५

उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता चित्रामघा विश्वमनुप्रभूता ॥
ऋ० स० ७।७७।३

यहा चित्रामघा का अर्थ विचित्रधना है। मघ शब्द के विषय मे यास्क ने लिखा है—

मघमिति धननामधेय महतेर्दानकर्मण ।
निरुक्त १।७

स्वस्ति पथ्ये रेवती ।
ऋ० स० ५।५१।१४

उपमास्वबृहती रेवतीरिषोधि स्तोत्रस्य पवमान नोगहि ।
ऋ० स० ९।७२।९

यहा रेवती का अर्थ धनवती है।

इन चारो मे से कुछ शब्द उपर्युक्त अथवा तत्सदृश अर्थ मे कुछ अन्य स्थलो मे भी आये है। इससे अनुमान होता है कि पुनर्वसु, मघा, चित्रा और रेवती शब्द भाषा मे पहिले ही से प्रचलित थे पर बाद मे तत्तत् नक्षत्रो के दर्शनीयत्व, धनदातृत्व इत्यादि प्रत्यक्ष, कल्पित या अनुभूत गुणो के आधार पर उनका प्रयोग नक्षत्र अर्थ मे किया जाने लगा। कुछ अन्य नक्षत्रो के विषय मे भी ऐसा कहा जा सकता है।

ऐतरेयब्राह्मण की रोहिणी, मृग और मृगव्याध सम्बन्धी निम्नलिखित कथा बडी चमत्कारिक है। उसमे इन सज्ञाओ के कारण भी बताये है।

प्रजापतिर्वै स्वा दुहितरमभ्यध्यायद्दिवमित्यन्य आहुरुषस-
मित्यन्ये तामृश्यो भूत्वा रोहित भूत्तामभ्यैत् त देवा अपश्यन्न-
कृत वै प्रजापति करोतीति ते तमैछन्य एनमारिष्यत्येतमन्योन्य
स्मिन्नाविदंस्तेषा या एव घोरतमास्तन्व आसस्ता एकधा
समभरस्ता सभृता एष देवो भवत्तदस्यै तद्भतवन्नाम भवति
वै स योस्यैतदेवन्नाम वेद त देवा अब्रुवन्नय वै प्रजापतिरकृत-
मकरिम विध्येति स तथेत्यब्रवीत्स वै वो वरं वृणा इति वृणीष्वेति स

एतमेव वरमवृणीत पशूनामाधिपत्य तदस्यैतत्पशुमन्नाम
पशुमान्भवति योस्यै तदेव नाम वेद तमभ्यायत्याविध्यत्स
विद्ध उर्ध्व उदप्रपत तमेत मृगइत्याचक्षते पर उ एव मृगव्याध·
स उ एव स या रोहित् सा रोहिणी यो एवेषु स्त्रिकाण्डासो एवेषु
त्रिकाण्डा तद्वा इद प्रजापतेरेतत् सिक्तमधावत्तत् सरोभवत् ।।

ऐ० ब्रा० १३।६

प्रजापति ने अपनी कन्या की अभिलाषा की। कोई कहता है उसने द्यू की अभिलाषा की और कोई कहता है उषा की। वह रोहित हो गयी। प्रजापति ऋश्य बनकर उसके पास गया। उसे देवताओ ने देखा [और वे कहने लगे कि] प्रजापति अकृत करता है। वे उसे मारनेवाला ढूढने लगे, पर उनमे कोई वैसा न मिला तब उन्होने अपने अत्यन्त घोर तनु एकत्र किये। उनसे भूतवत् नामक एक देव हुआ। जो उसके इस नाम को जानता है वही उत्पन्न हुआ। देवताओ ने उससे कहा कि इस प्रजापति ने अकृत किया है। इसे विद्ध करो। उसने कहा, अच्छा। उसने कहा, हम आपसे वर मागते है। उन्होने कहा मागो। उसने पशुओ का आधिपत्य मागा, इसलिए उसका नाम पशुमान् [हुआ]। जो उसका यह नाम जानता है वह पशुमान होता है। [उसने] जाकर उसे वेधित किया। वह विद्ध होकर ऊपर गया। उसे मृग कहते हैं और मृगव्याध वह है [जिसने विद्ध किया]। वह विद्ध होकर ऊपर गया। उसे मृग कहते हैं और मृगव्याध वह है [जिसने विद्ध किया]। जो रोहित [हुई थी] वह रोहिणी और जो तीन काण्डो का बाण था वही यह [आकाशस्थ] त्रिकाण्ड बाण है।
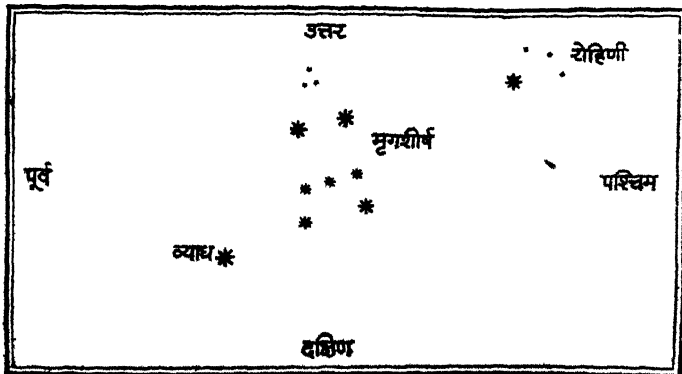
इस चित्र मे मृगनक्षत्र मे सब १० तारे दिखाये है। उनमें बीच मे एक सीधी

रेखा मे जो तीन तारे है वह त्रिकाण्ड बाण है। उसके चारो ओर के चार तारे मृग के चार पैर है और इन सब के उत्तर पास-पास जो तीन तारे है वह मृग का शीर्ष है।[1] इन दस तारो के पास आकाश मे छोटे-छोटे कुछ और भी तारे दिखायी देते है। इन सबो के सयोग से एक पुञ्ज बनता है उसे यूरोपियन ज्योतिष मे ओरायन कहते है। चित्र के इन तारो को देखने से अनुमान होता है कि रोहिणी, मृग और मृगशीर्ष नाम आकृति द्वारा पडे होगे। जब ये तारे खमध्य मे आकर पश्चिम ओर लटकने लगते है उस समय रोहिणी को मृग और मृग को व्याध खदेडता हुआ ज्ञात होता है। रोहिणीप्रजापतिकथा की कल्पना सम्भवत इसी आधार पर हुई होगी।

तैत्तिरीयब्राह्मण (१।१।१०) मे यह कथा कुछ भिन्न है। उसका साराश यह है कि "प्रजापति ने प्रजाए उत्पन्न की। उसके वीर्य से विराट् उत्पन्न हुई। देवासुरो ने उसका ग्रहण किया। प्रजापति ने कहा कि यह मेरी है। वह पूर्व दिशा मे गयी। प्रजापति उधर गया। इस प्रकार वह सरक्षण के लिये अनेको स्थानो मे घूमी"। अन्त मे कहा है कि—

सा तत ऊर्ध्वारोहत्। सा रोहिण्यभवत्। तद्रोहिण्यै रोहिणित्वम्।
रोहिण्यामग्निमादधीत। स्व एवैन योनौ प्रतिष्ठितमाधत्ते।
ऋध्नोत्येतेन॥

तै० ब्रा० १।१।१०।६

आकाश मे आरोहण करने के कारण रोहिणी मे रोहिणीत्व आया। दूसरे स्थान मे रोहिणी शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

प्रजापति रोहिण्यामग्निमसृजत। त देवा रोहिण्यामादधत।
ततो वै ते सर्वान् रोहानरोहन्। तद्रोहिण्यै रोहिणित्वम्।
रोहिण्यामग्निमाधत्ते। ऋध्नोत्येव। सर्वान् रोहान् रोहति॥

तै० ब्रा० १।१।२

१. मैंने यहां उत्तर के छोटे-छोटे तीन तारों को ऐतरेयब्राह्मणानुसार शीर्ष कहा है और ज्योतिषसिद्धान्तों में भी इन्हीं को शीर्ष कहा है (आगे नक्षत्राधिकार देखिये)। श्री बाल गंगाधर तिलक ने अपने ओरायन (Orion) नामक इंगलिश ग्रन्थ मे बाण के तीन, उसके दक्षिण के दो तारों में से पश्चिमस्थित एक और इस चित्र में न दिखाये हुए इनके आस-पास के कुछ अन्य तारों को मिलाकर मृगशीर्ष की आकृति बतलायी है।

तैत्तिरीयब्राह्मण मे कुछ अन्य नक्षत्रो की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

> दैवा वै भद्रा सन्तोग्निमाधित्सग। तेषामनाहितोग्निरासीत्। अथैभ्यो वाम वस्वपाक्रामत्। ते पुनर्वस्वोरादधत। ततो वै तान् वाम वसुपावर्तत। य पुरा भद्रः सन् पापीयान्त्स्यात्। सपुनर्वस्वोरग्निमा धीत। पुनरेवैन वाम वसुपावर्तते। भद्रो भवति ॥
>
> तै० ब्रा० १।१।२

"भद्र रहते हुए देवताओ ने अग्नि का आधान करने की इच्छा की [परन्तु] उनकी अग्नि अनाहित ही रह गयी। इस कारण उत्तम वसु उनके पास से निकल गये। उन्होने पुनर्वसु [नक्षत्र] मे आधान किया। उस समय उत्तम वसु पुन उनके पास आये"। पुनर्वसु शब्द के पुन. और वसु द्वारा अन्य दो-तीन स्थानो मे कुछ और कल्पनाए की हुई है। अनुराधादि कुछ नक्षत्रसज्ञाओ की व्युत्पत्ति निम्नलिखित वाक्यो मे है—

> अन्वेषामरात्स्मेति। तदनूराधा। ज्येष्ठमेषामवधिष्मेति। तत् ज्येष्ठघ्नी। मूलमेषामवृक्षामेति। तन्मूलबर्हणी। यन्नासहन्त। तदषाढा। यदश्रोणत्। तच्छ्रोणा। यदशृणोत् तच्छ्रविष्ठा। यच्छतमभिषज्यन्। तच्छतभिषक्। प्रोष्ठपदेषूदयच्छन्त। रेवत्यामरवन्त। अश्वयुजोरयुञ्जत। अपभरणीष्वपावहन्।
>
> तै० ब्रा० १।५।२

इसके भाष्य मे सायणाचार्य ने लिखा है कि देवासुरयुद्ध के विषय मे देवताओ का कथन है कि "ज्येष्ठा नक्षत्र मे हमने इनमे का ज्येष्ठ मारा इसलिए ज्येष्ठघ्नी . . " इत्यादि।

हस्त नक्षत्र के पाच तारो के सयोग से हाथ के पञ्जे सरीखी आकृति बनती है, इसलिए उसका नाम हस्त पडा। निम्नलिखित तैत्तिरीयब्राह्मणोक्त नक्षत्रीय प्रजापति की आकृति की कल्पना ध्यान देने योग्य है।

> यो वै नक्षत्रियं प्रजापति वेद। उभयोरेन लोकयोर्विदुः। हस्त एवास्य हस्त। चित्रा शिर'। निष्ट्यां हृदयं। ऊरू विशाखे। प्रतिष्ठानूराधा। एष वै नक्षत्रिय' प्रजापति' ॥
>
> तै० ब्रा० १।५।२।२

. .हस्त (नक्षत्र) उसका हाथ, चित्रा शिर, निष्ट्या हृदय, विशाखा के दो तारे दो जघा और अनुराधा खडा रहने का स्थान है। यह नक्षत्रिय प्रजापति है।

यदि कल्पना करे कि इस पुरुष ने मस्तक की एक ओर हाथ उठाया है तो वर्तमान आकाशस्थिति से यह आकृति ठीक मिलती है, केवल स्वाती हृदयस्थान मे नही आती पर स्वाती तारा की निजगति Proper motion अन्य तारो की अपेक्षा बहुत अधिक है, अत वह प्राचीन काल मे किसी समय हृदयस्थान मे अवश्य रहा होगा।

नक्षत्र विषयक उपर्युक्त वचनो से नक्षत्रो की तारासख्या जानने मे बडी सहायता मिलती है। मृग के शीर्षादि स्थानो मे स्थित सब तारो के सयोग से जो पुञ्ज बनता है उसका नाम मृग है और हस्त के पाच तारो के समूह का नाम हस्त है, इसलिए मृग और हस्त शब्दो के एकवचनीय होते हुए भी उनमे तारो की सख्या अधिक है। मृगशीर्ष की उपर्युक्त इन्वका सज्ञा बहुवचन मे ही है। शेष नक्षत्रो मे से रोहिणी, आर्द्रा, तिष्य चित्रा, स्वाती, ज्येष्ठा, मूल, श्रोणा, शतभिषक् और रेवती, ये १० एकवचन मे है। इससे उनकी तारासख्या एक-एक ही सिद्ध होती है। पुनर्वसु, पूर्वफल्गुनी, उत्तरफल्गुनी, विशाखा और अश्वयुज, ये पाच द्विवचनी है, अत इनमे दो-दो तारे है। शेष कृत्तिका आश्लेषा, मघा, अनूराधा, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, श्रविष्ठा, पूर्वप्रोष्ठपद, उत्तरप्रोष्ठपद, और अपभरणी, ये १० नाम बहुवचन मे है, अत इनके तारो की सख्या दो से अधिक होनी चाहिए। इनमे से निम्नलिखित वाक्य द्वारा कृत्तिका नक्षत्र के ७ तारे सिद्ध होते है।

अम्बायै स्वाहा दुलायै स्वाहा। नितत्न्यै स्वाहा भ्रयन्त्यै स्वाहा।
मेघयन्त्यै स्वाहा वर्षयन्त्यै स्वाहा। चुपुणीकायै स्वाहा।।

तै० ब्रा० ३।१।४

नक्षत्रेष्टि के कृत्तिकेष्टि मे ये वाक्य आये है। उन सातो के अम्बा, दुला, नितत्नी, अभ्रयन्ती, मेघयन्ती, वर्षयन्ती और चुपुणीका, ये सात नाम है।

चतस्रो देवीरजरा श्रविष्ठा।।

तै० ब्रा० ३।१।२

इससे श्रविष्ठा के चार तारे ज्ञात होते है। तैत्तिरीयब्राह्मण ३।१।२ के निम्न-लिखित वाक्य से उत्तर प्रोष्ठपदा के चार तारे ज्ञात होते है।

प्रोष्ठपदासो अभिरक्षन्ति सर्वे। चत्वार एकमभि कर्म देवाः।
प्रोष्ठादास इति यान् वदन्ति। ते बुध्नियं परिषद्य्ँ स्तुवन्त।
अहिँ रक्षन्ति नमसोपसद्य।।

तै० ब्रा० ३।१।२

शतपथब्राह्मण मे लिखा है कि अन्य नक्षत्र एक, दो, तीन या चार है पर ये कृत्तिकाए बहुत है।

एक द्वेत्रीणि चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्राण्यथैता एव भूयिष्ठा यत्कृत्तिका ।।
शत० ब्रा० २।१।२।२

इससे सिद्ध होता है कि कृत्तिका को छोड अन्य किसी भी नक्षत्र के तारे चार से अधिक नही है, कम से कम कृत्तिका से अधिक तो नही ही है। वेदोत्तरकालीन ज्योतिष-ग्रन्थोक्त और तैत्तिरीयश्रुति मे बतायी हुई तारो की सख्या और देवताओ की तुलना आगे द्वितीय भाग मे करेगे।

वेदो मे २७ नक्षत्रो के अतिरिक्त कुछ अन्य तारों का भी उल्लेख है।

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तन्ददृशे कुहचिद्दिवेयु: ।।
ऋ० सं० १।२४।१०

ये जो ऋक्ष[1] [आकाश के] उच्च प्रदेश मे रखे हुए रात को दिखाई देते है वे दिन मे कही चले जाते है। शतपथब्राह्मण २।१।२।४ में लिखा है—

सप्तर्षीन् ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते।

प्राचीनकाल मे सप्तर्षियो को ऋक्ष कहते थे। ताण्ड्यब्राह्मण (१।५।५) के निम्नलिखित वाक्य मे भी सप्तर्षियो का उल्लेख है।

ऊर्ध्वं सप्तऋषीनुपतिष्ठस्व ।

तैत्तिरीयब्राह्मण मे एक स्थान पर कृत्तिकादि कुछ नक्षत्रो में अग्न्याधान करने को कहा है और उसके बाद चित्रा नक्षत्र सम्बन्धी कुछ बाते है। वह इस प्रकार है—

कालकञ्जा वै नामासुरा आसन्। ते सुवर्गाय लोकायाग्नि-
मचिन्वत। पुरुष इष्टकामुपादधात् पुरुष इष्टकाम्।
स इन्द्रो ब्राह्मणो ब्रुवाण इष्टकामुपाधत्त। एषा
मे चित्रानामेति। ते सुवर्गं लोकमाप्प्रारोहन्। स इन्द्र इष्ट-
कामावृहत्। ते वाकीर्यन्त। ये वाकीर्यन्त। त ऊर्णविभयोभवन्
द्वावुदपतताम्। तौ दिव्यौ श्वानावभवताम् ।।
तै० ब्रा० १।१।२

१. यूरोपिअन ज्योतिष में सप्तर्षि नामक नक्षत्रपुञ्ज का ऋक्ष (रीछ) इस अर्थ का ही नाम है।

स्पष्ट है कि यहा किसी दो तारो या तारकापुञ्जो के विषय में कहा है कि दो ऊपर गये और वे दिव्य श्वान हो गये।

शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ।।२।। ये त्रय कालकञ्जा दिवि देवा इव श्रिता । तान् सर्वानह्व ऊतये ।।

अथ० स० ६।८०

यहा एक दिव्य (आकाशीय) श्वा और आकाश मे देवताओ के समान तीन कालकञ्ज बताये हैं ।

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ ।।

ऋ० स० १०।१४।११

यहा दो श्वानो का उल्लेख है। यह मन्त्र अथर्वसहिता (१८।२।१२) मे भी "यौ० पथिषदि नृचक्षसा"—इस प्रकार है।

मृग नक्षत्र के पूर्व मे आकाशगङ्गा की दोनो ओर दो तारकापुञ्ज है। यूरोपिअन ज्योतिष मे उन्हे Canis major (बृहल्लुब्धक) और Canis minor (लघु लुब्धक) कहते हैं। प्रथम मे लुब्धक (व्याध) और द्वितीय मे पुनर्वसु के चार तारो मे से दक्षिण के दो तारे बडे हैं। मालूम होता है ये ही दोनो पुञ्ज वेदोक्त दो श्वान है।

दैवी नाव स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारूहेमा स्वस्तये ।

ऋ० स० १०।६३।१०

इस ऋचा मे आकाशनौका का उल्लेख है। यह मन्त्र अथर्वसहिता ७।६।३ मे भी है।

हिरण्मयी नौचरद्धिरण्यबन्धना दिवि । तत्रामृतस्य पुष्य देवा कुष्टमवन्वत ।।

अथ० स० ५।४।४, ६।९५।२

अथर्वसहिता के इस मन्त्र मे भी आकाश की सुवर्ण नौका का उल्लेख है। यहा पुष्य शब्द का सम्बन्ध पुष्य नक्षत्र से दिखायी देता है। यूरोपियन ज्योतिष मे पुनर्वसु और पुष्य के दक्षिण ओर के पासवाले ही एक तारकापुञ्ज का नाम Navis (नौ) है। मालूम होता है यही वेदोक्त नौ है।

जब वेदो में वर्णित ज्योतिष सम्बन्धी अन्य विषयों का विवेचन करेंगे। ऋक्-सहिता में ग्रहण के विषय मे लिखा है—

यत्वा सूर्यं स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुर । अक्षेत्रविद्यथामुग्धो भुवनान्यदीधयु ।५।

ग्रहण

स्वर्भानोरधयीन्दद्र मायाऽअवो दिवो वर्तमाना अवाहन् ।
गूल्ह सूर्य तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाऽविन्ददत्रि ।।६।।

मामामिम तव सन्तमत्र इरस्या द्रुग्धो भियसा निगारित् । त्व मित्रो असि सत्यराधास्तौ मेहावत वरुणश्च राजा ।।७।। ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजान सपर्यन् कीरिणा देवान्नमसोपशिक्षन् । अत्रि. सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरपमाया अधुक्षत।।८।। य वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसा विन्ध्यदासुर । अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यन्ये अशक्नुवन्।।९।।
ऋ० स० ५।४०

हे सूर्य, जब आसुर स्वर्भानु ने तम से तुम्हे आच्छादित किया उस समय सब भुवन ऐसे दिखलायी पडे मानो [वहा का] सम्पूर्ण जनसमूह [अपना-अपना] स्थान भूलकर मुग्ध हो गया है ।।५।। हे इन्द्र ! तुम द्यू के नीचे रहनेवाली स्वर्भानु की मायाओ का नाश करते हो। अपव्रत तम से आच्छादित सूर्य को अत्रि ने तुरीय ब्रह्म द्वारा प्राप्त किया ।।६।। हे अत्रे ! अन्न की इच्छा से द्रोह करनेवाला वह आसुर इस [अवस्था को प्राप्त हुए] मुझे भयोत्पादक अन्धकार द्वारा निगल न जाय। तुम मित्र हो और सत्यधन हो। तुम और वरुण दोनो यहा मेरा रक्षण करो ।।७।। अत्रि ने ब्राह्मण ग्रावा की योजना करके [देवताओ के लिए सोम निकाल कर] और इस प्रकार स्तोत्रो से देवताओ की पूजा कर और नमस्कार कर स्वर्भानु की मायाए दूर की और सूर्य के प्रकाश के स्थान मे [अपना] नेत्र रख दिया (उसने देखा कि सूर्य निस्तमस्क हो गया है)।[1] जिस सूर्य को स्वर्भानु ने अन्धकार से आच्छादित किया उसे अत्रि ने प्राप्त किया। दूसरा कोई प्राप्त न कर सका ।।९।।

इस वर्णन मे दो तीन बाते बडे महत्व की है । पहिली यह कि ग्रहण का यह वर्णन अत्यन्तभीतिदर्शक नही है। सूर्यग्रहण यद्यपि बहुत होते है परन्तु एक स्थान मे उनमे से कुछ ही दिखायी देते है और उसमे भी खग्रास बहुत कम होता है । इगलैण्ड मे सन् ११४० की २०वी मार्च को खग्रास सूर्य ग्रहण हुआ था। उसके बाद पुन सन् १७१५ के अप्रैल की २२वी तारीख को हुआ अर्थात् बीच के ५७५ वर्षो मे खग्रास नही हुआ। भारतवर्ष मे खग्रास सूर्यग्रहण हुए बिना इतना समय बीतना असम्भव है तथापि यह प्रसङ्ग एक मनुष्य के जीवन में एक दो बार ही आता है। उपर्युक्त ऋचा मे खग्रास सूर्यग्रहण का

१. सायण ने तृतीय पद का एक अन्य अर्थ किया है। ऋचा के शेष भाग का भी उनका अर्थ कुछ भिन्न है।

वर्णन है पर वह अत्यन्त आश्चर्य या भीति दर्शक नही है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय लोग ग्रहण से पूर्ण परिचित हो चुके थे और उसके सम्बन्ध मे किसी प्रकार की भीति नही रह गयी थी। दूसरी बात यह है कि केवल अत्रि ने ही सूर्य को प्राप्त किया, अन्य कोई प्राप्त न कर सका, इस कथन मे ज्ञात होता है कि उस समय केवल अत्रिकुल के पुरुषो को ही सूर्यग्रहण का ज्ञान था। अब यहा प्रश्न यह है कि ग्रहण लगने पर एक छोटा सा बच्चा भी जान सकता है कि ग्रहण लगा है, फिर अत्रि के अतिरिक्त अन्य कोई सूर्य को नही छुडा सका—इसका अर्थ क्या है? इसका उत्तर यह हो सकता है कि ग्रहण-मोक्षकाल केवल अत्रि ही जानते थे अर्थात् औरो की अपेक्षा उनका ग्रहणसम्बन्धी ज्ञान अधिक था। इससे ज्ञात होता है कि ग्रहण के स्पर्श-मोक्ष-काल का सूक्ष्मतर ज्ञान न रहा हो, पर जैसा कि प्राचीन खाल्डियन लोगो के विषय मे कहा जाता है कि वे यह जानते थे कि ६५८६ दिनो मे अर्थात् २२३ चान्द्रमासो मे पहिले के ही ग्रहण पुन -पुन आते है, उसी प्रकार अत्रिकुल के पुरुषो को भी इतना ज्ञान अवश्य रहा होगा। तीसरी बात यह कि यद्यपि उपर्युक्त ऋचा मे एक बार कहा है कि स्वर्भानु सूर्य को न निगले तथापि उसने तम से सूर्य को आच्छादित किया, ऐसा तीन-चार बार कहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वर्भानु तम से भिन्न है। अमावस्या को चन्द्रमा सूर्य मे प्रवेश करता है—इस अर्थ का द्योतक ऐतरेयब्राह्मण का एक वाक्य ऊपर पृष्ठ मे लिखा है। उससे ज्ञात होता है कि उस समय कदाचित् लोग ग्रहण का वास्तविक कारण न जानते रहे हो, पर उस ओर उनका झुकाव हो चुका था, इसमे सन्देह नही है। चन्द्रमा और सूर्य को स्वर्भानु निगल जाता है, यह कल्पना पीछे से प्रबल हुई होगी।

ताण्ड्यब्राह्मण मे ग्रहण का उल्लेख ४।५।२, ४।६।१३, ६।६।८, १४।११। १४, १५, २३।१६।२ इन पाच स्थानो मे है। उनमे यह वर्णन है कि स्वर्भानु ने तम से सूर्य को वेधित किया। उन पाचो मे से ६।६।८ और १४।११।१४, १५ इन दो स्थानो मे कहा है कि अत्रि ने भास (तेज) द्वारा अन्धकार का नाश किया और शेष तीन स्थानो मे देवो को अन्धकार का नाशक कहा है पर वहा भी देव शब्द का अर्थ सूर्यरश्मि ज्ञात होता है। गोपथब्राह्मण ८।१९ मे यह वर्णन है कि स्वर्भानु ने तम से सूर्य को वेधित किया और अत्रि ने उसका अपनोद किया। शतपथब्राह्मण ५।३।२२ मे कहा है कि स्वर्भानु ने तम से सूर्य को वेधित किया और सोम तथा रुद्र ने उस तम का नाश किया।

ग्रह

नव ग्रहो मे से सूर्य-चन्द्रमा का उल्लेख वेदो मे सैकडो स्थानो मे है और राहु-केतु अदृश्य ही है, अवशिष्ट भौमादि पाच ग्रह ही वास्तविक सूर्यमाला के ग्रह है, परन्तु वेदो

मे हमे इन पाचो अथवा इनमे से कुछ के विषय मे स्पष्ट उल्लेख कही नही मिला, फिर भी अनुमान करने योग्य स्थल बहुत से है। ऋक्सहिता १।१०५।१० मे लिखा है—

अमी ये पञ्चोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिव । देवत्रा नु प्रावच्य सध्रीचीनानि वावृदुवित्त मे अस्य रोदसी ।।

ये जो महाप्रबल पाच [देव] विस्तीर्ण द्युलोक के मध्य मे रहते है उनका मै स्तोत्र बना रहा हूँ। एक साथ आनेवाले होते हुए भी [आज] वे सब चले गये है।

यद्यपि यहा देव शब्द प्रत्यक्ष नही है तथापि पूर्वापर-सन्दर्भ से ज्ञात होना है कि वह विवक्षित अवश्य है। यहाँ ये एक साथ आनेवाले कहे है, पर आकाश मे इन पाचो के एक साथ दिखायी देने का प्रसङ्ग बहुत कम आता है और बुध-शुक्र तो आकाश के मध्य भाग मे कभी भी दिखायी नही देते पर 'दिव मध्ये' का अर्थ "आकाश मे" भी हो सकता है और केवल उस स्थिति को छोड कर जब कि कोई ग्रह अस्त रहता है, रात भर मे किसी न किसी समय उन पाचो का दर्शन हो ही जाता है। सृष्टिचमत्कार और प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले तेज ही वेदोक्त देव है और देव शब्द का धात्वर्थ भी 'प्रकाश करनेवाला' ही है। जैसे दो देव कहने से अश्विनो का और ३३ देव कहने से द्वादश आदित्य इत्यादिको का ग्रहण होता है उस प्रकार कोई पाच देव प्रसिद्ध नही है। ऋक्सहिता मे एक अन्य स्थान (१०।५५।३) मे भी पञ्चदेव शब्द आया है, अत पञ्चदेव का अर्थ ग्रह हो सकता है। उपर्युक्त "देवगृहा वै नक्षत्राणि" अर्थात् नक्षत्र देवो के गृह है, वाक्य से भी इस कथन की पुष्टि होती है और इसी वाक्य से यह भी ज्ञात होता है कि वेदकाल मे ग्रहो का ज्ञान था।

हमारे यहा वृद्ध से बालक तक प्राय गुरु और शुक्र को और उसमे भी शुक्र को विशेषत पहचानते है। कभी तो वह प्रात काल पूर्व मे बहुत दिनो तक दिखायी देता रहता है और कभी सायकाल मे पश्चिम ओर। वह लगभग प्रति २० मासो मे ९ मास पूर्व मे प्रात काल दिखायी देता है। हमारे प्राचीन ऋषि जो कि उषाकाल के पहिले ही जाग्रत हो स्नानादि से निवृत्त हो कर यजन करने लग जाते थे उन्हे प्रत्येक २० मासो मे आठ नौ मास दिखाई देनेवाला और शेष महीनो मे दिखाई न देनेवाला तथा आकाश की ओर देखने से ध्यान को बलात् अपनी ओर आकर्षित कर लेनेवाला शुक्र सरीखा तेज आश्चर्य और आनन्ददायक न हुआ होगा एवञ्च इतर तारो की अपेक्षा इसकी गति कुछ भिन्न है अर्थात् ज्योतिषशास्त्र की भाषानुसार वह ग्रह है, यह बात उनके ध्यान मे नही आयी होगी—यह सर्वथा असम्भव है। वस्तुत प्राचीनतम वेदसूक्तो के रचनाकाल मे ही इसका ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद उन्होने गुरु और शुक्र

मे देवत्व की कल्पना की[1]। वेदो मे अश्विनौ नाम के जो दो देवता प्रसिद्ध है उनकी कल्पना गुरु और शुक्र द्वारा ही हुई है—यह मेरा मत है। शुक्र प्रत्येक २० मास मे ९ मास प्रात -काल पूर्व मे दिखायी देता है और प्राय हर बार लगभग दो-तीन मास तक गुरु उसके साथ रहता है। उसमे भी कुछ दिनो तक तो वह बहुत ही पास रहता है। उसके बाद शुक्र की गति अधिक होने के कारण गुरु उसके पीछे अर्थात् पश्चिम ओर रह जाता है और उसका उदय क्रमश शुक्र के पहिले होने लगता है। कुछ दिनो मे यह परिस्थिति आ जाती है कि प्रात काल पूर्वक्षितिज मे शुक्रोदय के समय गुरु पश्चिम-क्षितिज के पास तक पहुचा रहता है और उस समय ऐसा ज्ञात होता है कि मानो गुरु ने सम्पूर्ण आकाश पार कर लिया है'। गुरु और शुक्र के आश्विनत्व की कल्पना उस समय हुई होगी जब कि वे एकत्र रहे होगे। कुछ दिनो बाद उनमे से एक (शुक्र) को सदा सूर्य के पास और दूसरे (गुरु) को सम्पूर्ण आकाश मे भ्रमण करते हुए देखकर निम्नलिखित कल्पना हुई होगी।

ईमान्यद्वपुषे वपुश्चक्र रथस्य येमथु ।
पर्यन्या नाहुषा युगा मह्ना रजासि दीयथ ॥

ऋ० स० ५।७३।१

हे अश्विनो! आपने अपने रथ का एक तेजस्वी चक्र सूर्य के पास उसकी शोभा के लिए नियमित कर रखा है [और] दूसरे चक्र मे . .. आप लोको की प्रदक्षिणा करते है।

यहा सूर्य के पास वाले चक्र की शुक्र से और दूसरे चक्र की गुरु से बडी उत्तम सङ्गति लगती है।

१. पुस्तक का यह भाग मैंने ३० दिसम्बर सन् १८८७ को लिखा है। यह टिप्पणी भी उसी समय की है। गत २६ सितम्बर को पूर्व मे शुक्र का और २१ नवम्बर को गुरु का उदय हुआ अर्थात् २१ नवम्बर से वे दोनो प्रातःकाल पूर्व में एक साथ दिखायी देने लगे। इधर दो-तीन दिनो से वे बिलकुल पास-पास दिखायी दे रहे है। सन् १८८८ की दूसरी जनवरी को उनका अन्तर परमाल्प होगा अर्थात् युति होगी। पहिली जून के लगभग पूर्व मे शुक्र का उदय होने के समय गुरु पश्चिम मे डूबता हुआ दिखायी देगा और उसी के आसपास शुक्र पूर्व मे अस्त होगा। कल प्रातः एक ज्योतिषानभिज्ञ मनुष्य मुझसे कहने लगा कि देखिये ये दो ग्रह पास-पास दिखायी दे रहे है, अतः इस परिस्थिति मे हमारे प्राचीन ऋषियों का ध्यान गुरु-शुक्र की ओर आकर्षित नहीं हुआ होगा, यह 'सर्वथा असम्भव है।

निरुक्त मे अश्विनो की गणना द्युस्थानीय देवो मे है और उनका समय अर्थात् उनकी स्तुति इत्यादि का काल मध्यरात्रि के वाद बताया है। ऋग्वेद के आश्विनसूक्त मे भी उषा का कुछ न कुछ सम्बन्ध आता है और हमारे ऋषि उप काल मे जाग्रत होते थे। अत उस समय उनका ध्यान आकाश की ओर अवश्य जाता रहा होगा। इनसे भी उपर्युक्त कल्पना की पुष्टि होती है। इन हेतुओ से मुझे निश्चय प्रतीत होता है कि गुरु-शुक्र ही वेदोक्त अश्विनौ है।

बृहस्पति के ग्रहत्व के विषय मे स्वतन्त्र कल्पना भी मिलती है।

बृहस्पति प्रथमञ्जायमानो महो ज्योतिप परमे व्योमन्।

ऋ० म० ४।५०।४ अथ० म० २०।८८।४

बृहस्पति प्रथम महान् प्रकाश के अत्यन्त उच्च स्वर्ग मे उत्पन्न हुआ। यह वाक्य तैत्तिरीयब्राह्मण (२।८।२) मे भी है। मालूम होता है, इसमे बृहस्पति तारा रूपी देवता माना गया है। तैत्तिरीयब्राह्मण (३।१।१) के निम्नलिखित वाक्य मे कहा है कि बृहस्पति प्रथम तिष्य नक्षत्र के पास उत्पन्न हुआ।

बृहस्पति प्रथमञ्जायमानो तिष्य नक्षत्रमभिसम्बभूव ॥

बृहस्पति का परमशर लगभग १ अश ३० कला है अत उसकी निकटयुति २७ नक्षत्रो मे से केवल पुष्य, मघा, विशाखा (आल्फालिब्रा), अनुराधा, शतभिषक् और रेवती, इन छ के साथ ही हो सकती है। बृहस्पति और पुष्य नक्षत्र के योगतारे की कभी-कभी इतनी निकटयुति हो जाती है कि वे दोनो मिलकर एक हो जाते है। इससे ज्ञात होता है कि गुरु जब पुष्य के योगतारा से इस प्रकार युति करके थोडा आगे बढा होगा और उससे भिन्न दिखायी देने लगा होगा उस समय लोगो ने यह कल्पना की होगी कि बृहस्पति तिष्य नक्षत्र के पास उत्पन्न हुआ। इस प्रकार उसकी गति अर्थात् उसके ग्रहत्व का ज्ञान हुआ होगा। तिष्य नक्षत्र का देवता बृहस्पति है। आजकल भी गुरु-पुष्य-योग बडा उत्तम माना जाता है।

शुक्र

ऋक्सहिता १०।१२।३ मे लिखा है कि—यह वेन उदित हुआ है।

अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसोविमाने ॥

यह सूत्र वेनदेवतात्मक है। वर्णन के ढग से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह सूक्त आकाशस्थ किसी बृहत् ज्योति अर्थात् तारा या ग्रह के उद्देश्य से कहा गया है। वेद के कुछ अन्य वर्णनो से ज्ञात होता है कि यह सूक्त शुक्र विषयक है। यज्ञो मे जिन पात्रो मे सोमरस रखा जाता है उन्हे सोमरस ग्रहण करने के कारण ग्रह कहते हे। यज्ञ के समय पहिले सोम को ग्रह मे रखते है और बाद मे उसकी आहुति देते हे। उस आहुति को भी शायद ग्रह ही कहते है। अग्निष्टोम यज्ञ मे शुक्र और मन्थी नाम के दो ग्रह रहते है। शतपथब्राह्मण (४।२।१) मे उनके विषय मे कहा है—

चक्षुषी हवा अस्य शुक्रामन्थिनौ। तद्वा एष एव शुक्रो य एष तपनि तद्यदेष एतत्तपति तेनैषशुक्रश्चन्द्रमा एव मन्थी ।।१।। इमामु हैके शुक्रस्य पुरोरुच कुर्वन्ति। अय वेनश्चोदयात् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमान इति तदेतस्य रूप कुर्मो य एष तपतीति यदाह ज्योतिर्जरायूरिति ।।८।।

शुक्र और मन्थी इसके चक्षु हैं। यह जो प्रकाशित होता है वही शुक्र है। यह प्रकाशित होता है इसलिए शुक्र है। चन्द्रमा ही मन्थी है। 'अय वेनश्चोदयत्
ऋचा को ही कोई-कोई शुक्र की पुरोरुच् करते हैं। 'ज्योतिर्जरायु' कहा है। 'य एष तपति' ऐसा इसका रूप करते है अर्थात् इसके रूप का वर्णन करते हे। इससे सिद्ध होता है कि वेन और शुक्र एक ही पदार्थ है। यहा चन्द्रमा को मन्थिन कहा है परन्तु मन्थिन् शब्द से शनि का भी ग्रहण करने का सम्प्रदाय है।

लैटिन भाषा मे शुक्र का एक नाम वीनस् Venus है। शुक्र का ग्रीक रूप Kυpιos था। ग्रीक लोग शुक्र देवता को स्त्रीलिङ्गी मानते थे इसलिए उनका रूप Kυpris हुआ। इसका लैटिन रूप Cypris है। Venus और Kυpris अथवा Cypris शब्द का एक ही अर्थ के द्योतक हैं और इसका वेन और शुक्र से सादृश्य है[1] इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल मे जिस समय यूरोपीय और भारतीय आर्य एकत्र रहते थे उसी समय उन्हे शुक्र के ग्रहत्व का ज्ञान हो चुका था।

वस्व्यसि रुद्रास्यदित्यस्यादित्यासि शुक्रासि चन्द्रासि बृहस्पतिस्त्वा सुम्ने रण्वतु ।।
तै० स० १।२।५

[हे सोमक्रयणि] तू वस्वी (वस्वादि देव रूप) है, रुद्रा है, अदिति है, आदित्या है, शुक्रा है, चन्द्रा है। बृहस्पति तुझे [इस] सुखप्रदेश मे रमण करावे।

१. यह सादृश्य भी बाल गंगाधर तिलक ने सुझाया।

यह कथन उस गाय के विषय मे है जिसे देकर सोम मोल लेना पडता है। आदित्य सम्बन्धी गाय का नाम आदित्या है। गायो के विशेषण होने के कारण यहा आदित्या, शुक्रा और चन्द्रा प्रयोग स्त्रीलिङ्गी है। मालूम होता है यहा भी शुक्रा प्रयोग शुक्र ग्रह के ही उद्देश्य से किया गया है।

उत्पाता पार्थिवान्तरिक्षाछ्छ नो दिविचरा ग्रहा. ॥७॥ शन्नो भूमिर्वेपमाना शमुल्कानिर्हतञ्च यत् ॥८॥ नक्षत्रमुल्काभिहत शमस्तु ॥९॥ शन्नो ग्रहाश्चान्द्रमसा शमादित्याश्च राहुणा ॥ शन्नो मृत्युर्धूमकेतु शं रुद्रास्तिग्म तेजस ॥१०॥
अथ० स० १९।९

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अथर्वसहिताकाल मे कुछ आकाशस्थ पदार्थो के लिए ग्रह शब्द का प्रयोग किये जाने लगा था। राहुसहित चान्द्रमस ग्रह कल्याणकारण हो, यह वाक्य चन्द्रसूर्य ग्रहणकारक ग्रहो के उद्देश्य से और 'दिविचर ग्रह कल्याणकारक हो' वाक्य शुक्रादि ग्रहो के उद्देश्य से कहा गया होगा।

जर्मन प्रो० वेबर का कथन है कि हिन्दुओ ने नक्षत्र भी बाबिलोनिअन लोगो से लिये है पर उन्होने भी लिखा है कि—ग्रहो के नामो से ज्ञात होता है कि हिन्दुओ ने उनका अन्वेषण स्वय किया है।[१]

हम समझते है, वेदकाल मे भारतीयो को बृहस्पति और शुक्र ग्रहो का ज्ञान रहा होगा और यह यदि सत्य है तो उन्हे कभी-कभी बृहस्पति इतना ही तेजस्वी दिखाई देनेवाले मगल तथा सदा सूर्य के पास दिखाई देनेवाले बुध और मन्दगति शनि का भी ज्ञान अवश्य रहा होगा।

उल्का और धूमकेत

अथर्वसहिता के उपर्युक्त (१९।९) वाक्यो मे उल्का और धूमकेतु का वर्णन है। उल्का से ताडित नक्षत्र का फल वराहमिहिर ने विस्तारपूर्वक लिखा है।

शुभकाल

मालूम होता है, वेदकाल मे भी लोगों की यह धारणा थी कि प्रत्येक कर्म के लिए शुभ मुहूर्त आवश्यक है। ऋक्सहिता ७।८८।४ में लिखा है—

स्तोतार विप्र सुदितत्वे आह्ला या यान्नुद्यावस्ततनन्यादुषासः।

१. Weber's History of the Indian Literature, p. 251

ग्रन्थो मे भी वधू-वर के गणनासम्बन्धी तथा अन्यान्य बहुत से नियम मेष, सिहादि नामोत्पन्न अर्थो के ही आधार पर बनाये गये है।

वर्ष का आरम्भ

ऋग्वेदसहिता मे सब ऋतुओ के नाम एकत्र कही नही है और सवत्सर अर्थ मे अनेको स्थानो मे शरद् और हेमन्त शब्दो का ही प्रयोग किया गया है पर अन्य सभी वेदो मे जहा-जहा सब ऋतुओ के नाम आये है सर्वत्र आरम्भ वसन्त से है। दोनो यजुर्वेदो मे वसन्त सवत्सर का मुख कहा है, मास मध्वादि है और मधु-माधव वसन्त के मास बतलाये है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि यजुर्वेदसहिताकाल मे और तदनुसार आगे भी सभी वैदिक समयो मे वर्ष का आरम्भ वसन्तारम्भ और मधुमास के आरम्भ मे मानते थे। व्यवहारार्थ क्वचित् अन्य ऋतुओ मे भी मानते रहे हो, पर मुख्यत वर्षारम्भ वसन्त के ही साथ होता था। चूकि उस समय मास चान्द्र थे और ऋतुए मुख्यत सौरवर्षानुसार होती है अत एक बार यदि सौर चान्द्र वर्षो का आरम्भ एक साथ हुआ तो आगे दोनो मे लगभग ११ दिन का अन्तर पड जाने के कारण प्रतिवर्ष चान्द्रवर्षारम्भ मे वसन्तारम्भ नही होता रहा होगा तथापि अधिकमास प्रक्षेपण की पद्धति के कारण मधुमास मे ही किसी समय वसन्तारम्भ होता रहा होगा। मधुमासारम्भ मे वर्षारम्भ मानने की पद्धति यजुर्वेदसहिताकाल मे और उसके बाद भी थी, इसमे सन्देह नही है। वैदिककालीन कुछ अन्य विषयो का विवेचन इस (प्रथम) भाग के उपसहार मे करेगे।

ज्योतिषशास्त्र

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि वेदकाल मे ज्योतिषशास्त्र ने बहुत कुछ स्वरूप प्राप्त कर लिया था। वाजसनेयिसहिता मे लिखा है—

प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शनम्।   वा० स० ३०।१०, तै० ब्रा० ३।४।१
यादसे गणकम्।   वा० स० ३०।२०

इन वाक्यो मे नक्षत्रदर्श और गणक शब्द आये है। इसी प्रकार तैत्तिरीयब्राह्मण मे कुछ ऋषियो के भी नाम आये है जो कि इस विद्या मे प्रवीण थे। एक स्थान (१।५।२) मे लिखा है कि मात्स्य नामक ऋषि ने एक शुभ समय मे एक कार्य किसी द्वारा कराया और वह श्रेयस्कर हुआ। वर्षान्तर्गत मास, मासो के दिन, रात्रि, मुहूर्त और प्रतिमुहूर्तों के नाम ऊपर लिखे है। वे जिस अनुवाक मे है उसी के अन्त मे लिखा है :—

जनको ह वैदेह । अहोरात्रै समाजगाम । त ँ होचु । यो वा अस्मान् वेद ।
विजरस्पाप्मानमेति ।।९।। अभिस्वर्ग लोक जयति । अहीनाहा-
श्वत्थ्य । सावित्र विदाञ्चकार ।।१०।। स हहँ सो भूत्वा । स्वर्ग लोक-
मियाय । देवभागो ह श्रौतर्ष । सावित्र विदाञ्चकार ।।११।।
गूषो ह वार्ष्णेय आदित्येन समाजगाम ।।

तै० ब्रा० ३।१०।८

वैदेह जनक अहोरात्रो के साथ गया। उन्होने उससे कहा। जो हमे जानता है वह पापरहित होता है। स्वर्गलोक मे जाता है। अश्वत्थ के पुत्र अहीन ने सावित्र विद्या जानी। वह हस होकर स्वर्ग गया। श्रौतर्ष देवभाग ने सावित्र विद्या जानी। वार्ष्णेय गूष आदित्य मे सङ्गत हुआ।

वह वर्णन वेदान्तविषयक ज्ञात होता है पर पूर्वापरसन्दर्भ से यह भी स्पष्ट है कि इसमे ज्योतिषशास्त्र का भी कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। इससे अनुमान होता है कि वेदकाल मे ज्योतिष एक स्वतन्त्र शास्त्र बन चुका था।

यद्यपि ऊपर सब वेदवाक्यो का विवेचन एकत्र किया गया है तथापि वे लोक मे साथ ही नही, बल्कि क्रमश प्रकट हुए होगे अर्थात् उनमे वर्णित ज्योतिषज्ञान कालक्रमानुसार क्रमश बढा होगा। और भी एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिन पदार्थो का वर्णन वेदो मे नही है उनके विषय मे यह नही कहा जा सकता कि उस समय लोग उन्हे जानते ही नही रहे होगे। ऐसा अनुमान करना अनुचित होगा। ऋक्-सहिता मे ग्रहण का उल्लेख है, पर सब नक्षत्रो के नाम नही है और तैत्तिरीयश्रुति मे नक्षत्रो का उल्लेख अनेको स्थानो मे है, पर ग्रहण का नाम तक नही है अत केवल इसी आधार पर यह कह देना कि उस समय ग्रहण का ज्ञान नही था, अविवेकपूर्ण होगा। अब अन्त मे एक महत्त्वपूर्ण वाक्य दिखाकर यह प्रकरण समाप्त करते है।

[देवदिन] एक वा एतद्देवानामह । यत्सवत्सर ।।

तै० ब्रा० ३।९।२२

इसमे सवत्सर, को देवताओ का एक दिवस कहा है। वेदोत्तरकालीन ज्योतिष मे यह प्रसिद्ध है कि देवता उत्तरध्रुवस्थान मे मेरु पर रहते है और वहा ६ मास का दिन और ६ मास की रात्रि होती है। पता नही चलता, यहा उपपत्ति समझकर सवत्सर को देवो का दिवस कहा है या बिना समझे। कुछ भी हो, वेदोत्तरकालीन ग्रन्थो मे युग-मान जिस वर्ष द्वारा बताया है उसकी बहुत कुछ उपपत्ति इस वाक्य मे है। इसका अधिक विवेचन आगे करेगे।

द्वितीय विभाग

वेदाङ्गकाल

प्रथम प्रकरण-वेदाङ्ग

१ ज्योतिष

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द:शास्त्र वेद के छ अङ्ग माने जाते हैं। सम्प्रति प्रत्येक वेद के पृथक्-पृथक् केवल सूत्र (कल्प) उपलब्ध है और तत्तत् शाखाओ के वैदिक ब्राह्मण उन्हे पढते है। शेष पाच अङ्ग सबके एक ही है ओर उनके पठन-पाठन का प्रचार केवल ऋग्वेदियो मे है। अन्य वेदो वाले उन्हे नही पढते। इन छ अङ्गो मे ज्योतिष का ग्रन्थ, जिसे कि आजकल वैदिक ब्राह्मण पढते है, ३६ श्लोकात्मक है, परन्तु इसके अतिरिक्त एक और भी वेदाङ्गज्योतिष नाम का ग्रन्थ उपलब्ध है जिस पर कि सोमाकर की टीका है। सोमाकर कृत टीका के अन्त मे 'शेष-कृत यजुर्वेदाङ्गज्योतिष' इस अर्थ के कुछ शब्द लिखे हैं। इन दोनो ग्रन्थो मे कुछ पाठ-भेद भी है। इनसे भिन्न तीसरा एक अथर्वज्योतिष नाम का ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है। आरम्भ मे ये तीनो तीन वेदो के भिन्न-भिन्न ज्योतिष चाहे न रहे हो, पर पारस्परिक भेद समझने मे सौकर्य होने के लिए इनका पृथक्-पृथक् तीन नाम रखना आवश्यक है। अत जिसे ऋग्वेदी पढते है उसे यहा ऋग्वेदज्योतिष कहेगे और जिस पर सोमाकर की टीका है उसे यजुर्वेदज्योतिष कहेगे। अथर्ववेदज्योतिष तो बिलकुल भिन्न ही है। पहिले दोनों मे बडा साम्य है। ऋग्ज्योतिष के ३६ श्लोको मे से ३० श्लोक यजुर्वेद-ज्योतिष मे आये है और इसके अतिरिक्त १३ श्लोक और भी है। इस प्रकार दोनो ग्रन्थो मे सब (३६+१३)=४९ श्लोक हैं। समान बतलाये हुए श्लोको में से एक श्लोक अर्थ की दृष्टि से उभयत्र समान होते हुए भी शब्द रचना और छन्द मे बिलकुल भिन्न है।

टीकाकार सोमाकर के उत्पत्तिकाल इत्यादि का कुछ भी पता नही चलता। अन्य किसी भी ग्रन्थ या टीका मे उनका नाम नही है। उनकी विस्तृत और सक्षिप्त दो टीकाए है। विस्तृत टीका के आरम्भ मे उनका नाम है और अन्त मे लिखा है 'शेष-

कृत वेदाङ्ग ज्योतिष, समाप्त'। दूसरी टीका पहिली का ही सक्षिप्त स्वरूप है। उसमे सोमाकर का नाम या शेषकृत इत्यादि शब्द बिलकुल नही है। सोमाकर की टीका केवल नाममात्र की टीका है। जो श्लोक बिलकुल सरल है और जिनका गणित से कोई सम्बन्ध नही है, उनको छोड शेष श्लोको का अर्थ सोमाकर को बिलकुल नही लगा है। अन्य किसी ज्योतिषी ने गणित दृष्ट्या वेदाङ्गज्योतिष का विचार नही किया है। ज्योतिष के अन्य ग्रन्थो से प्राय भिन्न होने के कारण इसका वर्णन अन्यत्र कही नही मिलता। जो कुछ मिला वह यथाप्रसङ्ग आगे लिखा है। प्राचीन होने के कारण ज्योतिषशास्त्र के इतिहास मे इस ग्रन्थ की योग्यता बहुत बड़ी है। अत इसका विचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

सन् १८७९ के लगभग प्रो० थीबी ने यजुर्वेदज्योतिष पर विचार किया। उन्होने उसका अनुवाद भी किया जिसकी एक छोटी-सी किताब छपी है। सोमाकर से अधिक लगभग ९ श्लोको का अर्थ उन्होने लगाया है। जितने श्लोको का अर्थ लग चुका था उन सबका मैने सन् १८८१ मे मराठी अनुवाद किया था। कैलासवासी कृष्णशास्त्री गोडबोले ने इसकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया था, पर वे भी थीबो साहब की अपेक्षा अधिक श्लोक नही लगा सके। कै० वा० जनार्दन बालाजी मोडक बी० ए० ने सन् १८८५ मे ऋग्वेदज्योतिष और यजुर्वेद ज्योतिष का मराठी अनुवाद छपवाया। उन्होने और भी दो तीन श्लोको की व्याख्या की जिनका अर्थ थीबो साहब को नही लगा था। साराश यह है कि अब तक दोनो ग्रन्थो के ४९ श्लोको मे से २८ की व्याख्या हो चुकी थी पर अब मैने ३६ श्लोक लगा लिये है।

आजकल ब्राह्मण केवल ऋग्वेदज्योतिष पढते है। यजुर्वेदज्योतिष भारत के प्राय किसी भी प्रान्त मे नही पढा जाता। पहिले भी इसका अध्ययन होता था या नही, इसका ठीक पता नही लगता। आजकल जो वेदाङ्गज्योतिष प्रचलित है उसके बहुत से श्लोक अर्थ की दृष्टि से अशुद्ध मालूम होते है, पर विचित्रता यह है कि अशुद्ध होते हुए भी भारत के सभी प्रान्तो मे ब्राह्मणो का पाठ एक है और वैदिक लोग इसे साक्षात् वेद से कम नही समझते है। उनसे यदि कहा जाय कि अमुक पाठ अशुद्ध है, उसके स्थान मे अमुक शुद्ध प्रयोग किया कीजिए तो वे इस बात को मानने के लिए कभी भी तैयार न होगे। इतना तो निश्चित है कि यह ग्रन्थ आरम्भ मे शुद्ध ही रहा होगा और अशुद्धिया इसमे बाद मे आयी होगी पर पता नही लगता, ये कब और कैसे आईं। इसका अन्वेषण करना वेद और वेदाङ्ग के इतिहास का एक महत्वशाली कार्य होगा। हम तो समझते है, मूल वेदाङ्गज्योतिष किसी समय लुप्त हो गया होगा और बाद मे किसी के सग्रह मे रखी हुई अशुद्ध अथवा पढने मे कठिन हस्तलिखित पुस्तक द्वारा किसी अर्था-

नभिज्ञ ने सर्वप्रथम उसका अध्ययन आरम्भ किया होगा और तत्पश्चात् सर्वत्र उसी का प्रचार हो गया होगा। अन्य किसी भी वेद-वेदाङ्ग की ऐसी स्थिति नही है अत. सम्कृतवाङमय के इतिहास-शोधको को इसका विचार करना चाहिए। मैने कुछ श्लोको का विचार किया है और उनके सम्बन्ध मे जो कुछ ज्ञात हुआ है आगे लिखा है। वेदाङ्गो मे जैसे व्याकरण के आचार्य पाणिनि और छन्द शास्त्र के पिङ्गल है उसी प्रकार ऋग्वेदज्योतिष के आचार्य लगध है। इसके द्वितीय श्लोक मे लिखा भी है 'कालज्ञान प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मन.'। अप्टाध्यायी आरम्भ करने के पहिले दो श्लोक पढे जाते है जिनमे पाणिनि की वन्दना की है। यह कथन भी वैसा ही ज्ञात होता है। सम्भव है सम्पूर्ण वेदाङ्गज्योतिष लगध ने न बनाया हो। उनके बाद अन्य किसी ने उनके मतानुसार शेष भाग की रचना की हो। यूरोपियन लोग लगध को लगड या लगढ कहते है, परन्तु मै समझता हूँ रोमनलिपि मे 'ध' ठीक न लिखा जाने के कारण यह गडबडी हुई होगी। मालूम होता है इसी कारण प्रो० वेबर को सन्देह हुआ है कि 'लगड' यदि 'लाट' है तो उसका समय ईसवी सन् की पाचवी शताब्दी होगी, पर बात ऐसी नही है। हमारे वैदिको का पाठ नि सशय लगध ही है।[1]

दोनो ज्योतिष ग्रन्थो के जिन श्लोको का अर्थ लग चुका है उनमे कुछ बडे महत्व के है। आगे उनका अर्थ लिखा है। पहिले ऋग्ज्योतिष का वह पाठ लिखा है जो कि सम्प्रति वैदिक समाज मे प्रचलित है। वही श्लोक यदि यजुर्वेदज्योतिष मे भी है और सोमाकर पाठ भिन्न होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से उपयोगी है तो वह पाठान्तर भी लिखा है। आवश्यकतानुसार कही-कही उसमे भी पाठभेद किया गया है। यजुर्वेद ज्योतिष मे जो अधिक श्लोक है उनमे से जिनका अर्थ लगा है वे भी यहा लिखे है। ऋग्वेदज्योतिष की व्याख्या करते समय जहा तक बन पडा वैदिकपाठ ज्यो का त्यो रखने का प्रयत्न किया है।

१. डाक्टर केर्न ने आर्यभटीय सिद्धान्त छपाया है। उसकी प्रस्तावना में उन्होने उस सिद्धान्त को 'भट प्रकाशिका' टीका का कुछ उद्धरण मूल की मलयालम लिपि की पुस्तक के अनुसार दिया है। उसमें टीकाकार ने एक जगह 'तथा च लगड़ाचार्यः' कहते हुए वेदाङ्ग ज्योतिष के दो श्लोक लिखे है। उसमें लगड़ शब्द आया है। देखना चाहिए उस प्रान्त में वैदिक ब्राह्मण ऋग्वेदज्योतिष पढ़ते समय लगड़ कहते है या और कुछ। कदाचित् मलावारी लिपि में 'ड' और 'ध' का अत्यन्त साम्य होने के कारण यह गड़बड़ हुई हो।

खोजने मे सुभीता होने के लिए ऋक्‌पाठ और यजु पाठ के श्लोक क्रमश लिखकर अको द्वारा दिखा दिया है कि एक पाठ का प्रत्येक श्लोक दूसरे पाठ का कौन-सा श्लोक पडता है।

ऋक्	यजु	ऋक्	यजु	ऋक्	यजु
१	१	१३	०	२५	३२
२	०	१४	१८	२६	३३
३	२	१५	१७	२७	३४
४	१३	१६	३८	२८	३५
५	६	१७	२४	२९	०
६	७	१८	३९	३०	४३
७	८	१९	०	३१	२३
८	९	२०	२२	३२	५
९	१०	२१	२१	३३	०
१०	१५	२२	४०	३४	०
११	१९	२३	४१	३५	४
१२	२७	२४	४२	३६	३

यजु	ऋक्	यजु.	ऋक्	यजु	ऋक्
१	१	१५	१०	३०	०
२	३	१६	०	३१	०
३	३६	१७	१५	३२	२५
४	३५	१८	१४	३३	२६
५	३२	१९	११	३४	२७
६	५	२०	०	३५	२८
७	६	२१	२१	३६	०
८	७	२२	२०	३७	०
९	८	२३	३१	३८	१६
१०	९	२४	१७	३९	१८
		२५	०		
११	०	२६	०	४०	२२
१२	०	२७	१२	४१	२३
१३	४	२८	०	४२	२४
१४	०	२९	०	४३	३०

१. ऋग्वेदज्योतिष—

पञ्चसवत्सरमय युगाध्यक्ष प्रजापतिम् ।
दिनर्त्वयनमासाङ्ग प्रणम्य शिरसा शुचिः ।।१।।
प्रणम्य शिरसा कालमभिवाद्य सरस्वतीम् ।
कालज्ञान प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मन ।।२।।

अर्थ––दिवस, ऋतु, अयन. और मास जिसके अङ्ग है ऐसे पञ्चसंवत्सरमय युगाध्यक्ष प्रजापति को शिरसा नमस्कार कर शुद्ध होता हुआ [म] काल को नमस्कार कर और सरस्वती का अभिवादन कर महात्मा लगध के बतलाये हुए कालज्ञान का वर्णन करता हू ।

वेदाङ्गज्योतिष मे पञ्चवर्षात्मक युग के पाचो सवत्सरों का नाम न होना थोडा आश्चर्यजनक मालूम होता है, परन्तु आगे ८वे श्लोक की व्याख्या मे प्रसङ्गवशात् सोमाकर द्वारा उद्धृत कुछ गर्ग के वचन लिखे है, उनमे पञ्चसवत्सरात्मक युग के स्वरूप का थोडा सा वर्णन आया है और वह वेदाङ्गज्योतिष सरीखा ही है । उसमे पाचो सवत्सरो के नाम है । वराहमिहिर ने बृहत्सहिता मे सवत्सरो के नाम और उनके अधिप लिखे है । उनके कुछ अधिप गर्गोक्त अधिपो से भिन्न है । ऊपर पृष्ठ .. मे लिखे हुए तैत्तिरीय ब्राह्मण के 'अग्निर्वाव सवत्सर . . .'मन्त्र मे अग्नि आदित्य इत्यादि शब्द सवत्सरो के अधिप सरीखे मालूम होते है, पर वे चार ही है और उनके नाम भी कुछ भिन्न है । उन सबो को यहा एकत्र लिखते है ।

सवत्सरनाम	स्वामी		
	(तै० ब्रा०)	(गर्ग)	(वराह)
१. संवत्सर	अग्नि	अग्नि	अग्नि
२. परिवत्सर	आदित्य	आदित्य	आदित्य
३. इदावत्सर	चन्द्रमा	वायु	चन्द्रमा
४. अनुवत्सर	वायु	चन्द्रमा	प्रजापति
५. इद्वत्सर	×	मृत्यु	रुद्र

निरेक द्वादशार्धब्दं द्विगुण गतसज्ञिकम् ।
षष्टया षष्टया युत द्वाभ्या पर्वणा राशिरुच्यते ।।४।।

यहा ऋक्पाठोक्त 'द्वादशार्धब्दं' और 'सज्ञिक' के स्थान मे यजु.पाठोक्त क्रमश. 'द्वादशाभ्यस्त' और 'सयुत' लेने से ठीक अर्थ लगता है।

अर्थ—[पञ्चसवत्सरात्मक युग की वर्तमान सवत्सरसख्या मे से] एक निकाल दो। शेष मे १२ का गुणा करो। गत [मास] जोड दो। योग को द्विगुणित करो। ६० के प्रत्येक पर्यय मे दो-दो जोडते जाओ। [योग को] पर्वो की राशि कहते है।

उदाहरण—युग के द्वितीय वर्ष के आरम्भ मे पर्वसख्या लानी है, अत यहा गत सवत्सर हुआ एक। इसलिए पर्वसख्या हुई १×१२×२=२४। इसी प्रकार तृतीय वर्ष के सप्तम मास के अन्त मे पर्वसख्या (२×१२+७)×२+२=६४ होगी।

करण ग्रन्थो के आरम्भ मे जैसे अहर्गण लाना पडता है उसी प्रकार यहा पर्वगण लाये है।

इस श्लोक से सिद्ध होता है कि ६० पर्व अर्थात् ३० चान्द्रमास के बाद एक अधिमास होता है। ऋक्पाठ के कुछ अन्य श्लोको द्वारा भी ऐसा अनुमान होता है। यजु पाठ के ३७वे श्लोक मे तो इसका स्पष्ट उल्लेख है।

स्वरार्कमेके सोमार्कौ यदा साक सवासवौ ।
स्यात्तदादियुग माघस्तप शुक्लो दिनत्यच ।।५।।

यहा निम्नलिखित यजु-पाठ द्वारा ठीक अर्थ लगता है।

स्वराक्रमेते सोमार्कौ यदा साक सवासवौ ।
स्यात्तदादि युग माघस्तप शुक्लोऽयन ह्युदक् ।।

अर्थ—जब कि चन्द्रमा और सूर्य एकत्र वासव (धनिष्ठा) नक्षत्र मे प्राप्त होकर आकाश मे आक्रमण करते है उस समय युग, माघ [मास], तपस् [ऋतु], शुक्ल [पक्ष और] उदगयन का आरम्भ होता है।

प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचान्द्रमसावुदक् ।
सार्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयो सदा ।।६।।

'चान्द्रमसौ' के स्थान मे यजु पाठ 'चन्द्रमसौ' है और वही शुद्ध भी है।

अर्थ—श्रविष्ठा के आरम्भ मे सूर्य और चन्द्रमा उत्तर की ओर मुडते है और आश्लेषा के आधे पर दक्षिण की ओर। सूर्य सर्वदा माघ और श्रावण [मासो मे] [क्रमश उत्तर और दक्षिण की ओर मुडता है] ।।६।।

इस अयनस्थिति का समय निश्चित किया जा सकता है। अन्त मे इसका सवि-स्तर विवेचन किया है।

धर्मवृद्धिरपा प्रस्थ. क्षपाह्रास उदग्गतौ।
दक्षिणे तौ विपर्यस्तौ षण्मुहूर्त्यंयनेन तु ।।७।।

(सूर्य के) उत्तरायण मे उदक के एक प्रस्थ इतना दिन बढता है और रात्रि घटती है। दक्षिणायन की स्थिति इसके विपरीत होती है। अयन मे ६ मुहूर्त्त [वृद्धि होती है] ।।७।।

एक प्रस्थ दिनमान वृद्धि का अर्थ है २$\frac{४}{१}$ नाडी वृद्धि। आगे १७वे श्लोक मे इसका विचार किया गया है। ६ मुहूर्त दिनमानवृद्धि किस स्थान मे होती है, इसका विचार अन्त मे किया है।

द्विगुण सप्तम चाहुरयनाद्य त्रयोदश।
चतुर्थं दशमञ्चैव द्विर्युग्माघं बहुलेप्यृतौ ।।८।।

यजु पाठ—प्रथम सप्तम चाहुरयनाद्य त्रयोदशम्।

यहां अर्थ की दृष्टि से यजु पाठ ही ठीक मालूम होता है।

अर्थ—प्रतिपदा, सप्तमी, त्रयोदशी, चतुर्थी और दशमी (तिथिया) दो बार अयनादि (होती थी। वे क्रमश') दो-दो (अयनो की) आदि (होती थी)। कृष्णपक्ष मे भी (अयन होता था) ।।८।।

शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, सप्तमी और त्रयोदशी तथा कृष्णपक्ष की चतुर्थी और दशमी एवं पुन. शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, सप्तमी, त्रयोदशी तथा कृष्णपक्ष की चतुर्थी और दशमी ये १० तिथियां पाच सवत्सरों मे होनेवाले सूर्य के १० अयनो की आद्य तिथिया हैं। ऊपर बतला चुके है कि अयन माघ और श्रावण मे होते है अत ये क्रमश. माघ और श्रावण की तिथिया है अर्थात् पहिली माघ की और दूसरी श्रावण की है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए।

वेदाङ्गज्योतिष-पद्धति[1] के अनुसार इस श्लोक का यही अर्थ ठीक मालूम होता है। अग्रिम गर्ग के वचनो से भी यही अर्थ निकलता है।

यहां प्रथमं, सप्तमं इत्यादि प्रयोग नपुसकलिङ्गी है। यह बडी अडचन है क्योंकि तिथि शब्द का प्रयोग नपुसकलिङ्ग मे कही नही मिलता। प्राय: स्त्रीलिङ्ग में और

१. जहाँ केवल 'वेदाङ्गज्योतिष' लिखा हो अर्थात् ऋग्ज्योतिष या यजु:-ज्योतिष का स्पष्ट नाम न हो वहाँ ऋग्यजुर्वेदाङ्गज्योतिष समझना चाहिए।

क्वचित् पुलिङ्ग मे पाया जाता है। यदि इसका अर्थ यह करे कि 'प्रथम इत्यादि शब्द नपुसकलिङ्गी है अत इन्हे दिन का विशेषण मान कर यह बतलाया है कि मास के अमुक सावन दिन मे अयन होता है, तो यह पद्धति के विरुद्ध मालूम होता है। अतः इन्हे तिथि ही मानना पडता है।

वसुस्त्वष्टाभगोऽजश्च मित्र सर्पाश्विनौ जलम्।
धाता कश्चायनाद्याश्चार्धपञ्चनभस्त्वृतु ॥९॥
यजु पाठ— वसुस्त्वष्टाभवोऽजश्च मित्र. सर्पाश्विनौ जलम्।
धाता कश्चायनाद्या ऽस्युर्धपञ्चनभस्त्वृतु ॥

यजु पाठ द्वारा ठीक अर्थ लगता है। वह इस प्रकार है—

वसु, त्वष्टा, भव, अज, मित्र, सर्प, अश्विनौ, जल, धाता और ब्रह्मा (जिनके स्वामी है वे नक्षत्र धनिष्ठा, चित्रा, आर्द्रा, पूर्वभाद्रपदा, अनुराधा, आश्लेषा, अश्वयुज्, पूर्वाषाढा, उत्तरफल्गुनी और रोहिणी) अयनादि थे। साढे चार नक्षत्रो की ऋतु होती है॥९॥

पाचवे सवत्सर मे प्रथम अयनारम्भ के दिन उत्तरफल्गुनी नक्षत्र आता है और वेदाङ्गज्योतिष मे उसका देवता अर्यमा बतलाया है, इसलिए यहा धाता शब्द का अर्थ नक्षत्र है।

उपर्युक्त दोनो श्लोको का अर्थ सोमाकर द्वारा उद्धृत निम्नलिखित गर्गवचनो से स्पष्ट हो जाता है।

अयनान्यृतवो मासा पक्षास्त्वृक्ष तिथिर्दिनम्।
तत्वतो नाधिगम्यन्ते यदाब्दो नाधिगम्यते ॥१॥
यदा तु तत्त्वतोऽब्दस्य क्रियतेऽधिगमो बुधै.।
तदैवैषाममोह स्यात्क्रियाणाञ्चापि सर्वश ॥२॥
तस्मात्सवत्सराणान्तु पञ्चाना लक्षणानि च।
कर्माणि च पृथकत्वेन दैवतानि च वक्ष्यति ॥३॥
यदा माघस्य शुक्लस्य प्रतिपद्युत्तरायणम्।
सहोदयं श्रविष्ठाभि· सोमार्कौ प्रतिपद्यतः ॥४॥

तदात्र नभस शुक्लसप्तम्या दक्षिणायनम् ।
सार्पार्धे कुरुते युक्ति चित्राया च निशाकरे ॥५॥

प्रथम सोऽग्निदैवत्यो नाम्ना सवत्सर स्मृत ।
यदा माघस्य शुक्लस्य त्रयोदश्यामुदग्रवि ॥६॥

युक्ते चन्द्रमसा रौद्रे वासव प्रतिपद्यते ।
चतुर्थ्यां नभस कृष्णे तदार्को दक्षिणायनम् ॥७॥

सार्पार्धे कुरुते सूर्यस्त्वजयुक्ते निशाकरे ।
द्वितीयश्चार्कदैवत्य स नाम्ना परिवत्सर ॥८॥

कृष्णे माघस्य दशमी वासवादौ दिवाकर ।
उदीची दिशमातिष्ठन् मैत्रस्थेऽनुष्णतेजसि ॥९॥

नभसश्च निवर्तेत शुक्लस्य प्रथमे तिथौ ॥
चन्द्रार्काभ्या सुयुक्ताभ्या सार्पार्धे वायुदैवतम् ॥१०॥

तदा तृतीयञ्च त प्राहुरिदासवत्सर जना ।
सप्तम्या माघशुक्लस्य वासवादौ दिवाकर ॥११॥

अश्विनीसहिते सोमे यदाशामुत्तर व्रजेत् ।
सोमे चाप्येनसयुक्ते सार्पार्धस्थो दिवाकर ॥१२॥

व्रजेद् याम्या शुक्लस्य श्रावणस्य त्रयोदशीम् ।
चतुर्थमिन्दुदैवत्यमाहुश्चाथानुवत्सरम् ॥१३॥

फल्गुनीमुत्तरा प्राप्ते सोमे सूर्ये च वासवे ।
यद्युत्तरायण कृष्णचतुर्थ्यां तपसो भवेत् ॥१४॥

श्रावणस्य च कृष्णस्य सार्पार्धे दशमी पुन ।
रोहिणीसहिते सोमे रवे· स्याद्दक्षिणायनम् ॥१५॥

इद्वत्सर स विज्ञेय पञ्चमो मृत्युदैवत· ।
एवमेतद्विजानीयात् पञ्चवर्षस्य लक्षणम् ॥१६॥

इन गर्गवचनो द्वारा तथा वेदाङ्गज्योतिष के उपर्युक्त दो श्लोको द्वारा निष्पन्न अर्थ अगले पृष्ठ पर दिये कोष्ठक में लिखा है ।

अङ्क	सवत्सर	उत्तरायणारम्भ			दक्षिणायनारम्भ		
		तिथि	सूर्य-नक्षत्र	चन्द्र-नक्षत्र	तिथि	सूर्य-नक्षत्र	चन्द्र नक्षत्र
१	सवत्सर	माघ शु १	धनिष्ठा	धनिष्ठा	श्रा शु ७	आश्लेषार्ध	चित्रा
२	परिवत्सर	,, शु १३	,,	आर्द्रा	,, कृ ४	,,	पूर्वाभाद्र
३	इदावत्सर	,, कृ १०	,,	अनुराधा	,, शु. १	,,	आश्लेषा
४	अनुवत्सर	,, शु ७	,,	अश्विनी	,, शु १३	,,	पूर्वाषाढा
५	इद्वत्सर	,, कृ ४	,,	उत्तरा-फल्गुनी	,, कृ १०	,,	रोहिणी

जौद्राघ खेश्वेहीरोषाचिन्मूषण्य सोमाधान ।
रेमघ्राश्वाओज. स्तृष्वोहर्येष्ठा इत्यृक्षा लिङ्गै। ।१४।।

इस श्लोक मे निम्नलिखित पाठभेद करना ही पडेगा ।

जौद्राग खेश्वेहीरोषाचिन्मूषण्य सूमाधान. ।।
रेमृघास्वापोज कृष्योह ज्येष्ठा इत्यृक्षा लिङ्ग ।।

यजु पाठ इसी प्रकार है, ऐसा कह सकते है । यहा २७ नक्षत्रो के नाम सकेत द्वारा बतलाये है। वे इस प्रकार—

१ जौ=अश्वयुजौ अश्विनी ।
२ द्रा=आर्द्रा ।
३ ग =भग पूर्वाफल्गुनी ।
४ खे=विशाखे ।
५ श्वे=विश्वे (देव)=उत्तराषाढा ।
६ हि =अहिर्बुध्नय=उत्तराभाद्रपदा ।
७ रो=रोहिणी ।
८ षा=आश्लेषा ।
९ चित्=चित्रा ।
१० मू=मूल ।
११ षक्=शतभिषक् ।
१२ ण्य =भरण्य ।
१३ सू=पुनर्वसू ।
१४ मा=अर्यमा=उत्तराफाल्गुनी ।
१५ धा =अनुराधा ।
१६ न =श्रवण ।
१७ रे=रेवती ।
१८ मृ=मृगशीर्ष ।
१९ घा=मघा ।

२० स्वा=स्वाती। २४ ष्य=पुष्य ।
२१ प=आप पूर्वाषाढा। २५ ह=हस्त ।
२२ अज =अजएकपाद=पूर्वाभाद्रपदा। २६ ज्ये=ज्येष्ठा।
२३ कृ=कृत्तिका २७ ष्ठा=श्रविष्ठा।

यहा सकेत के लिए कुछ नक्षत्रो के आद्य और कुछ के अन्त्य अक्षर और किसी-किसी के देवताओ के अन्त्य अक्षर लिये है। अश्विनी से आरम्भ कर पाच-पाच नक्षत्रो के अन्तर से आगे के नक्षत्र लिये है। अश्विनी के बाद उससे छठा नक्षत्र आर्द्रा और तत्पश्चात् आर्द्रा से छठा नक्षत्र पूर्वाफाल्गुनी लिया है। अग्रिम नक्षत्रो मे भी यही क्रम है। इस नियम की उपपत्ति इस प्रकार है—

युग मे पर्व १२४ होते है। इसीलिए वेदाङ्गज्योतिष मे नक्षत्रो के १२४ अश माने गये है।[1] यह श्लोक और यजु पाठ का २५ वा श्लोक इस कल्पना के आधार है। युग मे तिथिया १८६० होती है और सूर्य नक्षत्रो की ५ परिक्रमा करता है (यजु -पाठ का श्लोक २८ और ३१ देखिए) अर्थात् एक तिथि मे नक्षत्र का $\frac{२७ \times ५}{१८६०} = \frac{९}{१२४}$ भाग भोगता है। आगे के कोष्ठक में इसी नियम के अनुसार दिखाया गया है कि सूर्य प्रत्येक पर्व के अन्त मे किस नक्षत्र के किस अश पर रहता है।[2] उससे विदित होता है कि उपर्युक्त श्लोक मे जो नक्षत्र (अश्विनी) सर्वप्रथम लियागया है उसमे सूर्य जब-जब (५, ३०, ५५, ७९, १०४ पर्वो के अन्त मे) आता है तब-तब या तो अश्विनी के प्रथम अश मे रहता है या किसी सख्या मे २७ का गुणा कर गुणनफल मे १ जोडने से जो सख्या आती है, तत्तुल्य अश पर रहता है। इसी प्रकारजो नक्षत्र (आर्द्रा) दूसरी बार आया है, पर्वान्ति मे सूर्य उसके द्वितीय अश पर अथवा किसी सख्या से गुणित २७ मे २ जोड देने से जो सख्या आती है (२९, ५६, ८३, ११० इत्यादि) तत्तुल्य अश पर आता है। नक्षत्र के अश मे २७ का भाग देने से जो शेष बचता है वही अक कोष्ठक के अन्तिम खाने मे लिखा है। इसके तुल्य ही उपर्युक्त श्लोक मे उस नक्षत्र का क्रमाक भी है। वेदाङ्गज्योतिष के सब श्लोको का ठीक अर्थ न लगने के कारण इस पद्धति की योजना का ठीक हेतु समझ में नही आता। हम समझते है, इससे सम्बन्ध रखनेवाले कुछ श्लोक लुप्त भी हो गये होगे।

१. ऋक्पाठ के १८वें और २१ वे श्लोको में जो कलाएं मानी गयी हैं उनका सम्बन्ध चन्द्रमा की गति से है।

२. यहां नक्षत्र का १२४वां भाग अंश समझना चाहिए।

पञ्चबर्षात्मक युग मे पर्वान्त के समय सूर्य की स्थिति

संवत्सर

मास	पर्वक्रम	गतनक्षत्र	वर्तमान नक्षत्र अंश	वर्तमान नक्षत्र नाम	वर्तमान नक्षत्र २७भा शेष		मास	पर्वक्रम	गतनक्षत्र	वर्तमान नक्षत्र नाम अंश	वर्तमान नक्षत्र नाम नाम	वर्तमान नक्षत्र नाम २७भा शेष
माघ	१	१	११	शतभिषक्	११		श्रावण	१३	१४	१९	मघा	१९
,,	२	२	२२	पू० भाद्रपदा	२२		,,	१४	१५	३०	पू० फल्गुनी	३
फाल्गुन	३	३	३३	उ० भाद्रपदा	६		भाद्रपद	१५	१६	४१	उ० फल्गुनी	१४
,,	४	४	४४	रेवती	१७		,,	१६	१७	५२	हस्त	२५
चैत्र	५	५	५५	अश्वयुज	१		आश्विन	१७	१८	६३	चित्रा	९
,,	६	६	६६	भरणी	१२		,,	१८	१९	७४	स्वाती	२०
वैशाख	७	७	७७	कृत्तिका	२३		कार्तिक	१९	२०	८५	विशाखा	४
,,	८	८	८८	रोहिणी	७		,,	२०	२१	९६	अनुराधा	१५
ज्येष्ठ	९	९	९९	मृग	१८		मार्गशीर्ष	२१	२२	१०७	ज्येष्ठा	२६
,,	१०	१०	११०	आर्द्रा	२		,,	२२	२३	११८	मूल	१०
आषाढ	११	११	१२१	पुनर्वसू	१३		पौष	२३	२५	५	उ० अषाढा	५
,,	१२	१३	८	आश्लेषा	८		,,	२४	२६	१६	श्रवण	१६

परिवत्सर

मास	पर्व-क्रम	गत-नक्षत्र	वर्तमान नक्षत्र		
			अंश	नाम	२७ भा-शेष
माघ	२५	२७	२७	श्रविष्ठा	२७
,,	२६	१	३८	शतभिषक्	११
फाल्गुन	२७	२	४९	पू० भाद्रपदा	२२
,,	२८	३	६०	उ० ,,	६
चैत्र	२९	४	७१	रेवती	१७
,,	३०	५	८२	अश्वयुज	१
वैशाख	३१	६	९३	भरणी	१२
,,	३२	७	१०४	कृत्तिका	२३
ज्येष्ठ	३३	८	११५	रोहिणी	७
,,	३४	१०	२	आर्द्रा	२
आषाढ	३५	११	१३	पुनर्वसु	१३
,,	३६	१२	२४	पुष्य	२४
श्रावण	३७	१३	३५	आश्लेषा	८
,,	३८	१४	४६	मघा	१९
भाद्रपद	३९	१५	५७	पूर्वाफाल्गुनी	३
,,	४०	१६	६८	उ० ,,	१४
आश्विन	४१	१७	७९	हस्त	२५
,,	४२	१८	९०	चित्रा	९
कार्तिक	४३	१९	१०१	स्वाती	२०
,,	४४	२०	११२	विशाखा	४
मार्गशीर्ष	४५	२१	१२३	अनुराधा	१५
,	४६	२३	१०	मूल	१०
माघ	४७	२४	२१	पूर्वाषाढा	२१
,,	४८	२५	३२	उत्तराषाढा	५

(इदावत्सर)

मास	पर्वक्रम	गतनक्षत्र	वर्तमान नक्षत्र		
			अंश	नाम	२७भा शेष
माघ	४९	२६	४३	श्रवण	१६
,,	५०	०	५४	श्रविष्ठा	२७
फाल्गुन	५१	१	६५	शतभिषक्	११
'	५२	२	७६	पूर्वभाद्रपदा	२२
चैत्र	५३	३	८७	उ० भाद्रपदा	६
,,	५४	४	९८	रेवती	१७
वैशाख	५५	५	१०९	अश्वयुज्	१
,,	५६	६	१२०	भरणी	१२
ज्येष्ठ	५७	८	७	रोहिणी	७
,,	५८	९	१८	मृग	१८
आषाढ़	५९	१०	२९	आर्द्रा	२
,,	६०	११	४०	पुनर्वसू	१३
अ श्रावण	६१	१२	५१	पुष्य	२४
,,	६२	१३	६२	आश्लेषा	८

मास	पर्वक्रम	गतनक्षत्र	वर्तमान नक्षत्र		
			अंश	नाम	२७भा. शेष
श्रावण	६३	१४	७३	मघा	१९
,,	६४	१५	८४	पू० फल्गुनी	३
भाद्रपद	६५	१६	९५	उ० फल्गुनी	१४
,,	६६	१७	१०६	हस्त	२५
आश्विन	६७	१८	११७	चित्रा	९
,,	६८	२०	४	विशाखा	४
कार्तिक	६९	२१	१५	अनुराधा	१५
'	७०	२२	२६	ज्येष्ठा	२६
मार्गशीर्ष	७१	२३	३७	मूल	१०
,,	७२	२४	४८	पूर्वाषाढा	२१
पौष	७३	२५	५९	उत्तराषाढा	५
,,	७४	२६	७०	श्रवण	१६

अनुवत्सर

मास	पर्व-क्रम	गत-नक्षत्र	वर्तमान नक्षत्र		
			अंश	नाम	२७ भा. शेष
माघ	७५	०	८१	श्रविष्ठा	२७
,,	७६	१	९२	शतभिषक्	११
फाल्गुन	७७	२	१०३	पूर्वा भाद्रपदा	२२
,,	७८	३	११४	उत्तरा० ,,	६
चैत्र	७९	५	१	अश्वयुज्	१
,,	८०	६	१२	भरणी	१२
वैशाख	८१	७	२३	कृत्तिका	२३
,,	८२	८	३४	रोहिणी	७
ज्येष्ठ	८३	९	४५	मृग	१८
,,	८४	१०	५६	आर्द्रा	२
आषाढ	८५	११	६७	पुनर्वसू	१३
,,	८६	१२	७८	पुष्य	२४
श्रावण	८७	१३	८९	आश्लेषा	८
,,	८८	१४	१००	मघा	१९
भाद्रपद	८९	१५	१११	पूर्व फल्गुनी	३
,,	९०	१६	१२२	उत्तर फल्गुनी	१४
आश्विन	९१	१८	९	चित्रा	९
,,	९२	१९	२०	स्वाती	२०
कार्तिक	९३	२०	३१	विशाखा	४
,,	९४	२१	४२	अनुराधा	१५
मार्गशीर्ष	९५	२२	५३	ज्येष्ठा	२६
,,	९६	२३	६४	मूल	१०
पौष	९७	२४	७५	पूर्वाषाढा	२१
,,	९८	२५	८६	उत्तराषाढा	५

(इद्वत्सर)

मासनाम	पर्व-क्रम	गत-नक्षत्र	वर्तमान नक्षत्र		
			अंश	नाम	२७भा शेष
माघ	९९	२६	९७	श्रवण	
,,	१००	०	१०८	श्रविष्ठा	
फाल्गुन	१०१	१	११९	शतभिषक्	
,,	१०२	३	६	उ० भाद्रपदा	
चैत्र	१०३	४	१७	रेवती	
,,	१०४	५	२८	अश्वयुज्	
वैशाख	१०५	६	३९	भरणी	
,,	१०६	७	५०	कृत्तिका	
ज्येष्ठ	१०७	८	६१	रोहिणी	
,,	१०८	९	७२	मृग	
आषाढ	१०९	१०	८३	आर्द्रा	
,,	११०	११	९४	पुनर्वसु	
श्रावण	१११	१२	१०५	पुष्य	
,,	११२	१३	११६	आश्लेषा	
भाद्रपद	११३	१५	३	पूर्वा फाल्गुनी	
,,	११४	१६	१४	उत्तरा फाल्गुनी	
आश्विन	११५	१७	२५	हस्त	
,,	११६	१८	३६	चित्रा	
कार्त्तिक	११७	१९	४७	स्वाती	
,,	११८	२०	५८	विशाखा	
मार्गशीर्ष	११९	२१	६९	अनुराधा	
,,	१२०	२२	८०	ज्येष्ठा	
पौष	१२१	२३	९१	मूल	
,,	१२२	२४	१०२	पूर्वाषाढा	
अ० माघ	१२३	२५	११३	उत्तराषाढा	
,,	१२४	२६	१२४	श्रवण	

कला दश च विशा स्याद् द्विमुहूर्तस्तु नाडिके ।
द्वित्रिशस्तत् कलाना तु षट्शती त्र्यधिक भवेत् ।।१६।।

यजु पाठ—कला दश सविशा .। द्युत्रिशत् तत् ।।

अर्थ—नाडी=$१० + \frac{१}{२०}$ कला। मुहूर्त=२ नाडी।

दिन=३० मुहूर्त=६०३ कला।

नाडिके द्वे मुहूर्तस्तु पञ्चाशत्पलमाषकम् ।
माषकात् कुम्भको द्रोण कुटपैर्वर्धते त्रिभि ।।१७।।

द्रोण कितने आढकों का होता है, यह बात यहा नही बतायी है और इसके बिना श्लोक का कोई उपयोग नही है। यजु पाठ के २४वे श्लोक की शब्दरचना इससे कुछ भिन्न है, पर उसका भी अर्थ इस श्लोक सरीखा ही है। उसमे भी द्रोण का कोई मान नही बताया है। वराहमिहिर ने बृहत्सहिता के वर्षणाध्याय मे लिखा है—

'पञ्चाशत्पलमाढकमनेन मिनुयाज्जल पतितम् ।'

बृहत्सहिता २३।२

मालूम होता है यह श्लोक लिखते समय वेदाङ्गज्योतिष का उपर्युक्त श्लोक उनके ध्यान मे था। इसके आगे के श्लोक मे उन्होने द्रोण शब्द का प्रयोग किया है, पर द्रोण और आढक के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे कुछ नही लिखा है। आर्या के चारो चरण समाप्त हो जाने के कारण कदाचित् उन्हे यह लिखने का अवसर न मिला हो, पर टीकाकार भटोत्पल ने लिखा है—

'यत उक्त पञ्चाशत्पलमाढक, चतुर्भिराढकैर्द्रोण'

इन दोनो चरणों का उपर्युक्त श्लोक के द्वितीय और तृतीय चरणो से बडा साम्य है और नि.सशय प्रतीत होता है कि भटोत्पल ने ये वेदाङ्गज्योतिष से ही लिये हैं। भास्कराचार्यादिको ने भी ४ आढ़क का द्रोण बतलाया है। अत भटोत्पल के लेखानुसार वेदाङ्गज्योतिष का उपर्युक्त श्लोक इस प्रकार होना चाहिए—

नाडिके द्वे मुहूर्तस्तु पञ्चाशत्पलमाढ़कम् ।
चतुर्भिराढकैर्द्रोण कुटपैर्वर्धते त्रिभिः ।।१७।।

यही पाठ पूर्वापर संगत भी है।

अर्थ—दो नाडिका का मुहूर्त, ५० पलों का आढक और ४ आढको का द्रोण होता है। [यह नाडी से] ३ कुडव बडा होता है ।।१७।।

यहा 'यह नाडी से' शब्द ऊपर से लेने पडते है, परन्तु प्रथम पाद मे नाडिका शब्द आ चुका है अत ऐसा करने मे कोई अडचन नही है। यजु पाठ के निम्नलिखित श्लोक मे यह अर्थ बिलकुल स्पष्ट है।

पलानि पञ्चदशपा धृतानि तदाढक द्रोणमत प्रमेयम् ।
त्रिभिर्विहीन कुडवैस्तु कार्यं तन्नाडिकायास्तु भवेत्प्रमाणम् ।।२४।।

अर्थ—५० पल पानी का जितना वजन होता है उसे आढक कहते है। उससे एक द्रोण पानी नापो। द्रोण मे से ३ कुडव निकाल दो। शेष पानी को [घटिका पात्र के छिद्र द्वारा बाहर निकलने मे जितना समय लगता है उसे] नाडिका कहते है।

इस श्लोक का कुटप (कुडव) नामक माप जानना आवश्यक है। इसी प्रकार ऊपर सातवे श्लोक मे प्रस्थ शब्द भी कालमान का ही द्योतक है, परन्तु वेदाङ्गज्योतिष मे उसका नाडिका से कोई सम्बन्ध नही दिखलाया है, अत यहा इसका विचार करेगे।

भास्कराचार्य ने लिखा है—

द्रोणस्तु खार्या खलु षोडशाश स्यादाढको द्रोणचतुर्थभाग. ।
प्रस्थश्चतुर्थांश इहाढकस्य प्रस्थाडिघ्रराद्यै कुडव प्रदिष्ट. ।।८।।

लीलावती

अर्थ—

४ कुडव=प्रस्थ
४ प्रस्थ=आढक
४ आढक=द्रोण

वेदाङ्गज्योतिष मे ५० पलो का आढक बतलाया है, अत
द्रोण = २०० पल=६४ कुडव। आढक=५० पल]
प्रस्थ=१२$\frac{१}{२}$ पल। कुडव=३$\frac{१}{८}$ पल।

वेदाङ्गज्योतिषपद्धति के अनुसार द्रोण मे से ३ कुडव निकाल देने मे नाडिका होती है, अत—

नाडिका = ६१ कुडव=२०० पल = ३$\frac{१}{८}$ × ३ पल
= १९०$\frac{५}{८}$ पल
प्रस्थ=१२$\frac{१}{२}$ पल=१२$\frac{१}{२}$ — १९०$\frac{५}{८}$ नाडिका
= $\frac{४}{६१}$ नाडिका।

ऊपर सातवे श्लोक मे दिनमान की वृद्धि १ प्रस्थ बतलायी है। यहा प्रस्थ का मान $\frac{४}{६१}$ घडी सिद्ध किया है और वह बिलकुल शुद्ध है क्योकि आगे २२वे श्लोक मे बतलायी हुई दिनमान लाने की रीति से भी इसकी ठीक सगति लगती है। घटिका पात्र मे १९०$\frac{५}{८}$

पल पानी आने मे जो समय लगता है वह एक नाडी का मान सिद्ध हुआ, परन्तु कुछ नियमित पलो मे पानी आने के लिए पात्र के छिद्र के विषय मे भी कोई नियम बतलाना चाहिए था। मालूम होता है पात्र का विशेष प्रचार होने के कारण छिद्र के विषय में कुछ नही लिखा है। अमरकोष और लीलावती इत्यादि ग्रन्थो मे पल ४ कर्ष अर्थात् ४ तोले के बराबर बताया है। अत घटिका पात्र मे $१९०\frac{५}{८}$ पल $\times$ ४ $=$ $७६२\frac{१}{२}$ तोले अर्थात् ९ सेर से कुछ अधिक पानी अटना चाहिए, परन्तु आजकल की प्रचलित घटिकाओ मे १।। सेर से अधिक पानी नही समा सकता। पात्र बडा होना अच्छा है क्योकि पात्र जितना बडा होगा उतना ही सूक्ष्म कालज्ञान होगा।

कालवाचक पल शब्द पानी के पल से ही निकला होगा। जितने समय मे घटिका पात्र मे एक पल पानी आता है उसे कालत्मक पल कहते रहे होगे। ज्योतिष ग्रन्थो में अनेको जगह कालात्मक पल के लिए 'पानीयपल' शब्द का प्रयोग किया गया है (सिद्धान्त शिरोमणि देखिये)। वेदाङ्गज्योतिष मे '६० पल = १ घटी' यह मान नही है, बल्कि नाडी मे $१९०\frac{५}{८}$ पानीय पल बतलाये है। यह मान गणित के लिए अनुकूल नही है अत इसका विशेष उपयोग नही करते रहे होगे, परन्तु दिन मे ६० नाडिया बतलायी है, अत उसी के अनुसार आगे नाडी मे ६० पल मान लिये होगे और जैसे $१९०\frac{५}{८}$ पल सम्बन्धी काल को घटिका कहते थे उसी प्रकार घटिका पात्र मे छिद्र द्वारा ६० पल पानी आने मे जितना समय लगता था उसे घटिका कहने लगे होगे। नाडी मे पल चाहे जितने मानिए उसके मान मे कोई परिवर्तन नही होगा। पल ही छोटे बडे हुआ करेगे। सारांश यह कि पात्र का छिद्र ऐसा होना चाहिए जिरसे एक घटी मे ६० पल पानी आवे। आजकल भी घटिकापात्र के विषय में केवल इतना ही विचार किया जाता है कि उसका छिद्र ऐसा हो जिससे एक घटी मे पात्र भर जाय। पानी के वजन का कोई विचार नही किया जाता। वेदाङ्गज्योतिष-काल के बाद भी ऐसा ही करने लगे होगे। वेदाङ्गज्योतिषोक्त नाडीमान थोड़ा असुविधा-जनक मालूम होता है, पर वस्तुत वह सयुक्तिक और अनुकूल है (२२वा श्लोक देखिए)।

> ससप्तकुम्भयुक्स्योन सूर्याधोनि त्रयोदश।
> नवमानि च पञ्चाह्न काष्ठा. पञ्चाक्षरा स्मृता ।।१८।।
> यजु पाठ—ससप्तम भयुक् सोम. सूर्यो धूनि त्रयोदश।

ऋक्पाठ के पूर्वार्ध मे 'स्योन' शब्द है। उसके स्थान मे चन्द्रवाचक श्येन शब्द रखने से बहुत थोडा पाठभेद होता है।

अर्थ—[कलाओ के] एक सप्तक [और एक सावन दिन] तुल्य (समय तक) चन्द्रमा एक नक्षत्र मे रहता है। सूर्य १३ दिन और दिन के $\frac{५}{९}$ भाग (अर्थात् १३$\frac{५}{९}$ दिन) [तक एक नक्षत्र मे रहता है]। ५ अक्षरो की एक काष्ठा होती है ।।१८।।

सौरवर्ष मे ३६६ और एक युग मे ३६६ × ५=१८३० सावन दिन होते है (यजु. पाठ श्लो. २८)। एक युग मे चन्द्रमा सम्पूर्ण नक्षत्र-मण्डल की ६७ प्रदक्षिणा करता है (यजु पाठ श्लो ३१) अर्थात् ६७ × २७ नक्षत्र चलता है। एक दिन मे ६०३ कलाए होती है (उपर्युक्त १६वां श्लोक देखिए) अत युग मे १८३० × ६०३ कलाए होगी और चन्द्रमा को एक नक्षत्र भोगने मे (१८३० × ६०३) — (२७ × ६७)= ६१० कला अर्थात् १ दिन ७ कला तुल्य समय लगेगा। सूर्य ३६६ दिनो मे २७ नक्षत्रो की एक प्रदक्षिणा करता है। इसलिए उसे एक नक्षत्र भोगने मे ३६६ — २७ = १३$\frac{५}{९}$ दिन लगेगे।

श्रविष्ठाभ्या गुणाभ्यस्तान्प्राग्विलग्नान् विनिर्दिशेत्।
सूर्यान् मासान् षळभ्यस्तान् विद्याच्चान्द्रमसानृतून् ।।१९।।

[इस श्लोक का पूर्वार्ध दुर्बोध है] उत्तरार्ध का अर्थ है—सौरमास की ६ गुनी चान्द्र ऋतुए होती है।

जैसे सूर्य की एक परिक्रमा अर्थात् एक वर्ष मे ६ ऋतुए होती है उसी प्रकार चन्द्रमा की भी एक परिक्रमा मे उसकी ६ ऋतुए मानी जा सकती है। उसे नक्षत्रो की एक परिक्रमा करने मे एक सौर मास तुल्य समय लगता है, अत ऋतुए सौर मास से ६ गुनी होगी। यह मान कुछ स्थूल है क्योकि वेदाङ्गज्योतिष के अनुसार चन्द्रमा ६० सौर मासो मे नक्षत्र-मण्डल की ६७ प्रदक्षिणा करता है। इसलिये एक सौरमास मे वास्तव चान्द्र ऋतुसंख्या $\frac{६७ \times ६}{६०}$ = ६$\frac{७}{१०}$ होगी।

या: पर्वभादानकलास्तासु सप्तगुणा तिथिम्।
प्रक्षिपेत् कलासमूहस्तु विद्यादादानकी: कला ।।२१।।

पर्वान्तकालीन भ (नक्षत्र) की आदान (भोग्य) कलाओ मे तिथि का सातगुना मिलाने से [उस दिन के अन्त की] आदान कलाए आती है।

प्रत्येक सावन दिन मे ६०३ कलाए होती है। एक नक्षत्र मे ६१० कला मानने से सावन दिन मे चन्द्रमा के ६०३ कला भोगने के बाद दिन के अन्त मे ७ कलाएं शेष रह जायंगी। इसी प्रकार दूसरे दिन के अन्त में १४ शेष रहेगी अर्थात् क्रमश

सात-सात बढती जायेगी। इसीलिए कहा है 'सप्तगुणा तिथिम्'। यहा एक अडचन यह है कि तिथि शब्द से सावन दिन का ग्रहण करना पडता है।

यदुत्तरस्यायनतोयन स्याच्छेष तु यद्दक्षिणतोयनस्य।
तदेव षष्ट्या द्विगुण विभक्त सद्वादश स्याद्दिवसप्रमाणम् ।।२२।।

यजु पाठ

यदुत्तरस्यायनतो गत स्याच्छेष तथा दक्षिणतोयनस्य।
तदेव षष्ट्या द्विगुण विभक्त सद्वादश स्याद्दिवसप्रमाणम् ।।

इन दोनो पाठो मे तदेवषष्ट्या के स्थान मे तदेकषष्ट्या करना ही पडेगा।

अर्थ—उत्तरायण होने के बाद जितने दिन व्यतीत हुए हो अथवा दक्षिणायन के बाद [अयन की समाप्ति होने मे] जितने दिन शेष रह गये हो उनमे दो का गुणा कर गुणनफल मे ६१ का भाग दे। जो लब्धि आवे उसमे १२ जोड देने से एक दिन का [मुहूर्तात्मक] मान आता है।।२२।।

उपपत्ति—वर्ष मे ३६६ दिन होते है, इसलिए एक अयन मे १८३ दिन होगे। १८३ दिनो मे दिनमान ६ मुहूर्त बढता है, इसलिए एक दिन मे (१२ मुहूर्त से) $\frac{६}{१८३} = \frac{२}{६१}$ मुहूर्त बढेगा।

उदाहरण—उत्तरायणारम्भ के एक दिन बाद दिनमान $१२ + \frac{१ \times २}{६१}$ $१२\frac{२}{६१}$ मुहूर्त $२४\frac{४}{६१}$ नाडी होगा।

सातवे श्लोक मे एक दिन मे एक प्रस्थ वृद्धि बतलायी है और १७वे श्लोक मे प्रस्थ का मान $\frac{४}{६१}$ नाडी तुल्य सिद्ध किया है। यहा भी वही $\frac{४}{६१}$ नाड़ी वृद्धि आती है। गुणन-भजनादि मे सुभीता होने के लिए यहा ६१ कुडव की एक नाडी मानी गयी है, अत यह संख्या अनुकूल ही है।

तदर्ध दिनभागाना सदा पर्वणि पर्वणि।
ऋतुशेषतु तद्विद्यात् सख्याय पर्वणाम् ।।२३।।

यजु पाठ—यदर्ध दिनभागानां. । ऋतु ... संख्याय.... ।।
'यदर्ध' पाठ द्वारा यह अर्थ होता है—

प्रत्येक पर्व मे दिन भाग मे से जो [तिथि का] आधा शेष रह जाता है वह [सब पर्वो का शेष] एकत्र होने पर ऋतुशेष होता है।

एक पर्व से दूसरे पर्व पर्यन्त आधा चान्द्रमास होता है। एक युग मे १८३० सावन दिन, १२० अर्ध-सौरमास और १२४ पर्व होते है। अर्ध-चान्द्रमास का मान १८३० ÷ १२४ = $१४\frac{६४}{१२४}$ सावन दिन और अर्ध-सौरमास का मान १८३० — १२० = $१५\frac{१}{४}$ = $१५\frac{३१}{१२४}$ सावन दिन होता है। अत प्रत्येक पर्व मे $१५\frac{३१}{१२४} = १४\frac{६४}{१२४} = \frac{६१}{१२४}$ सावन दिन अर्थात् आधी तिथि शेष रह जाती है। ऋतुए सौरमास के अनुसार होती है अत इसे अर्ध-चान्द्रमास का शेष मानते है। अन्य ज्योतिषग्रन्थो मे इसे अधिमास-शेष कहा है। यह ३० चान्द्रमासो मे $\frac{६१ \times ६०}{१२४} = २९\frac{६४}{१२४}$ सावन दिन अर्थात् ठीक एक चान्द्रमास के बराबर हो जाता है। इसीलिए ३० चान्द्रमास के बाद एक अधिमास होता है। यही उपर्युक्त श्लोक और अधिमास की उपपत्ति है।

अग्नि प्रजापति. सोमो रुद्रोदितिबृहस्पतिः।
सर्पाश्च पितरश्चैव भगश्चैवार्यमापि च ॥२५॥
सविता त्वष्टाथ वायुश्चेन्द्राग्नो मित्र एव च।
इन्द्रो निर्ऋतिरापो वै विश्वेदेवास्तथैव च ॥२६॥
विष्णुर्वरुणो वसवोऽजएकपात्तथैव च।
अहिर्बुध्न्यस्तथा पूषाश्विनौ यम एव च ॥२७॥

इसमे २७ नक्षत्र के देवताओ के नाम बतलाये है। नक्षत्रो के नाम यद्यपि नही है तथापि यह निर्विवाद सिद्ध है कि देवताओ का आरम्भ कृत्तिका से है। २७ वे श्लोक के 'विष्णुर्वरुणो वसवो' लेखानुसार श्रविष्ठा का देवता वरुण और शत्भिषक् का वसु सिद्ध होता है, पर तैत्तिरीय श्रुति और अन्य ज्योतिष ग्रन्थो मे इसके ठीक विपरीत अर्थात् श्रविष्ठा का देवता वसु और शतभिषक् का वरुण बतलाया है। यहा यजु पाठ 'विष्णुर्वसवो वरुणो' ठीक मालूम होता है अत उसका ग्रहण करना ही पडेगा।

नक्षत्र और उनके देवता अगले पृष्ठ के कोष्ठक मे लिखे है।

श्रविष्ठादि	कृत्तिकादि	नाम	देवता		श्रविष्ठादि	कृत्तिकादि	नाम	देवता
८	१	कृत्तिका	अग्नि		२२	१५	अनुराधा	मित्र
९	२	रोहिणी	प्रजापति		२३	१६	ज्येष्ठा	इन्द्र
१०	३	मृगशीर्ष	सोम		२४	१७	मूल	निर्ऋति
११	४	आर्द्रा	रुद्र		२५	१८	पूर्वाषाढा	आप.
१२	५	पुनर्वसु	अदिति		२६	१९	उत्तराषाढा	विश्वेदेव
१३	६	पुष्य	वृहस्पनि		२७	२०	श्रवण	विष्णु
१४	७	आश्लेषा	सर्प		१	२१	श्रविष्ठा	वसु
१५	८	मघा	पितर		२	२२	शतभिषक्	वरुण
१६	९	पूर्वफल्गुनी	भग		३	२३	पूर्वभाद्रपदा	अजएकपाद
१७	१०	उत्तरफल्गु०	अर्यमा		४	२४	उत्तरभाद्रपदा	अहिर्बुध्न्य
१८	११	हस्त	सविता		५	२५	रेवती	पूषा
१९	१२	चित्रा	त्वष्टा		६	२६	अश्वयुज्	अश्विनौ
२०	१३	स्वाती	वायु		७	२७	भरणी	यम
२१	१४	विशाखा	इन्द्राग्नी					

नक्षत्रदेवता एता एताभिर्यज्ञकर्मणि ।
यजमानस्य शास्त्रज्ञैर्नाम नक्षत्रज स्मृतम् ।।२८।।

अर्थ—[ये नक्षत्रो के देवता है]। शास्त्रज्ञो ने कहा है कि यज्ञ-कर्म मे इनके द्वारा यजमान का नक्षत्र-नाम [रखना चाहिए]।

जिस नक्षत्र मे मनुष्य का जन्म होता है उसके चरण के अनुसार नाम रखने की रीति इधर ज्योतिष-ग्रन्थो मे है और सम्प्रति उसका प्रचार भी है।

विषुव तद्गुण द्वाभ्या रूपहीन तु षड्गुणम् ।
यल्लब्ध तानि पर्वाणि तथोर्ध्व सा तिथिर्भवेत् ।।३१।।

अर्थ—[प्रथम विषुव से आरम्भ कर अन्य किसी विषुव पर्यन्त पर्व और तिथि सख्या लानी हो तो] विषुवसख्या मे से एक निकालकर शेष को पृथक्-पृथक् दो और एक से गुणा करो। फिर दोनो मे ६ का गुणा करो। पहिले ६ गुने तुल्य पर्व और दूसरे ६ गुने तुल्य तिथिया होगी अर्थात् इतना समय व्यतीत होने पर वह विषुव आवेगा।

उदाहरणार्थ मान लीजिए १०वा विषुव लाना है तो विषुव सख्या मे से एक घटा देने से शेष बचा ९। अत पर्वसख्या हुई ९ × २ × ६=१०८ और तिथिया हुई ९ × १ × ६=५४। इन दोनो का योग हुआ १०८ पर्व ५४ तिथिया १११ पर्व ९ तिथि इसमे युगादि से प्रथम विषुव पर्यन्त के ६ पर्व और ३ तिथिया जोड़ देने से फल हुआ ११७ पर्व १२ तिथि। अत. युगारम्भ के बाद ११७ पर्व १२ तिथि बीत जाने पर अर्थात् पाचवे सवत्सर की कार्तिक-कृष्ण-द्वादशी के अन्त मे दसवा विषुव होगा।

इस श्लोक का यजु पाठ है—

विषुवन्त द्विरभ्यस्त रूपोन षड्गुणी कृतम् ।
पक्षा यदर्ध पक्षाणा तिथिः स विषुवान् स्मृत. ।।

यहाँ बिना खीचातानी किये ही उपर्युक्त अर्थ ज्यो का त्यो निकल आता है वह इस प्रकार है—

विषुवसख्या मे से एक निकाल कर [शेष को] द्विगुणित कर पुन· ६ का गुणा करने से पक्षसख्या [आती है]। पक्षो की आधी तिथिया होती है। वही तिथि विषुवान् होती है।

माघशुक्लप्रवृत्तस्तु पौषकृष्णसमापिन. ।
युगश्च पञ्चवर्षाणि कालज्ञान प्रचक्षते ।।३२।।

यजु पाठ

माघशुक्लप्रपन्नस्य पौषकृष्णसमापिन ।
युगस्य पञ्चवर्षस्य कालज्ञान प्रचक्षते ।।

यहा 'प्रपन्न' के स्थान मे ऋक्पाठ 'प्रवृत्त' और शेष स्थान मे यजु पाठ लेने से अर्थ इस प्रकार होता है—

माघशुक्ल मे प्रवृत्त और पौषकृष्ण मे समाप्त होनेवाले पञ्चवर्षात्मक युग को कालज्ञान कहते है ।

तृतीया नवमीञ्चैव पौर्णमासी त्रयोदशीम ।
षष्ठीञ्च विषुवान् प्रोक्तो द्वादश्या च समभवेत् ।।३३।।

तृतीया, नवमी, पूर्णिमा, षष्ठी, और द्वादशी तिथियो मे [और फिर क्रमश इन्ही तिथियों मे] विषुवान् होता है ।

वेदों मे विषुवान् दिवस का नाम आया है और पहले इसका कुछ विचार कर चुके है। एक विषुवान् उत्तरायणारम्भ के ३ सौरमास बाद और दूसरा उसके ६ मास बाद आता है। इस प्रकार वर्ष मे २ विषुव होते है। वेदाङ्गज्योतिष की पद्धति के अनुसार, ३ सौरमासो मे ९३ तिथिया होती है और युगप्रवृत्ति माघारम्भ मे होती है, अतः माघ, फाल्गुन और चैत्र, तीनो महीनो के व्यतीत हो जाने पर वैशाखशुक्ल तृतीया के अन्त मे प्रथम विषुवान् होता है। तत्पश्चात् ६ सौरमास अर्थात् ६ चान्द्रमास और ६ तिथियों के व्यतीत होने पर द्वितीय विषुवान् आता है। युग के सब विषुवान् आगे कोष्ठक में एकत्र लिखे है ।

यहा मूलोक्त 'त्रयोदशी' शब्द का अर्थ नही लगता । शेष श्लोक का उपर्युक्त अर्थ ठीक है।

चतुर्दशीमुपवसथ. तस्तथा भवेद्यथोदितो दिनमुपैति चन्द्रमा ।
माघशुक्लाह्निको युक्ते श्रविष्ठायाञ्च वार्षिकीम् ।।३४।।

इसमे से नवे अक्षर 'थः' को निकाल देने से निम्नलिखित अर्थ निकलता है—

(कृष्ण) चतुर्दशी के दिन (सूर्य और चन्द्रमा) पास पास रहते है । चन्द्रमा उदित होने पर दिन के पास चला आता है। माघशुक्ल [प्रतिपदा] के दिन श्रविष्ठा नक्षत्र मे सूर्य से सयुक्त होता है। इसी प्रकार वर्षा ऋतु का [आरम्भ होने के पूर्व-वाली अमावस्या के अन्त मे संयुक्त होता है]।।३४।।

चन्द्रमा का दिन के पास चले आने का अर्थ यह है कि उसका उदय होने के बाद शीघ्र ही सूर्योदय होता है अर्थात् दिन का आरम्भ हो जाता है। यहा माघशुक्ल प्रति-

पदा शब्द से अमावस्या और प्रतिपदा की सन्धि का ग्रहण करना चाहिए। सूर्य और चन्द्रमा का योग प्रत्येक अमावस्या मे होते हुए भी यहा दो ही अमावास्याओ के निर्देश का कारण यह है कि अमान्त मे उत्तरायण और दक्षिणायन आरम्भ होने का प्रसग युग मे दो ही बार आता है। प्रथम सवत्सर के प्रथम मास माघ के आरम्भ मे उत्तरायण की प्रवृत्ति होती है और तृतीय सवत्सर के श्रावणारम्भ मे दक्षिणायन प्रारम्भ होता है।

२. यजुर्वेदज्योतिष

एकान्तरेह्नि मासे च पूर्वादृत्वादिरुत्तर:।।११।।

पूर्व ऋतु का आरम्भ होने के बाद एकदिन और एक मास के अन्तर से अर्थात् बीच मे एक मास और एक तिथि छोडकर उत्तर ऋतु का आरम्भ [होता है]। दो सौरमासो की एक ऋतु होती है। आगे कोष्ठक मे पाचो सवत्सरो की ऋतुओ के आरम्भमास और तिथिया लिखी है। उनसे पता चलता है कि मूलोक्त 'एकान्तरेह्नि' (एक दिन का अन्तर) शब्द तिथि से सम्बन्ध रखता है।

एकादशभिरभ्यस्य पर्वाणि नवभिस्तिथिम्।
युगलब्ध सपर्व स्यात् वर्तमानार्कभ क्रमात्।।२५।।

गतपर्वसख्या मे ११ का गुणा करे, उसमे ९ से गुणित तिथिसख्या जोडकर, योगफल मे १२४ का भाग दे। लब्धि मे गतपर्वसख्या जोड़ दे तो (इष्ट तिथि के अन्त मे) वर्तमान सूर्यनक्षत्र आवेगा। यह क्रमश आता है। युग मे १२४ पर्व होने के कारण यहा युग शब्द का अर्थ १२४ किया गया है। नक्षत्र के १२४ विभाग माने गये है। कुछ अन्य श्लोको द्वारा भी नक्षत्र के १२४ विभागो की कल्पना सिद्ध होती है। सूर्य एक तिथि मे इस प्रकार के ९ भागो को भोगता है।

उदाहरण—

प्रथमसवत्सर की माघशुक्ल १५ के अन्त मे सूर्यनक्षत्र लाना है, अत. यहा तिथि ×९=१५×९=१३५ मे १२४ का भाग दिया। लब्धि आयी १। गतपर्व शून्य है, इसलिए एक नक्षत्र बीतने के पश्चात् दूसरे के ११ भाग बीते है। यदि तीसरे पर्व के अन्त का नक्षत्र लाना है तो गतपर्व ३ मे ११ का गुणा किया। फल हुआ ३३। इसमें १२४ का भाग दिया। भजनफल मे ३ जोड दिया। योगफल हुआ ३$\frac{३३}{१२४}$। अतः तीन नक्षत्र समाप्त हो जाने के बाद चतुर्थ के ३३ भाग बीते है।

त्रिशत्यह्नां सषट् षष्ठिरब्द षड् ऋतवोऽयने।
मांसा द्वादश सूर्या स्युरेतत्पञ्चगुण युगम्।।२७।।

अर्थ—वर्ष मे ३६६ दिन, ६ ऋतुए, दो अयन [और] १२ सौरमास [होते हे] युग इसका पञ्चगुणित होता है।

उदया वासवस्य स्युर्दिनराशि स्वपञ्चक ।
ऋषेर्द्विषष्टिहीन स्यात् विशत्या चैकया स्तृणाम् ।।२९।।

अर्थ—[युग मे वर्ष की] दिन सख्या के पञ्चगुणित (१८३०) वासव (सूर्य) के उदय होते है। ऋषि (चन्द्रमा) के उसमे ६२ कम होते हे।

एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय पर्यन्त जितना समय होता है, उसे सावन दिन कहते है, इसलिये एक सौरवर्ष मे जितने सावन दिन होगे उतने ही सूर्योदय होगे और युग मे उसके पाच गुने अर्थात् १८३० होगे।

यदि सूर्य नक्षत्रो की भॉति स्थिर होता तो उसके भी उदय उतने ही होते जितने कि नक्षत्रो के होते है, परन्तु वह प्रतिदिन थोडा थोडा नक्षत्रो से पूर्व की ओर हटता जाता है, अतः आज सूर्य जिस नक्षत्र के साथ उगा है, कल उसके साथ नही उगता बल्कि उसका उदय नक्षत्रोदय के कुछ देर बाद होता है। वर्ष भर मे वह एक बार सभी नक्षत्रो में घूम आता है। इसी कारण एक वर्ष मे सूर्योदय की अपेक्षा नक्षत्रोदय १ अधिक अर्थात् ३६७ होते है। अत युग मे सूर्योदय से नक्षत्रोदय ५ अधिक होगे। एक युग मे चन्द्रमा नक्षत्रो की ६७ प्रदक्षिणा करता है (आगे ३१ वा श्लोक देखिए) इसलिए युग मे नक्षत्रोदय की अपेक्षा चन्द्रोदय ६७ कम होते है, अत सूर्योदय से ६२ कम होगे। इस श्लोक के चतुर्थचरण का अर्थ नही लगता। कदाचित् मूलपाठ मे "सूर्योदय से नक्षत्रोदय ५ अधिक होते है" इस अर्थ के सूचक कुछ शब्द रहे हो।

पञ्चत्रिंशच्छत १३५ पौष्णमेकोनमयनान्यृषे ।
पर्वणा स्याच्चतुष्पादी काष्ठाना चैव ता कला ।।३०।।

(एक युग में) चन्द्रमा के १३४ अयन और १२४ पर्व होते है। १२४ काष्ठाओं की एक कला होती है।

मूलोक्त "पौष्ण' शब्द का ठीक अर्थ नही लगता परन्तु श्लोक का इससे भिन्न अर्थ होने की भी सम्भावना नही है। युग मे चन्द्रमा के ६७ पर्याय होते है, अत ६७×२= १३४ अयनों का होना स्पष्ट ही है। १२ वें श्लोक के अनुसार पाद का अर्थ ३१ होता है, अतः चतुष्पदी ३१×४ अर्थात् १२४ के बराबर होगी।

सावनेन्दुस्तृमासाना षष्टि सैका द्विसप्तिका।
द्युत्रिंशत् सावनः सार्धः सूर्य स्तृणां सपर्ययः ।।३१।।

[युग में] सावनमास ६१, चान्द्रमास ६२ और (स्तृमास) नाक्षत्रमास (षष्टि सस-

प्तिका) ६७ होते हैं। ३० दिनो का सावन [मास] और ३० दिनो का सौरमास होता है। [नक्षत्रमण्डल मे चन्द्रमा के एक] पर्याय को नाक्षत्रमास कहते हैं।

एक वर्ष मे १२ और एक युग मे ६० सौरमास होते हैं। (यजु पाठ २८वा श्लोक देखिए)। युग की सावनदिन सख्या १८३० मे युग की सावन मास सख्या ६१ का भाग देने से लब्धि ३० आती है। इसलिए सावन मास मे ३० दिन होते हे। इसी प्रकार १८३० मे युगसौरमास ६० का भाग देने से एक सौरमास मे सावनदिन ३०½ आते हैं।

उग्राण्यार्द्रा च चित्रा च विशाखा श्रवणाश्वयुक्।
क्रूराणि तु मघा स्वाती ज्येष्ठा मूल यमस्य यत ॥३३॥

आर्द्रा, चित्रा, विशाखा, श्रवण और अश्वयुज् [नक्षत्र] उग्र हैं। मघा, स्वाती, ज्येष्ठा, मूल और यमनक्षत्र (भरणी) क्रूर हैं।

आधुनिक मुहूर्तग्रन्थो मे उग्रनक्षत्रो को ही क्रूर भी कहा है। उपर्युक्त नक्षत्रो मे से आजकल केवल मघा और भरणी की गणना उग्र या क्रूर मे की जाती है। आर्द्रा, मूल और ज्येष्ठा को तीक्ष्ण या दारुण कहते हैं। पर इन्हे उग्र या क्रूर भी कह सकते है। शेष नक्षत्रो मे से चित्रा को मृदु, विशाखा को मिश्र, श्रवण और स्वाती को चल तथा अश्विनी को लघु या क्षिप्र कहते हैं।

द्यून द्विषष्टि भागेन हेय सूर्यात् सपार्वणम्।
यत्कृतावुपजायेते मध्ये चान्ते चाधिमासकौ ॥३७॥

इस पाठ द्वारा यह अर्थ निष्पन्न होता है—

[सावन] दिन मे से उसका ६२वा भाग घटा देने पर[1] जो शेष रहता है उसे चान्द्र [दिन अर्थात् तिथि] कहते है। [६०वां भाग जोड देने से सौरदिन होता है] सौर दिन से तिथि छोटी होने के कारण [युग के] मध्य और अन्त मे अधिमास आते ह ॥३७॥

१. युगीयसावनदिनसंख्या = १८३०। युगीयचान्द्रमाससंख्या = ६२

$$\therefore १ \text{ तिथि} = \frac{१८३०}{६२ \times ३०} \text{ सावनदिन} = \frac{६१}{६२} = १ - \frac{१}{६२} \text{ सावनदिन।}$$

$$१ \text{ सौरमास} = ३०\frac{१}{२} \text{ सावनदिन।} \therefore १ \text{ सौरदिन} = ३०\frac{१}{२} - ३० \text{ सा० दि०}$$

$$= \frac{६१}{६०} \text{ सावनदिन} = १ + \frac{१}{६०} \text{ सावनदिन।}$$ (अनुवादक)

सोमाकर ने गर्ग के कुछ वचन उद्धृत किये है। उनमे वेदाङ्गज्योतिषोक्त पञ्च-संवत्सरात्मक युगपद्धति का पूर्णवर्णन है। गर्ग ने लव नाम के एक नवीन दिवसभाग की कल्पना की है। उससे समझने मे बडा सुभीता होता है। वे गर्ग के वचन ये है —

सावनञ्चापि सौरञ्च चान्द्र नाक्षत्रमेव च।
चत्वार्येतानि मानानि यैर्युग प्रविभज्यते ।।१।।
अहोरात्रात्मक लौक्य मानञ्च सावन स्मृतम्।
अतश्चैतानि मानानि प्राक्तानीह सावनात् ।।२।।
तत सिद्धान्यहोरात्राण्युदयाश्चाप्यथार्कजा.।
त्रिशञ्चाष्टादशशत १८३० दिनानाञ्चयुग स्मृतम् ।।३।।
मासस्त्रिशदहोरात्र· पक्षोर्ध सावन स्मृतम्।
अहोरात्र लवानान्तु चतुर्विशशतात्मकम् ।४।।
सौर्यं तु सूर्यसभूत परिसर्पति भास्करे।
यावता ह्यु्त्तरा काष्ठा गत्वा गच्छति दक्षिणाम् ।।५।।
कालेन सोब्दस्तस्यार्ध अयनन्तु त्रयोर्त्तव ।
ऋतोरर्ध भवेन्मासस्त्रिशद्भाग दिनोऽर्कज ।।६।।
तस्यार्धमर्कज पक्षस्तस्मात्पञ्चदश दिनम्।
शतं लवाना षड्विशं १२६ लवा पञ्चदश $\frac{1}{15}$ स्तथा।।७।।
[1]त्रिशच्चाष्टादशशत १८३० युगमार्कैर्दिनै: स्मृतम्।
वृद्धिक्षयाभ्या संभूत चान्द्र मान हि चन्द्रत ।।८।।
लव लवमथोनेन सावनेन निशाकर ।
क्षयवृद्धिमवाप्नोति स चान्द्रो मास उच्यते ।।९।।
तस्यार्ध पार्वण. पक्षस्तस्मात्पञ्चदशी तिथि.।
प्रमाणेन लवानान्तु द्वाविश शत १२२ मुच्यते ।।१०।।
सोमस्याष्टादशशती युगे षष्ट्याधिका १८६० स्मृता।
यावतात्वेव कालेन भवर्ग त्रिणवात्मकम् ।।११।।
भुक्ते चन्द्र. स आर्क्षो मासस्तस्यार्धं पक्ष उच्यते।
आर्क्षात्पक्षात्पञ्चदश नाक्षत्रं दिनमुच्यते ।।१२।।

१. यह पाठ कुछ अशुद्ध है। १८३० के स्थान में १८०० होना चाहिए।

प्रमाणेन लवानान्तु द्वादश शत ११२ मुच्यते।
षष्ट्यातु सप्तषष्ट्यंशे नाधिकोऽस्मिन् परोलव'।१३॥
दशोत्तरैर्द्विसहस्त्रै २०१० र्युगमार्क्षैर्दिनै स्मृतम् ॥

ऋग्यजुर्वेदाङ्गज्योतिषविचार

रचनाकाल

अब वेदाङ्गज्योतिष के रचनाकाल का विचार करेगे। ऋक्पाठ के छठे श्लोक मे कहा है कि आश्लेषा के आधे से सूर्य की दक्षिणायन-प्रवृत्ति और श्रविष्ठ के आरम्भ से उत्तरायणप्रवृत्ति होती है। आजकल सूर्य और चन्द्रमा का उत्तरायण तब होता है जब कि वे पूर्वाषाढ़ा के तारो के पास आते है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अयनारम्भ उत्तरोत्तर पीछे हटता आ रहा है। इसी को अयनचलन कहते है। आजकल सूक्ष्म अयनचलन या सम्पातगति ज्ञात हो चुकी है। उसके द्वारा वेदाङ्गज्योतिषोक्त अयन-स्थिति का समय लाया जा सकता है।

कोलब्रूक इत्यादि यूरोपियन विद्वानो ने वेदाङ्गज्योतिष का समय इस आधार पर निश्चित किया है कि 'रेवती तारा से नक्षत्रचक्र का आरम्भ मानने से धनिष्ठा का जो विभागात्मक स्थान होता है उसके आरम्भ मे सूर्य और चन्द्रमा के आने पर वेदाङ्ग-ज्योतिषकाल मे उत्तरायण मानते थे।' इससे आधुनिक धनिष्ठा विभाग के आरम्भ मे ही धनिष्ठा तारा मानना सिद्ध हुआ, परन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नही है। विभागा-त्मक धनिष्ठा के आरम्भस्थान से धनिष्ठा की योगतारा ४ अश ११ कला आगे है। ४ अंश ११ कला सम्पातगति होने मे ३०० वर्ष लगते है, अत उनका निश्चित किया हुआ समय लगभग ३०० वर्ष आगे आ जाता है। धनिष्ठा के आरम्भ मे उत्तरायण होने का अभिप्राय यह कैसे मान लिया जाय कि धनिष्ठा के किसी कल्पित स्थान के पास चन्द्रमा के आने पर उत्तरायणारम्भ मान लेते थे क्योकि विभागात्मक धनिष्ठा का आरम्भ स्थान कल्पित ही है।

दूसरी मुख्य बात यह है कि वेदाङ्गज्योतिष चाहे जब बना हो, पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि उसके रचनाकाल मे अश्विन्यादि गणना का प्रचार नही हुआ था अत यह भी स्पष्ट है कि अश्विन्यादि गणना के अनुसार कल्पित आजकल के विभागात्मक धनिष्ठा-रम्भस्थान को भी वे नही जानते रहे होगे, अत गणितज्ञो को यह स्वीकार करना चाहिए कि विभागात्मक धनिष्ठारम्भ मे सूर्य के आने पर उत्तरायणारम्भ मान कर वेदाङ्गज्यो-तिष का समय निश्चित करना भूल है। प्रत्यक्ष दिखलायी देनेवाले धनिष्ठा के चार या पांच तारों के पास चन्द्र और सूर्य के आने पर ही उत्तरायणारम्भ मानना उचित होगा।

सूर्य चन्द्र का सायनभोग ९ राशि होने पर उत्तरायण होता है । चूंकि उत्तरायण धनिष्ठा-रम्भ मे होता था इसलिए धनिष्ठा का सायन भोग ९ राशि होना चाहिए। केरोपन्त धनिष्ठा के तारो मे आल्फा डेल्फिनी को योगतारा मानते हैं। कोलब्रूक के मत मे भी योगतारा[1] यही है। ईसवी सन् १८८७ मे मैंने इसका सूक्ष्मभोग निकाला था। व १० राशि १५ अश ४८ कला २९ विकला आता है[2] अर्थात् ९ राशि से ४५ अश ४८ कला बढ जाता है। सम्पातगति यदि प्रतिवर्ष ५० विकला माने तो इतनी वृद्धि होने मे ३२९७ वर्ष लगेगे। इसमे से १८८७ घटा देने से ईसवी सन् पूर्व १४१० मे धनिष्ठा का भोग ९ राशि आता है। इससे सिद्ध हुआ कि उस वर्ष धनिष्ठा के आरम्भ मे उत्तरायण हुआ था । इस प्रकार वेदाङ्गज्योतिष का यही समय निश्चित होता है। प्रो० ह्विटनी के मतानुसार योगतारा बीटाडेल्फिनी मान लेने से ७२ वर्ष आगे आना पडेगा, अर्थात् वेदाङ्गज्योतिष का रचनाकाल ई० स० पूर्व १३३८ मानना होगा। धनिष्ठा नक्षत्र के सब तारे एक अश के भीतर है अतः यह समय न्यून या अधिक नही किया जा सकता। सामान्यत. ई० स० पूर्व १४०० मानना ठीक होगा। कोलब्रूक इत्यादि लिखते है कि "सन् ५७२ के लगभग रेवतीतारा सम्पात मे था, अर्थात् उस समय विभागात्मक उत्तराषाढा के प्रथम चरण के अन्त मे उत्तरायण होता था। वेदाङ्गज्योतिष मे धनिष्ठा के आरम्भ मे बताया है अत' दोनो मे २३ अश २० कला अन्तर पडा। सम्पातगति प्रतिवर्ष ५० विकला मानने से इतना अन्तर पडने मे १६८० वर्ष लगेगे अत ई० स० पूर्व (१६८०—५७२=११०८ के लगभग धनिष्ठारम्भ मे उत्तरायण होता था" परन्तु विभागात्मक धनिष्ठारम्भ में उत्तरायणारम्भ मानकर लाया हुआ यह समय वास्तव समय से ३०० वर्ष आगे चला आया। वस्तुन धनिष्ठा के प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले तारो से गणना करनी चाहिए।

१. पण्डित बापूदेव शास्त्री ने सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद मे इसी को योगतारा माना है (Bibliothika Indica New series No 1. 1860) **परन्तु मालूम होता है अपने पञ्चाङ्ग मे वे बीटाडेल्फिनी को मानते हैं। उनका यह मतभेद पीछे शायद ह्विटनी के अनुकरण से हुआ होगा। प्रो० ह्विटनी बीटाडेल्फिनी को ही योगतारा मानते हैं। (सूर्यसिद्धान्त का बर्जेसकृत अनुवाद पृ० २११ देखिए)। इसका भोज आल्फा-डेल्फिनी से १ अंश कम है।**

२. केरोपन्त ने ग्रहसाधनकोष्ठक में सन् १८५० का भोग १०।२१।१७ लिखा है पर वह अशुद्ध है। उसके स्थान में १०।१५।१७ होना चाहिए।

३. सम्पातगति क्रमशः थोड़ी-थोड़ी बढ़ रही है। ई० स० पूर्व १४०० के आसपास कदाचित् ५० विकला से कम रही होगी। ४८ विकला मानने से उपर्युक्त सभी समय

गणित द्वारा निश्चित किया हुआ वेदाङ्गज्योतिष का उपर्युक्त रचनाकाल बिल्कुल निःसंशय है परन्तु कुछ यूरोपियन पण्डित कहते हैं कि भाषासरणी इत्यादि का अवलोकन करने से वह इतना प्राचीन नही मालूम होता। जहा तक हो सकता है ये लोग हमारे ग्रन्थो को नवीन सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। मोक्षमूलर ने एक जगह इसे ई० स० पूर्व तृतीय शताब्दी का बताया है और प्रो० वेबर को तो यहा तक सन्देह है कि यह ईसवी सन् की पाचवी शताब्दी मे बना है, अत इसका थोडा विचार करेगे।

वराहमिहिर लिखते हैं—

आश्लेषार्धाद्दक्षिणमुत्तरमयन रवेर्धनिष्ठाद्यम्।
नून कदाचिदासीद्येनोक्त पूर्वशास्त्रेषु ॥१॥
साम्प्रतमयन सवितु कर्कटकाद्य मृगादितश्चान्यत्।
उक्ताभावो विकृति प्रत्यक्षपरीक्षणैर्व्यक्ति ॥२॥
बृहत्सहिता ३ अध्याय

आश्लेषार्धादासीद्यदा निवृत्ति किलोष्णकिरणस्य।
युक्तमयन तदासीत् साम्प्रतमयन पुनर्वसुत ॥
पञ्चसिद्धान्तिका।

यहा वेदाङ्गज्योतिषोक्त अयनप्रवृत्ति का वर्णन करते हुए वराहमिहिर लिखते हैं कि प्राचीन शास्त्रों मे ऐसा कहा है। इससे मालूम होता है कि उनके समय (शके ४२७) वेदाङ्गज्योतिष बहुत प्राचीन समझा जाता था।

वराहमिहिर ने पञ्चसिद्धान्तिका मे पितामहसिद्धान्त का कुछ गणित लिखा है। लेखनशैली से ज्ञात होता है कि उनके समय वह अत्यन्त प्राचीन हो जाने के कारण निरुपयोगी हो गया था। ब्रह्मगुप्त ने भी लिखा है—

ब्रह्मोक्त ग्रहगणित महता कालेन यत् खिलीभूतम् ॥
ब्रह्मसिद्धान्त, १ अध्याय, २ आर्या

इससे सिद्ध होता है कि पितामहसिद्धान्त वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त के बहुत पहिले बना था। मैने द्वितीय भाग मे दिखलाया है कि पितामहसिद्धान्त का

लगभग १३५ वर्ष पीछे चले जायेगे। कोलब्रुक इत्यादिकों की रीति से लाया हुआ इस समय (ई० स० पूर्व ११०८) उनके निश्चित किये हुए समय से किञ्चित् भिन्न है। सम्पातगति न्यूनाधिक मानने से तथा रेवतीतारा सम्पातस्थ होने के समय मे मतभेद होने के कारण यह अन्तर पड़ा है।

वेदाङ्गज्योतिषपद्धति से कुछ साम्य है, अत वेदाङ्ग ज्योतिष भी अत्यन्त प्राचीन होना चाहिए।

ऊपर गर्गाचार्य के कुछ श्लोक लिखे है। उनसे ज्ञात होता है कि गर्ग के समय वेदाङ्गज्योतिषपद्धति का बडा महत्व था।

पराशर का वचन है—

श्रविष्ठाद्यात् पौष्णार्घ चरत शिशिरो वसन्त ।

बृहत्सहिता ३ १ भटोत्पलटीका ।

इसमे भी वेदाङ्गज्योतिषोक्त अयनप्रवृत्ति का वर्णन है। इससे सिद्ध होता है कि वेदाङ्गज्योतिष गर्ग और पराशर से प्राचीन है। उनकी सहिताओ मे वेदाङ्गज्योतिषपद्धति मिलती अवश्य है, परन्तु मालूम होता है उस समय उत्तरायण ठीक धनिष्ठारम्भ मे नही होता था। उसमे कुछ अन्तर पड गया था।

भटोत्पल ने बृहत्सहिता के तृतीयाध्याय मे "अप्राप्तमकर" श्लोक की टीका में गर्ग का निम्नलिखित वचन उद्धृत किया है—

यदा निवर्ततेऽप्राप्त श्रविष्ठामुत्तरायणे ।
आश्लेषा दक्षिणेऽप्राप्तस्तदा विन्द्यान्महद्भयम् ॥

इसी प्रकार पराशर का भी वचन लिखा है। इससे विदित होता है कि वेदाङ्गज्योतिष गर्ग और पराशर से बहुत पहिले बन चुका था। इन गर्ग और पराशर का समय निश्चित करना बडा कठिन है, परन्तु महाभारत मे गर्ग नाम के ज्योतिषी बड़े प्रसिद्ध है (गदापर्व, अध्याय ८, श्लोक १४ तथा आगे के श्लोको को देखिए)। पातञ्जलिमहाभाष्य मे भी गर्ग का नाम अनेकों बार आया है। पाणिनीय मे भी गर्ग और पराशर के नाम आये है (४।३।११०, ४।१०।१०५)। इससे सिद्ध हुआ कि गर्ग और पराशर पाणिनि से प्राचीन है और वेदाङ्गज्योतिष उनसे भी प्राचीन है। डा० भाण्डारकर के मतानुसार पाणिनि का समय ई० स० पूर्व सातवी शताब्दी का आरम्भ काल है। कैलासवासी कुटे ने ई० स० पूर्व नवी शताब्दी का आरम्भ बताया है। पाणिनीय मे सवत्सर और परिवत्सर शब्द आये है (५।१।९२)। वेदाङ्गज्योतिषोक्त आढ़क और तत्कालीन खारी इत्यादि मान भी पाणिनि के समय प्रचलित थे (५।१।५३ इत्यादि)। इन सब हेतुओ से भी यही अनुमान होता है कि वेदाङ्गज्योतिष पाणिनि से प्राचीन है।

एक और उल्लेखनीय बात यह है कि ऐतरेयब्राह्मण और तैत्तिरीय संहिता ब्राह्मणोक्त विषुवान् दिवस जो कि बडा महत्वशाली पदार्थ है, उसे लाने की रीति वेदाङ्ग-

ज्योतिष की भाँति अन्य किसी ज्योतिषग्रन्थ मे जानबूझ कर नही बतायी है। दूसरी बात यह कि वेदाङ्गज्योतिष का मुख्य उद्देश्य पर्वज्ञान करना है, अत वह उस समय बना होगा जब कि भारत मे वेदोक्त यज्ञमार्ग पूर्ण प्रचलित था। भाषा की दृष्टि से 'यथा शिखा मयूराणा' इत्यादि कुछ श्लोक कदाचित् अर्वाचीन हो परन्तु सब श्लोको के विषय मे ऐसा नही कहा जा सकता।

मार्टिन हो ने अपने वेद विषयक व्याख्यान में लिखा है कि "वेदाङ्गज्योतिष (ऋ० श्लो० ७) में धर्म शब्द दिवस अर्थ में आया है परन्तु धर्म शब्द का इस भाँति प्रयोग पाणिनि के पूर्व यास्काचार्य के समय भी बन्द था। श्रौतस्मार्त सूत्र ईसवी सन् पूर्व १२०० से ६०० पर्यन्त बने। वेदाङ्गज्योतिष भी उसी समय बना होगा।" ज्योतिष की परिभाषाओं का विचार करने से ज्ञात होता है कि वेदाङ्गज्योतिष को अर्वाचीन कहना निराधार है। 'वेद चार है' इस प्रकार सख्या इत्यादि का निर्देश करने के विषय मे उसकी भाषा अन्य ज्योतिष ग्रन्थो से बिलकुल भिन्न है।

प्रो० वेबर का कथन है कि "वेदाङ्गज्योतिष मे नक्षत्रो के नाम अर्वाचीन ग्रन्थो के है और मेषादि राशियों के नाम भी आये है।" राशि शब्द जिस श्लोक मे आया है उसका अर्थ मैंने ऊपर लिखा है। वेदाङ्गज्योतिष मे राशियो के नाम तो नही ही है पर नक्षत्रों के भी अर्वाचीन नाम नही हैं। नक्षत्रो मे से स्पष्टतया ऋक्पाठ मे केवल श्रविष्ठा का नाम आया है। वह भी अर्वाचीन ग्रन्थोक्त धनिष्ठा नही है। यजु.पाठ के ३३वे श्लोक मे नक्षत्रो के ९ नाम है। उनमे अश्वयुक् प्राचीन है। नवीन अश्विनी शब्द नही आया है। शेष प्राचीन और नवीन नाम समान ही है। ऋक्पाठ के १४वे श्लोक मे नक्षत्र चिह्नो द्वारा बतलाये है। उनमे अश्वयुक् और शतभिषक् दो नाम ऐसे है जिनमे प्राचीन और नवीन का भेद पहिचाना जा सकता है। ये दोनो प्राचीन है। एक नाम श्रवण भी है। यद्यपि तैत्तिरीयब्राह्मण की भाँति यहा श्रोणा शब्द नही आया है तथापि श्रवण नाम अथर्वसहिताकाल और पाणिनिकाल मे भी प्रचलित था (पाणिनीय ४।२।५, ४।२।२३)। अत. वेबर का कथन बिलकुल हेय है और गणित द्वारा जो समय लाया गया है वही वेदाङ्गज्योतिष का ठीक रचनाकाल है।

रचनास्थल

अब वेदाङ्गज्योतिषोक्त दिनमान के स्थान का विचार करेंगे। ऋक्पाठ के ७वे और २२वें श्लोकों से दिनमान की दैनन्दिन वृद्धि $\frac{८}{६१}$ घटी और अयनान्त के समय दिन-

मान २४ या ३६ घटी आता है। इस प्रकार रवि की परमक्रान्ति के समय दिनार्ध १२ या १८ घटी और चरसंस्कार ३ घटी हुआ। ई० स० पूर्व १४०० के लगभग रवि की परम क्रान्ति २३ अंश ५३ कला थी (केरोपन्ती ग्रहसाधनकोष्ठक का पृ० ५५ देखिए)। हमारे ज्योतिष ग्रन्थकार परम क्रान्ति २४ अंश मानते हैं। यहां दोनों के अनुसार अक्षांश लावेंगे। उसकी रीति इस प्रकार है—

चरभुजज्या × क्रान्तिकोस्पर्शरेखा।
=अक्षांशस्पर्शरेखा।
चर ३ घटी=१८ अंश।
१८° भुजज्या लाग्रथम् ९·४८९९८२
२४° को स्प० रे० लाग्रथम् १० ३५१४१७
३४° । ४५° ८ स्प० रे०= ९ ८४१३९९

१८° भुजज्या लाग्रथम् ९ ४८९९८२
२३°।५३ कोस्प० ला० १० ३५३८०१
३४°।५४ ६ स्प० रे०= ९ ८४३७८३

इससे मालूम होता है कि वेदाङ्गज्योतिषोक्त दिनमान ३४।४६ या ३४।५५ अक्षांश-वाले स्थल के आसपास का है। दिनमान की वृद्धि सर्वदा एक रूप मानकर ऊपर उसकी दैनन्दिन वृद्धि $\frac{४}{६१}$ घड़ी बतायी है, पर वस्तुत: ऐसा नहीं होता। अयनसन्धि के पास दिनमान की वृद्धि बहुत कम और विषुवसन्धि के पास बहुत अधिक होती है। ३५ अक्षांशवाले प्रदेश में अयनसन्धि के समय दिनमान दो दिनों में अधिकाधिक $\frac{१}{६१}$ घटी बढ़ता है पर विषुवसन्धि के समय एक ही दिन में लगभग $\frac{५२}{६१}$ घटी बढ़ जाता है।

(अयनचलन)

वेदाङ्गज्योतिष में युगारम्भ उत्तरायणारम्भ में बतलाया है और धनिष्ठारम्भ में भी। इससे विदित होता है कि उस समय अयनचलन का ज्ञान नहीं था।

वेदाङ्गज्योतिषोक्त वर्षादिकों के मान अगले पृष्ठ के कोष्ठक में लिखे हैं।

सवत्सर	विषुवान्	ऋत्वारम्भ	क्षयतिथि
		माघ कृ० १०	माघ कृ० ९
इदावत्सर	वैशाख	चैत्र कृ० १२	चैत्र कृ० ११
३८४	कृष्ण १२	ज्येष्ठ कृ० १४	ज्येष्ठ कृ० १३
		श्रावण शु० १	अ० श्राव० ३०
	कार्तिक शु०		
	तृतीया	आश्विन शु० ३	आश्विन शु० २
		मार्गशीर्ष शु० ५	मार्गशीर्ष शु० ४
		माघ शु० ७	माघ शुक्ल ६
अनुवत्सर	वैशाख	चैत्र शुक्ल ९	चैत्र शु० ८
३५४	शुक्ल ९	ज्येष्ठ शुक्ल ११	ज्येष्ठ शुक्ल १०
		श्रावण शुक्ल १३	श्रावण शु० १२
	कार्तिक शुक्ल	आश्विन शु० १५	आश्विन शु० १४
	पूर्णिमा १५	मार्गशीर्ष कृ० २	मार्ग कृ० १

संवत्सर	विषुवान्	ऋत्वारम्भ	क्षयतिथि
इद्वत्सर	वैशाख	माघ कृष्ण ४	माघ कृ० ३
३८३	कृष्ण ६	चैत्र कृ० ६	चैत्र कृ० ५
		ज्येष्ठ कृ० ८	ज्येष्ठ कृ० ७
	कार्तिक	श्रावण कृ० १०	श्रावण कृ० ९
	कृष्ण १२	आश्विन कृ० १२	आश्विन कृ० ११
			मार्गशीर्ष कृ० १३
		मार्गशीर्ष कृ० १४	
			अधि० माघ कृ. ३०
१८३०	१०	३०	३०

युगान्तर्गत अयनों के आरम्भकाल पीछे पृष्ठ मे लिखे है। इस कोष्ठक मे युग की ३० ऋतुओ के आरम्भ दिन लिखे है। इनमे से प्रत्येक दो-दो ऋत्वारम्भ कालो के बीच मे एक सौरमास आरम्भ होता है। इस प्रकार ६० मासारम्भ होते है। यही पाच वर्षो की ६० सूर्य सक्रान्तिया है। युगादि से ३० चान्द्रमास बीतने पर तृतीय वर्ष के आषाढ और श्रावण के मध्य मे एक अधिमास होता है और इसके बाद पुन ३० चान्द्र-मास व्यतीत होने पर पाचवे वर्ष मे पौष के बाद दूसरा अधिमास आता है। इस प्रकार प्रत्येक युग मे श्रावण और माघ अधिमास होते है। एक युग मे १८३० सावन दिन और १८६० तिथिया होती है, इसलिए क्षयतिथिया ३० मानी जाती है। युग मे चन्द्रमा की ६७ प्रदक्षिणा होती है, इसलिए नक्षत्र (६७ × २७) १८०९ होते है अर्थात् १८३० सावनदिनो मे २१ नक्षत्रो की वृद्धि होती है। नक्षत्रो का आरम्भ श्रविष्ठा से होता है, उनके नाम ऊपर ऋग्वेदज्योतिष के २५-२७ श्लोको मे लिखे है। वेदाङ्गज्योतिषपद्धति मे सूर्य और चन्द्रमा की गति सर्वदा एकरूप मानी गयी है। इसी को अन्य ज्योतिष ग्रन्थो मे मध्यम गति कहते है। मध्यम तिथि का मान सावन दिन से छोटा होने के कारण तिथि की वृद्धि कभी नही होती और मध्यम नक्षत्र का मान सावन दिन से बडा होने के कारण नक्षत्र का क्षय भी कभी नही होता।

पचांग

उपर्युक्त विचारो से यह स्पष्ट है कि वेदाङ्गज्योतिषपद्धति के अनुसार एक बार यदि पांच वर्ष का पञ्चाङ्ग बना लिया जाय तो वही प्रत्येक युग मे काम दे सकेगा। ग्रन्थ विस्तार होने के भय से यहा पञ्चाङ्ग नही बनाया, पर उसकी मुख्य बाते ऊपर बतला दी हैं।

अब यह विचार करेगे कि वेदाङ्गज्योतिषोक्त वर्षादि मानो मे त्रुटि कितनी है।

	वेदाङ्गज्योतिष	सूर्यसिद्धान्त	आधुनिक यूरोपियन मान
युगीय सावनदिन	१८३०	१८२६.२९३८	१८२६ २८१९ (नाक्षत्रसौर)
६२ चान्द्रमासो के दिन	१८३०	१८३० ८९६१	१८३० ८९६४
९५ वर्षो मे सावन दिन	३४७७०	३४६९९.५८	३४६९९ ३६ (नाक्षत्र सौरवर्ष) ३४६९८.०३ (सायन सौरवर्ष)[1]
११७८ चान्द्रमासो मे दिन	३४७७०	३४७८७.०३	३४७८७ ०३

१. ई० स० पूर्व लगभग १४०० के सायन वर्षमान द्वारा यह संख्यालायी गयी है।

इससे विदित होता है कि चान्द्रमास के मान मे बहुत थोडी और सौरवर्ष के मान मे अधिक[1] अशुद्धि है। अतः अयनारम्भ यदि एक बार माघ शुक्ल प्रतिपदा को हुआ तो द्वितीय युग के आरम्भ में लगभग ४ दिन पहिले होगा और ९५ वर्षो मे लगभग ७२ दिन पहिले होने लगेगा। यद्यपि चान्द्रमास मे अशुद्धि कम है, तो भी ५ वर्षो मे लगभग ५४ घटी की कमी पड जाती है। अत वेदाङ्गज्योतिषपद्धति के अनुसार अमावस्या और पूर्णिमा मानने से उनमे ५ वर्षो मे लगभग एक दिन का अन्तर पड जायगा मे अयन सम्बन्धी अशुद्धि शीघ्र ध्यान मे नही आती परन्तु अमावस्या और पूर्णिमा की स्थिति ऐसी नही है। अत गणित मे सौकर्य होने के लिए युग मे १८३० मानते हुएभी उस समय पूर्णिमा का ज्ञान चन्द्रमा की प्रत्यक्ष स्थिति द्वारा ही करते रहे होगे। यह पद्धति भी १८३१ दिन मानने के समान ही हुई। ९५ वर्षो मे ३८ अधिमास मिला कर ११७८ चान्द्रमास ग्रहण करने से वास्तविक दिनसख्या ३४७८७ होगी। वेदाङ्गज्योतिषानुसार भी कम से कम ३४७७० अवश्य ही होगी अर्थात् पहिली माघ शुक्ल प्रतिपदा के इतने दिनो बाद ९६वे वर्ष की माघ शुक्ल प्रतिपदा आवेगी। अत ९५ वर्षो का वास्तव सायन सौरमास ३४६९८ दिन होने के कारण वेदाङ्गज्योतिपपद्धति के अनुसार ९६वे वर्ष की जो माघ शुक्ल प्रतिपदा होगी उसके लगभग ८९ दिन या कम से कम ७२ दिन पहिले उत्तरायण होगा। इस प्रकार यहा लगभग ३ या २½ चान्द्रमासो का अन्तर पडता है। वेदाङ्गज्योतिषपद्धनि मे ९५ वर्षो[2] मे ३८ अधिमास होते है। उसके स्थान मे ३५ मान लेने से यह अन्तर नही पडेगा। यदि ऐसा नही करेगे तो ३०० वर्षो मे ३ ऋतुओ का अन्तर पड जायगा। यह बहुत अधिक है।

जिस पद्धति मे इतनी अशुद्धि है उसका बहुत समय तक सर्वत्र प्रचलित रहना असम्भव है। अत यह अनुमान करना ही पडता है कि वेदाङ्गज्योतिषपद्धति बहुत समय तक सर्वत्र प्रचलिन नही रही होगी। इस पद्धति से अधिक मास, क्षयतिथि और नक्षत्र-

१. श्री विसाजी रघुनाथ लेले का कथन यह है कि 'यूरोपियन ज्योतिषी भी यह स्वीकार करते है कि वर्षमान उत्तरोत्तर कम होता जा रहा है।' अतः सम्पात के इसके पहिलेवाले चक्र मे अर्थात् २८ सहस्र वर्ष पूर्व वेदाङ्गज्योतिष बना होगा और उस समय वर्षमान सचमुच ३६६ दिनों का रहा होगा।

२. यहाँ वर्षसंख्या ९५ मानने का कारण यह है कि इससे कम दूसरी कोई ऐसी संख्या नहीं है जिसमें वेदाङ्गज्योतिषपद्धति और आधुनिक सूक्ष्मपद्धति दोनों से अधिक मास संख्या पूर्ण आती हो। वेदाङ्गज्योतिषपद्धति से ९५ वर्षों में अधिमास ३८ आते है और आधुनिक सूक्ष्म पद्धति से लगभग ३५।

वृद्धिया सर्वदा एक ही होती है और इन बातो का धार्मिक कृत्यो मे बडा महत्व है। अधिमास तो वेदो मे भी निन्द्य माना हुआ दीखता है, अत वेदाङ्गज्योतिष-पञ्चाङ्ग सर्वत्र अथवा अधिकाश प्रदेशो मे बहुत समय तक प्रचलित रहा होता तो उसके नियमित अधिमासादिको का उल्लेख सूत्रादि ग्रन्थो मे कुछ-न-कुछ अवश्य होता परन्तु ऐसा नही है। इससे अनुमान होता है कि इसका प्रचार देश के कुछ ही भागो मे कुछ समय तक रहा होगा। इस बात का पोषक एक और भी प्रमाण यह है कि वेदाङ्गज्योतिषोक्त दिनमानवृद्धि लगभग ३४ अक्षाशवाले प्रदेशो ही मे लागू होती है। परन्तु इन सब बातो से यह न समझना चाहिए कि वेदाङ्गज्योतिष का रचनाकाल ई० स० पूर्व १४०० से भिन्न होगा। तैत्तिरीयश्रुति मे सवत्सरो के नाम कही चार कही पाच और कही छ हैं। इसका कारण हमे यह मालूम होता है कि उस समय वेदाङ्गज्योतिष की पञ्च-सवत्सरात्मक पद्धति का पूर्ण प्रचार नही हुआ था। पाच वर्षो के बाद उन्हे सामान्यत: यह दिखलाई पडा होगा कि पहिले जिन चान्द्रमासो मे अयनारम्भ होता था उन्ही मे अब भी हो रहा है। उस समय पाच सवत्सरो के नाम पडे होगे परन्तु आगे चलकर जब उसमे अन्तर दिखलाई पडा होगा तब कभी चार और कभी छ सवत्सरो का युग माना गया होगा। कुछ दिना तक व्यवहार मे किसी भी युग का प्रचार न रहा होगा। उसके कुछ समय बाद वर्ष मे ३६६ दिन मानने से पञ्चवर्षात्मक युग के गणित मे सरलता देखकर वेदाङ्गज्योतिषकार ने उसका प्रचार किया होगा और उसकी पद्धति बनायी होगी परन्तु आगे चलकर वह पद्धति बहुत शीघ्र ही छोड देनी पडी होगी अथवा बिलकुल न छोड कर योग्य स्थान मे अधिमास मिलाकर अर्थात् लगभग ९५ वर्षो मे ३८ नही बल्कि ३५ अधिमास मान कर पूर्वापर सगति लगाते हुए उक्त पद्धति स्वीकार की गयी होगी। धर्मकृत्यो का विधान प्राय चान्द्रमास के अनुसार होने के कारण हमारे यहा अनादिकाल से ही सर्वदा उसका प्रचार रहा है और इस पद्धति मे एक बडा सुभीता यह है कि चान्द्रमासो मे अधिक मास का उचित स्थान मे प्रक्षेपण करते हुए सौरमासो से उनका मेल रखा जा सकता है। मैने अपना यह अनुमान प्रथम विभाग मे लिखा ही है कि वेदकाल मे भी यही पद्धति प्रचलित रही होगी। लगभग १००० वर्षो तक उत्तरा-यण धनिष्ठा मे ही रहा होगा। अधिक मास मिलाने का नियम बदलने, युगारम्भ-कालीन माघारम्भ मे धनिष्ठा मे उत्तरायण लाने और, पाच सवत्सरो के नाम स्थिर रखने की पद्धति कई शताब्दियो तक प्रचलित रहने मे कोई अडचन नही दिखलाई देती। साराश यह कि वेदाङ्गज्योतिषपद्धति अपने मूल स्वरूप से च्युत हो जाने पर भी कुछ भिन्न रूप मे बहुत दिनो तक चलती रही होगी। यही कारण है कि गर्गादिको के लेखो मे इसके उल्लेख मिलते है। साठ सवत्सरो का बार्हस्पत्यसवत्सरचक्र पञ्चवर्षात्मक

युगपद्धति के अनुकरण द्वारा ही उत्पन्न हुआ है। इसका अधिक विवेचन दूसरे विभाग मे किया जायगा। मालूम होता है वेदाङ्गत्व प्राप्त होने के कारण इस पद्धति का महत्व बहुत बढ़ गया था। इसे वेदाङ्गत्व कब प्राप्त हुआ यह निश्चित रूप से तो नही बतलाया जा सकता परन्तु अनुमानत इसकी उत्पत्ति के बाद २०० वर्षो के भीतर अर्थात् धार्मिक और व्यावहारिक कार्यो मे इसके मूल स्वरूप का निरुपयोगित्व दिखाई देने के पहिले ही ऐसा हुआ होगा। वराहमिहिर ने यद्यपि इसे कही वेदाङ्ग नही कहा है तथापि अपने समय मे यह (वेदाङ्गज्योतिषपद्धति) वेदाङ्ग अवश्य रही होगी।

ब्रह्मगुप्त (शक ५५०) ने एक जगह लिखा है—

युगमाहु पञ्चाब्द रविशशिनो संहिताङ्गकारा ये।
अधिमासावमरात्रस्फुटतिथ्यज्ञानतस्तदसत् ।।२।।

ब्र० सि० अ० ११

यहा अङ्ग शब्द वेदाङ्गज्योतिष के ही उद्देश्य मे कहा हुआ जान पडता है। आजकल भी इसे वेदाङ्ग मानते ही है।

अपपाठ

निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि वेदाङ्गज्योतिष के ऋक्पाठ मे अशुद्धियो का प्रवेश कब हुआ परन्तु वराहमिहिर के 'पञ्चाशत्पलमाढक' तथा भटोत्पल के 'चतुर्भिराढकैर्द्रोण' वाक्य से प्रतीत होता है कि उनके समय तक (शक ४२७ और ८८८) अशुद्धिया प्रविष्ट नही हुई थी। भटोत्पल ने बृहत्संहिता के ८वे अध्याय के उपान्त्य श्लोक की टीका मे ऋक्पाठ के ३२वें श्लोक का उत्तरार्ध लिखा है। मेरे पास की हस्तलिखित प्रति मे वह इस प्रकार है—

युगस्य पञ्चमस्येह कालज्ञान निबोधत ।।

इसमे 'पञ्चमस्य' पाठ अशुद्ध है। उसके स्थान मे 'पञ्चवर्षस्य' होना ही चाहिए। आधुनिक वैदिक पाठ में 'निबोधत' के स्थान मे 'प्रचक्षते' है। यजु पाठ मे भी 'निबोधत' नही है। यदि भटोत्पल का मूल शब्द 'निबोधत' ही हो तो कहना पडेगा कि सम्प्रति बिल्कुल निश्चित समझा जानेवाला वैदिक पाठ शके ८८८ पर्यन्त निश्चित नही हुआ था। परन्तु कुछ और प्रमाण मिले बिना यह अनुमान नि सन्देह नही कहा जा सकता।

प्रधान पाठ

वराहमिहिर और भटोत्पल द्वारा उद्धृत उपर्युक्त वाक्य ऋक्पाठ के १७वें श्लोक में है। इन्हीं अर्थों का सूचक युज पाठ का २४वा श्लोक भी ऊपर लिखा है,

परन्तु उसकी शब्दरचना बिलकुल भिन्न है। इससे ज्ञात होता है कि वैदिक लोग आज-कल जो ऋग्ज्योतिष पढते हैं वही वराहमिहिर और भटोत्पल के समय भी शुद्ध रूप मे प्रचलित रहा होगा। यजु पाठ का प्रचार नही रहा होगा। कम से कम ऋक्पाठ का उस समय प्राधान्य तो अवश्य रहा होगा। आर्यभटीय के टीकाकार सूर्यदेव यज्वन् ने वेदाङ्गज्योतिष के दो श्लोक टीका मे लिखे है (डा० केर्न के आर्यभटीय की प्रस्तावना देखिए)। ये ऋग्ज्योतिष के ३५वे और ३६वे श्लोक है। इनका क्रम भी ऋक्पाठ के अनुसार ही है। यजु पाठ मे ये क्रमश चतुर्थ और तृतीय श्लोक है। टीका के पूर्वापर सन्दर्भ से मालूम होता है कि वहा प्रथम या अन्तिम श्लोक अभीष्ट था। इससे सूर्यदेव के समय भी ऋक्पाठ का ही प्राधान्य सिद्ध होता है। सूर्य-देव यज्वन् का समय ज्ञात नही है, पर वे भटोत्पल से नवीन होगे।

सूर्यदेव के इसी उल्लेख मे ३५वे श्लोक के उत्तरार्ध मे 'तद्वत्' के स्थान मे 'तथा' पाठ है, परन्तु वह ऋक् और यजु दोनो मे भी नही मिलता। अतः यह पाठ यदि मूलत· सूर्यदेव का ही है तो कहना पडेगा कि सूर्यदेव के समय कम से कम उनके प्रान्त मे आजकल की तरह वैदिक पाठ निश्चित नही हुआ था।

वराहमिहिर भटोत्पल और सूर्यदेव यज्वन् को यजु.पाठ मालूम था या नही, इसके विषय मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता परन्तु यजु पाठ प्राचीन अवश्य है क्योकि उसमे ऋक्पाठ के ६ ही श्लोक नही है और उसमे भी महत्व के केवल तीन श्लोक १३, १९ और ३३ नही है। दूसरी बात यह कि ऋक्पाठ की अपेक्षा उसमे १३ श्लोक अधिक है। तदन्तर्गत विषयो से बिलकुल स्पष्ट है कि ये श्लोक तभी के है जब कि वेदाङ्गज्योतिषपद्धति प्रचलित थी। हो सकता है लगध के ही हो। यजु पाठ के ३६वे श्लोक मे बतलाये हुए उग्र और क्रूर नक्षत्र अन्य ज्योतिष ग्रन्थो से बिलकुल भिन्न है। इससे भी उस की प्राचीनता सिद्ध होती है। परन्तु लगध के मूल श्लोको के अतिरिक्त कुछ नवीन श्लोक उसमे पीछे से मिश्रित हो गये होगे क्योकि इसके २४वे श्लोक की शब्दरचना ऋक्पाठ से बिलकुल भिन्न है। २१ वा श्लोक भी बहुत भिन्न है। दूसरी बात यह है कि दोनो पाठो मे जिन श्लोको का अर्थ नही लगा है उनमे से कुछ समानार्थक होगे और मेरी समझ से कुछ कदाचित् परस्पर विरुद्ध अर्थ के भी होगे।

वेदाङ्गज्योतिष के दोनो पाठो मे श्लोको का क्रम सुसगत नही है। सब श्लोक विषयो की सगति के अनुसार रखे जाय तो उनका क्रम बहुत बदल जायगा। इससे अनुमान होता है कि आधुनिक क्रम की रचना पीछे से हुई होगी और सम्भवत. रचना के समय छ श्लोक बिलकुल छूट गये होंगे। इस कथन की पुष्टि करनेवाला एक

दृढ प्रमाण यह है कि काष्ठा और अक्षर नामक परिमाण केवल एक ही श्लोक मे लिखे है और उनका इतर परिमाणो से सम्बन्ध कही भी नही दिखाया है। उनका प्रयोग भी कही नही किया है। यह तो स्पष्ट है कि ये शब्द निष्प्रयोजन नही लिखे होगे, अत मानना पडता है कि इनसे सम्बन्ध रखनेवाले कुछ श्लोक लुप्त हो गये होगे।

ग्रहगति

वेदाङ्गज्योतिष मे केवल सूर्य और चन्द्रमा की गतिया बतायी है। ग्रहो के विषय मे कुछ नही लिखा है। कुछ श्लोको का अर्थ नही लगा है परन्तु हम निश्चयपूर्वक कहते है कि जिन श्लोको का अर्थ लग चुका उनकी अपेक्षा अधिक महत्त्व का कोई विषय न लगे हुए श्लोको मे नही है।

मध्यमगति

सूर्य और चन्द्रमा की सर्वदा एकरूप रहनेवाली अर्थात् मध्यम गतिया बतायी है। वस्तुत ये क्षण-क्षण मे न्यूनाधिक हुआ करती है। इस कारण सूर्य की स्पष्टस्थिति लगभग २ अश और चन्द्रमा की लगभग ८ अश आगे पीछे हो जाती है। स्पष्टस्थिति और मध्यम स्थिति के भिन्नत्व (अन्तर) को ही फल सस्कार कहते है। इसका आनयन ज्योतिष का एक बडा महत्वशाली विषय है। मालूम नही, वेदाङ्गज्योतिष काल मे इसका ज्ञान था या नही। ब्रह्मगुप्त की पृ० १३४ मे लिखी हुई आर्या से उनका कथन ऐसा मालूम होता है कि उस समय स्पष्टस्थिति का ज्ञान नही था।

सूर्य चन्द्र की गतिस्थिति का सर्वदा सूक्ष्म अवलोकन और विचार किये बिना उनकी मध्यम और स्पष्टस्थिति का भेद समझ मे नही आ सकता। स्पष्ट गतिस्थिति का ज्ञान न होते हुए भी वेदाङ्गज्योतिषकाल में मध्यमस्थिति का ज्ञान था, यह बात भी भूषणास्पद ही है। ग्रहण पर्वान्त के आसपास होते है, यह मालूम रहने पर ही ग्रहण के समय उनके अन्तर का निरीक्षण किया जा सकता है। सूर्य या चन्द्रमा की एक प्रदक्षिणा आरम्भ होने के बाद कुछ प्रदक्षिणाए समाप्त होने मे जो समय लगता है उसकी गणना किये बिना उनकी एक प्रदक्षिणा सम्बन्धी काल तथा दैनिक मध्यमगति का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः यह स्पष्ट है कि वेदाङ्गज्योतिष की रचना के पहिले लोगो ने इतना अनुभव अवश्य किया था। सूर्यदर्शन के समय उसके पास के नक्षत्र नही दिखाई देते। शायद इसी कारण सौरवर्ष के मान मे अधिक अशुद्धि हुई।

मध्यम गति के कारण वेदाङ्गज्योतिष के अयनो और विषुव दिनो मे १८३ का

और अयनदिन से विषुव दिन पर्यन्त ९१$\frac{1}{2}$ दिन का अन्तर है परन्तु ई० स० पूर्व १४०० के लगभग वे निम्नलिखित अन्तर से हुआ करते थे—

	दिन	घटी
उत्तरायण से प्रथम विषुव पर्यन्त	९१	५
प्रथम विषुव से दक्षिणायन पर्यन्त	९४	५
दक्षिणायन से द्वितीय विषुव पर्यन्त	९१	३०
द्वितीय विषुव से उत्तरायण पर्यन्त	८८	३५
	३६५	१५

ऋग्वेदज्योतिष मे वर्ष अर्थ मे केवल दो शब्द सवत्सर'और वर्ष आये है। यजुर्वेदज्योतिष मे इन दोनो के अतिरिक्त एक अब्द-शब्द भी है (श्लोक २८)। वेदो मे केवल शतपथ ब्राह्मण में इसके वर्ष और अब्द नाम आये है ।

अमान्त मास

एक विशेष बात यह है कि इसमे मास अमान्त माना है।

आदिनक्षत्र

वेदाङ्गज्योतिष मे आदि नक्षत्र धनिष्ठा है। ऋक्पाठ के २५, २६ और २७ श्लोको मे नक्षत्रो के देवता बतलाये है। वेद की भाँति यहा भी उनका आरम्भ कृत्तिका से ही है। महाभारत मे धनिष्ठादि गणना का उल्लेख है। ६० और १२ वर्ष के वार्हस्पत्यसवत्सरचक्रो का आरम्भ धनिष्ठा से है।

अङ्कगणित

वेदाङ्गज्योतिषकाल मे पूर्णाङ्को के परिकर्मचतुष्टय (योग, अन्तर, गुणा और भाग) तथा त्रैराशिक का ज्ञान था। इतना ही नही, ऋक्पाट के श्लोक ७, १७, २२, १४, १६, १८ और यजुःपाठ के ३७वे श्लोक से ज्ञात होता है कि भिन्नपरिकर्मचतुष्टय का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। अपवर्तन (संक्षिप्त करना) की युक्तियों से मालूम होता है कि लोगों ने अङ्कगणित में अच्छा परिश्रम किया था।

लग्न

ऋक्पाठ के १९वें श्लोक मे कहा है 'श्रविष्ठाभ्या गुणाभ्यस्तान् प्राग्विलग्नान् विनिर्दिशेत्'। अन्य ज्योतिष ग्रन्थों में क्रान्तिवृत्त के क्षितिज से लगे हुए (प्राग्वि-

लग्न) भाग को तत्कालीन लग्न कहते है। इस श्लोक का भी यदि कुछ ऐसा ही अर्थ हो तो वह बडे महत्व का होगा।

मेषादि राशियां

इसमे मेषादि १२ राशिया नही है। क्रान्तिवृत्त के १२ भाग मान कर तदनुसार ग्रहस्थिति लाने की पद्धति भी नही है। सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति नाक्षत्रिक विभाग के अनुसार बतायी है।

सौरमास

मेषादि राशियो के न होते हुए भी सौरमास है। प्रत्यक्ष 'सूर्यमास' शब्द भी आया है। अनेको जगह सौरमास और चान्द्रमास का सम्बन्ध स्पष्टतया दिखलाया है। ४½ सूर्यनक्षत्र अर्थात् दो सौरमासो की ऋतु बतलायी है। साथ ही साथ प्रत्येक ऋतु का आरम्भ चान्द्रमास की किस तिथि को होता है, यह भी बताया है। सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थो मे चान्द्र और सौरमास के सम्बन्ध से अधिमासशेष लाने की जैसी रीति है वैसी ही इसमे भी है (ऋक्पाठ श्लोक २३)। सौरमासो के अलग नाम नही है अत. चैत्रादि नामो का ही प्रयोग उनके लिए भी होता रहा होगा। सम्प्रति बगाल प्रान्त मे सौरमास का प्रचार है, पर उनके नाम चैत्रादि ही है।

सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थो के अहर्गण की भाँति इसमे पर्वगण लाने की रीति बतायी है।

अब यहा एक और महत्व की बात बताकर इस प्रकरण को समाप्त करेंगे। वह बात यह है कि क्षेत्र विभाग सरीखे काल विभाग मानने की पद्धति वेदाङ्गज्योतिषकाल में स्थापित हुई थी। सूर्यसिद्धान्तादि ज्योतिष ग्रन्थो मे कालविभाग और क्षेत्रविभाग (वृत्त के विभाग) का साम्य इस प्रकार है—

६० पल=घटी।	६० विकला=कला।
६० घटी=दिन।	६० कला=अंश।
३० दिन=मास।	३० अश=राशि।
१२ मास=वर्ष।	१२ राशि=वृत्तपरिधि।
३६० दिन=वर्ष।	३६० अंश=वृत्तपरिधि।

इसमे कालविभाग और क्षेत्रविभाग एक ही पद्धति के या यों कहिए कि एक ही हैं। इसी प्रकार वेदाङ्गज्योतिष मे नक्षत्र मे ६१० कलाएं मानी गयी हैं। चन्द्रमा दिनभर में इनमे से ६०३ कलाएं चलता है। ये दिन की कलाएं मानी है। (ऋक्पाठ

का १८वा और २१वा श्लोक देखिए) दिन की ६०३ कलाए गणित मे थोडी असुविधे की-सी दीखती है, पर नक्षत्र के सम्बन्ध से इनमे बडा सुभीता है। यह क्षेत्रानुरूप कालविभाग हुआ। १२४ पर्वो द्वारा नक्षत्र के १२४ अशो की कल्पना की गयी है। यह कालविभागानुरूप क्षेत्रविभाग हुआ। यह पद्धति यदि वेदाङ्गज्योतिष मे है और वेदकाल से लगातार प्रचलित वर्ष के ३६० दिन का भी वर्णन उसमे है तथा वर्ष के समान १२ विभाग अर्थात् १२ सौरमास, मास मे ३० दिन, दिन मे ६० घटी, ये कालमान भी है, तो क्या यह अनुमान नही होता कि इनके द्वारा सहज सूचित होनेवाली वृत्त के राश्यशादि विभाग निश्चित करने की कल्पना भी उन्ही भारतीय आर्यो की होनी चाहिए जिनके विषय मे यह निर्विवाद सिद्ध है कि उन्होने वेदाङ्गज्योतिषपद्धति की स्थापना स्वत की है।

३. अथर्वज्योतिष

अथर्वज्योतिष मे १६२ श्लोक और १४ प्रकरण है। इसे पितामह ने काश्यप से कहा है। इसमे आये हुए विषयो का यहा सक्षेप मे वर्णन करेंगे।

सर्वप्रथम निम्नलिखित कालपरिमाण बताये है।
१२ निमेष=लव। ३० लव=कला। ३० कला=त्रुटि।
३० त्रुटि=मुहूर्त और ३० मुहूर्त=अहोरात्र।

इसके बाद १५ मुहूर्तो के नाम बतलाये है। द्वादशाङ्गुल[1] अङ्क की छाया के भिन्न-भिन्न प्रमाण ही उन मुहूर्तो की अवधिया है।

मुहूर्त	छायाङ्गुल	मुहूर्त	छायाङ्गुल
१ रौद्र	९६ परम	५ सावित्र	५
२ श्वेत	६०	६ वैराज	४
३ मैत्र	१२	७ विश्वावसु	३
४ सारभट	६	८ अभिजित्	

'यस्मिश्छाया प्रतिष्ठिता' अर्थात् जिसमे छाया स्थिर हो जाती है, उसे अभिजित् मुहूर्त कहा है। मध्याह्न के बाद के मुहूर्तो की छाया ऊपर लिखी हुई छाया के विपरीत अर्थात् उत्क्रम से होती है। मध्याह्न की छाया शून्य नही कही जा सकती पर वह तीन अंगुल से कम होगी। छाया द्वारा स्थलज्ञान करने का प्रयत्न किया जा सकता है, पर

१. यह एक बात ध्यान में रखने योग्य है कि सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थों मे छाया के लिए सर्वत्र द्वादशाङ्गुलशङ्कु ही लिया गया है और इस ज्योतिष में भी यही स्थिति है।

विश्वास नही होता कि ये अङ्गुलमान सूक्ष्मतया अवलोकन करके ही लिखे गये होगे और दूसरी बात यह कि वर्ष-भर सर्वदा छाया भी समान नही रहती। और भी बहुत सी अडचने है, अत गणित मे परिश्रम करने के बाद तदनुरूप कोई महत्व की बात निकलने की आशा नही है, इसलिए अथर्वज्योतिष के स्थलनिर्णय का विचार नही करते।

करण, भ्रमकाल

आगे बतलाया है कि रौद्र मुहूर्त मे रौद्रकर्म और मैत्र मे मैत्र कर्म करना चाहिए। चतुर्थ प्रकरण मे तिथियो के करण बतलाये है। उनकी पद्धति वर्तमान सरीखी ही है। नाम भी ये ही है, पर स्थिर करणो मे किस्तुघ्न के स्थान मे कौस्तुभ नाम है। हो सकता है, यह लेखक का प्रमाद हो। इसके बाद करणो के शुभाशुभत्व का विचार किया गया है अर्थात् अमुक करण मे अमुक कर्म करने से शुभ फल होगा और अमुक कर्म करने से अशुभ। आजकल की भाँति उसमे विष्टि के मुखपुच्छादि का भी विचार किया है और उसी प्रसग मे घटिका नामक कालमान का भी वर्णन आया है। इसके बाद करणो के देवता बतलाये है। कौस्तुभ का देवता धनाधिप और वाणिज का मणिभद्र है। शेष देवताओ के नाम वेदोक्त ही है। इसके बाद तिथियो के शुभाशुभत्व का वर्णन है अर्थात् अमुकामुक तिथियो मे अमुकामुक कर्म करने से अमुक-अमुक शुभ या अशुभ फल होते है। उस प्रसग मे तिथियो के नन्दा, भद्रा इत्यादि पाच नाम भी आये है।

चतुर्भि कारयेत्कर्म सिद्धिहेतोर्विचक्षण.।
तिथिनक्षत्रकरणमुहूर्तैरिति नित्यश.।।

इस श्लोक मे तिथि, नक्षत्र, करण और मुहूर्त, इन चार ही अङ्गो के नाम आये है। योग का नाम नही है परन्तु आगे कहा है—

तिथिरेक गुणा प्रोक्ता नक्षत्रञ्च चतुर्गुणम्।
वारश्चाष्टगुण. प्रोक्त करण षोडशान्वितम्।।९०।।
द्वात्रिंशद् योगस्तारा षष्टिसमन्विता।
चन्द्र शतगुण प्रोक्तस्तस्माच्चन्द्रबलाबलम्।।९१।।
समीक्ष्य चन्द्रस्य बला बलानि, ग्रहा. प्रयच्छन्ति शुभाशुभानि।

उपर्युक्त वाक्यो के पहिले कहा है 'न कृष्णपक्षे शशिन प्रभाव।' इससे मालूम होता है, उपर्युक्त श्लोक मे चन्द्रमा के बलाबल का विचार केवल उसकी कलाओं द्वारा ही किया है।

आदित्य. सोमो भौमश्च तथा बुधबृहस्पती।
भार्गव शनैश्चरश्चैव एते सप्तदिनाधिपा:।।९३।।

ये सात वारो के नाम है। अन्य श्लोको मे वारप्रसग मे ग्रहो के कुछ और नाम भी आये हैं। वे हैं सूर्य, लोहिताङ्ग, सोमसुत, देवगुरु, गुरु, भृगु, शुक्र और सूर्यसुत। १०० श्लोको के बाद लिखा है।

अल्पग्रन्थ महार्थञ्च प्रवक्ष्यामि भृगोर्मतम्।

इसके बाद शेष ६२ श्लोक हैं। उनमे ज्योतिष की जातकशाखा का बीज है। अतः वह भाग बडे महत्व का है। उनमे से कुछ श्लोक यहा उद्धृत करते है। पहिले नक्षत्रो के ९ विभाग किये हैं। वे हैं —

जन्म सम्पद्विपत्क्षेम्य प्रत्वर साधकस्तथा।
नैधनो मित्रवर्गश्च परमो मैत्र एव च ।।१०३।।
दशम जन्मनक्षत्रात्कर्मनक्षत्रमुच्यते।
एकोनविशतिञ्चैव गर्भाधानकमुच्यते ।।१०४।।
द्वितीयमेकादश विशमेष सम्पत्करो गण ।
तृतीयमेकविश तु द्वादश तु विपत्करम् ।।१०५।।
क्षेम्य चतुर्थ द्वाविश तथा यच्च त्रयोदशम्।
प्रत्वर पञ्चम विद्यात् त्रयोविश चतुर्दशम् ।।१०६।।
साधक तु चतुर्विश षष्ठ पञ्चदशञ्च यत्।
नैधन पञ्चविश तु षोडश सप्तम तथा ।।१०७।।
मैत्रे सप्तदश विद्यात् षड्विशमिति चाष्टमम्।
सप्तविश पर मैत्र नवमष्टादशञ्च यत् ।।१०८।।

वर्गक्रम

१	१ जन्मनक्षत्र	१० कर्मनक्षत्र	१९ आधाननक्षत्र।
२	२	११	२० सम्पत्करनक्षत्र।
३	३	१२	२१ विपत्कर।
४.	४	१३	२२ क्षेम्य।
५	५	१४	२३ प्रत्वर।
६	६	१५	२४ साधक।
७.	७	१६	२५ नैधन।
८.	८	१७	२६ मैत्र।
९	९	१८	२७ परममैत्र।

प्रत्येक वर्ग मे तीन तीन नक्षत्र है और उनमे ९ का अन्तर है। १०४ श्लोक द्वारा यह स्पष्ट है कि इनकी गणना जन्मनक्षत्र से करनी है। इसके बाद यह विचार किया है कि अमुक नक्षत्र मे अमुकामुक कर्म करने चाहिए या नही। इसके बाद ग्रह, उल्का और विद्युत् इत्यादिको द्वारा नक्षत्रो से पीडित होने से प्रत्येक वर्ग मे होनेवाले भय इत्यादि का वर्णन कहा है—

ग्रहोल्काशनिनिर्घातै. कम्पैर्दाहैश्च पीड्यते।
यद्यद्भय भवति तत् तत्प्रवक्ष्याम्यशेषत ॥१२२॥

यहा ग्रह शब्द से सूर्यादि ग्रह ही अभीष्ट मालूम होते है। इसके आगे गर्भधारण का थोडा सा वर्णन करते हुए अन्त मे कहा है—

आत्मज्योतिषमित्युक्त स्वयमुक्त स्वयभुवा।
तत्वत पृच्छमानस्य काश्यपस्य महात्मन. ॥१६१॥
य इद पठते विप्रो विधिवच्च समाहित।
यथोक्त लभते सर्वमाम्नायविधिदर्शनात् ॥१६२॥

ग्रन्थ मे यह कही भी नही लिखा है कि यह अथर्वज्योतिष है परन्तु इसे अथर्ववेद ज्योतिष कहते अवश्य है और अन्तिम श्लोक के 'आम्नायविधिदर्शनात्' वाक्य से भी इस कथन की पुष्टि होती है।

इसमे लिखे हुए विषयो के विवेचन से स्पष्ट विदित होता है कि यह ग्रन्थ ऋग्यजुर्वेदाङ्गज्योतिष या वेद के अन्य किसी भी अङ्ग इतना प्राचीन नही है। फिर भी बहुत प्राचीन होना चाहिए क्योकि इसमें मेषादि द्वादश राशियो के नाम नही है। यदि मेषादि राशिया ग्रन्थकार के समय प्रचलित रही होती तो वे उनके नाम इसमे अवश्य लिखते। इसका नाम अथर्ववेदज्योतिष है, इसलिए इसी प्रसग मे इसका भी विचार किया गया।

मेषादि राशियो का नाम न होते हुए भी इसमे सात वारो के नाम आये है, यह एक बडी महत्वशाली तथा ध्यान मे रखने योग्य बात है। इसका आगे विशेष विवेचन किया जायगा।

मेषादि राशियो से सम्बन्ध रखनेवाली जिस जातकपद्धति का आरम्भ इस देश मे हुआ उससे विरुद्ध नही बल्कि बहुत अंशों मे साम्य रखनेवाली जातकपद्धति इस ग्रन्थ में है और वह स्वतन्त्रतया इसी देश में उत्पन्न हुई है। इसमे सन्देह करने का स्थान बिलकुल नही है। हिन्दूओं ने मेषादि राशियां परदेश से ली हो तो भी उसके पहिले

केवल नक्षत्रो से सम्बन्ध रखनेवाली जो जातकपद्धति उनके यहा प्रचलित थी उसी के आधार पर उन्होने स्वय उसका विस्तार किया होगा।

२ कल्पसूत्र

आश्वलायनसूत्र

आश्वलायनसूत्र के 'श्रावण्या पौर्णमास्या श्रवणकर्म' (गृह्यसूत्र २।१।१) इत्यादि वाक्य मे मासो के नक्षत्रप्रयुक्त नाम आये है और श्रौतसूत्र (४।१२) मे मधु माधव मासनाम भी है। एक जगह (श्रौतसूत्र ४।१२) ऋतुओ का भी उल्लेख है। उसमे आरम्भ वसन्त से किया है। तिथि शब्द नही आया है, परन्तु 'मार्गशीर्ष्या प्रत्यवरोहण चतुर्दश्याम्' (गृह्यसूत्र २।३।१), हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टका' (गृह्यसूत्र २।४।१), 'अध्यायोपाकरण श्रावणस्य पञ्चम्या' (३।५) इत्यादि वाक्यो मे चतुर्दशी इत्यादि शब्द तिथिवाचक जान पडते है। अयन और विषुव का उल्लेख अनेको स्थलो मे है। नक्षत्रो के नाम भी है। श्रौतसूत्र के 'उत्तरयोः प्रोष्ठपदयो' (श्रौतसूत्र २।१) वाक्य मे प्रोष्ठपदा का प्रयोग द्विवचन मे और 'उत्तरैः प्रोष्ठपदै' (गृह्यसूत्र २।१०।३) मे पुलिङ्ग के बहुवचन मे है। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे दोनो प्रोष्ठपदाओ का प्रयोग पुलिङ्ग मे बहुवचन मे है। गृह्यसूत्र मे 'ध्रुवमरुन्धती सप्तर्षीनिति दृष्ट्वा वाच विसृजेत्' (गृह्यसूत्र १।७।२२) वाक्य मे ध्रुव अरुन्धती और सप्तर्षि तारओ के नाम आये है। गृह्यसूत्र २।१०।३ मे अग्न्याधान के लिए नक्षत्र बताये है। उत्तरप्रोष्ठपद, फल्गुनी और रोहिणी नक्षत्रो मे खेत जोतने को कहा है। गृह्यसूत्र १।४।१ मे लिखा है कि उपनयनादि कर्म कल्याणकारक नक्षत्रो मे करने चाहिए। सीमन्तोन्नयन के लिए कहा है, 'सीमन्तोन्नयन यदा पुसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात्' (गृ० १।१४)। पता नही चलता, यहा कल्याणकारक और पुरुषनक्षत्र कौन-कौन से माने गये है। ज्योतिष के आधुनिक मुहूर्तग्रन्थो मे जो पुरुष और स्त्री भेद बतलाये है वे पृष्ठोक्त नक्षत्रो के लिगानुसार ही है। हम समझते है सूत्रकाल मे भी यही नियम रहा होगा।

पारस्करसूत्र

पारस्करसूत्र आश्वलायनसूत्र से नवीन मालूम होता है। इसमें आश्वलायनसूत्रोक्त बहुत से विषय आ गये हैं, पर इसका आग्रहायणी कर्म सम्बन्धी वाक्य "मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्यामाग्रहायणीकर्म (३।१२)" आश्वलायनसूत्र मे नही है। विवाह-नक्षत्रों के विषय में कहा है "त्रिषु त्रिषु उत्तरादिषु स्वातौ मृगशिरसि रोहिण्याम्"।

इसकी व्याख्या मे हरदत्त ने 'त्रिषु त्रिषु उत्तरादिषु' का अर्थ 'उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, उत्तराषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती और अश्विनी' किया है। वर्तमान मुहूर्त ग्रन्थो मे चित्रा, श्रवण, धनिष्ठा और अश्विनी की गणना विवाह नक्षत्रो मे नही है। २।१६ सूत्र मे ज्येष्ठानक्षत्र मे खेत जोतने के लिए कहा है। सब सूत्रो के विवाहादि नक्षत्र परस्पर समान नही है। उनमे कुछ भेद है। १।२१ सूत्र "मूलाशे प्रथमे पितुर्नेष्टो द्वितीये मातुस्तृतीये धनधान्यस्य चतुर्थे कुलशोकावह स्वय पुण्यभागी स्यात्" मे मूल नक्षत्र मे उत्पन्न हुए मनुष्य का फल बताया है। इसमे नक्षत्र के ४ अश माने है। यह एक ध्यान देने योग्य बात है। क्रान्तिवृत्त के १२ भाग मानने से नक्षत्र के ४ अश मानने ही पड़ते है। मूल नक्षत्र सम्बन्धी अशुभ फल के विषय मे भिन्न-भिन्न ग्रन्थो के भिन्न-भिन्न मत है। तैत्तिरीयश्रुति मे तो मालूम होता है, जन्मकाल मे मूल का होना अच्छा समझा गया है (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१।२)। ज्योतिषग्रन्थो मे बतलाया हुआ आश्लेषा का नक्षत्रगण्डान्त भी पारस्करसूत्र (१।२१) मे है। आश्वलायन और पारस्कर दोनो सूत्रो मे अधिमास, तिथि, नक्षत्र और क्षय-वृद्धि का वर्णन नही है। सात वार, मेषादि राशिया, योग और करण भी नही है।

अन्यसूत्र

उपर्युक्त सूत्रो मे बतलायी हुई ज्योतिषसम्बन्धी बहुत सी बाते हिरण्यकेशी और आपस्तम्ब सूत्रो मे भी आयी है, पर उनमे मेषादि राशियो और वारों के नाम नही हैं।

उपर्युक्त सभी सूत्रो मे चैत्र और वैशाख अथवा मधु और माधव वसन्त के मास माने गये है।

बौधायनसूत्र का एक वचन है 'मीनमेषयोर्मेषवृषभयोर्वसन्त.।' इसमे मेषादि राशियो के नाम आये हैं। मैत्रेयसूत्र के एक वाक्य मे जो कि ऊपर पृष्ठ मे लिखा है, सूर्य का राशिसंक्रमण शब्द भी आया है।

सभी वेदशाखाओं के सूत्र देखे जायं तो उनमे ज्योतिषविषयक महत्व की और भी बहुत सी बाते मिलेगी, परन्तु हमे अधिक सूत्रग्रन्थ नही मिले।

३ निरुक्त

निरुक्त के द्वितीयाध्याय के २५वे खण्ड में मुहूर्त और क्षण नामक काल-परिमाणों के नाम आये हैं। इसके ज्योतिष विषयक कुछ अन्य लेख प्रथम विभाग में दिखला दिये गये हैं।

'सप्तऋषीणानि ज्योतींषि' (१०।२६) वाक्य में सप्तर्षियो का उल्लेख हैं।

निम्नलिखित वाक्यो मे दिन, रात्रि, शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष, उत्तरायण और दक्षिणायन नाम आये है। इनके विषय मे कुछ चमत्कारिक बाते भी बतायी है।[1]

'अथ ये हिसामाश्रृत्य विद्यामुत्सृज्य महत्तपस्तेपिरे चिरेण वेदोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति ते धूममभिसभवन्ति धूमाद्रात्रि रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणापक्षाद्दक्षिणायन दक्षिणायनात् पितृलोक प्रतिपद्यन्ते ।।८।। अथ ये हिसामुत्सृज्य विद्यामाश्रित्य महत्तपस्तेपिरे ज्ञानोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति तेऽर्चिरभिसभवन्त्यर्चिषाहेरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षादुदगयनमुदगयनाद्देवलोक देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युत वैद्युतान्मानस मानस पुरुषो भूत्वा ब्रह्मलोकमभिसभवन्ति ते न पुनरावर्तन्ते शिष्टा दन्दशूका यत इन न जानन्ति तस्मादिद वेदितव्यमथाप्याह ।।९।। अध्याय १४

ये महत्वपूर्ण वाक्य देखिए——

आकाशगुण शब्द आकाशाद्वायुर्द्विगुण. स्पर्शेन वायोर्ज्योतिस्त्रिगुण रूपेण ज्योतिष आपश्चतुर्गुणा रसेनाद्भ्य पृथिवी पञ्चगुणा गन्धेन पृथिव्या भूतग्रामस्थावरजगमास्तदेतदहर्युगसहस्र जागर्ति तस्यान्ते सुषुप्स्यन्नङ्गानि प्रत्याहरति भूतग्रामा पृथिवीमपि यन्ति पृथिव्यप आपो ज्योतिष योतिर्वायु वायुराकाशमाकाशो मनो मनो विद्या विद्या महान्तमात्मान महानात्मा प्रतिभा प्रतिभा प्रकृति सा स्वपिति युगसहस्र रात्रिस्तावेतावहोरात्रावजस्र परिवर्तेते स कालस्तदेतदहर्भवति युगसहस्रपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदु रात्रि युगसहस्रान्ता तेहोरात्रविदो जना इति ।।४।।

अध्याय १४

इसमे ब्रह्मा के अहोरात्र का परिमाण बताया है। सहस्रयुगो का ब्रह्मा का दिन होता है। इसमे सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और लय होते है। इसके पश्चात् एक सहस्र वर्ष पर्यन्त प्रकृति या ब्रह्मा सुप्त रहता है। यही ब्रह्मदेव की रात्रि है। इस प्रकार अहोरात्रो के पर्याय नित्य हुआ करते हैं। इसी काल को सूर्यसिद्धान्तादि ज्योतिषग्रन्थों ने कल्प कहा है। इन वाक्यो मे कल्प शब्द नही आया है और यह भी नही बताया है कि युग कितने वर्षो का होता है। शेष पद्धति ज्योतिषग्रन्थ तथा मनुस्मृति इत्यादि अन्य ग्रन्थो की युगपद्धति के समान ही है। यह अथवा इस प्रकार की दूसरी युगपद्धति जिन-जिन ग्रन्थो मे मिलती है उनमें निरुक्त सबसे प्राचीन है। यद्यपि यहा युग का वर्षात्मक मान नही बताया है, पर वाक्यो के सन्दर्भ द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि यह युग पञ्चवर्षात्मक युग नही बल्कि किसी दीर्घकाल का बोधक है।

१. याज्ञवल्क्यस्मृति और भगवद्गीता में भी इनका वर्णन है।

४ पाणिनीय व्याकरण

वेदो मे कही-कही सवत्सर अर्थ मे आये हुए वर्ष (५।१।८८, ७।३।१६) और हायन (४।१।२७, ५।१।१३०) शब्द पाणिनीय व्याकरण मे है। मासो के नक्षत्र-प्रयुक्त चैत्रादि नाम भी है। (४।२।२१) दिन के विभागो मे से मुहूर्त शब्द आया है (३।३।६)। नाडी शब्द शरीर की नाडी के अतिरिक्त अन्य एक या कई अर्थो में आया है (५।४।१५६)। इससे मालूम होता है, कालवाचक नाडी शब्द भी होगा। तिथि शब्द यद्यपि नही है तथापि यह नही कहा जा सकता कि वह पाणिनि के समय रहा ही नही होगा। पाणिनीय व्याकरण ज्योतिष विषयक ग्रन्थ नही है। अमुकामुक नक्षत्रो मे अमुक-अमुक कर्म करने चाहिए, ऐसा विधान करनेवाला धर्मशास्त्रग्रन्थ भी नही है। अत ज्योतिष विषयक जो पारिभाषिक शब्द उसमे नही है उनके विषय मे यह कहना अनुचित होगा कि वे पाणिनि के समय थे ही नही। कृतादि सज्ञाओ मे से उसमे केवल एक कलि शब्द आया है (४।२।२८) और वह भी युग विषयक नही है। इससे यह नही कहा जा सकता कि पाणिनिकाल मे कृतादि युग सज्ञाए नही थी। बस, यही स्थिति ज्योतिष सबधी तिथ्यादि पारिभाषिक शब्दो की भी है।

नक्षत्रो के विषय मे 'तिष्य' अर्थ मे पुण्य और सिध्य शब्द आये है (३।१।११६)। 'श्रोणा' अर्थ मे केवल अथर्ववेद मे आया हुआ श्रवण शब्द आया है (४।२।२३)। १।२।६१ और १।२।६२ सूत्रो मे कहा है 'छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम्' 'विशाखयोश्च' परन्तु मुझे श्रुति में पुनर्वसु और विशाखा शब्द एक वचन मे कही नही मिले। हो सकता है, मेरे न पढ़े हुए किसी वेद मे हो। प्रोष्ठपदा शब्द द्विवचन और बहुवचन दोनों मे पठित है (१।२।६०)। 'विभाषा ग्रह' (३।१।१४३) सूत्र द्वारा यह अनुमान कर सकते है कि पाणिनि के समय तारारूप ग्रह के अर्थ मे ग्रह शब्द का प्रयोग होता रहा होगा।

द्वितीय प्रकरण

स्मृति महाभारत इत्यादि

स्मृति

युगपद्धति

मनुस्मृति के प्रथमाध्याय मे जिस युगपद्धति का वर्णन है वही पुराण ज्योतिष इत्यादि भिन्न-भिन्न विषयो के प्राय सभी ग्रन्थो मे पायी जाती है अतः वह पूर्ण पद्धति यहा एक बार लिख देते है।

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाण समासत ।
एकैकशो युगाना तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥६८॥
चत्वार्याहू सहस्राणि वर्षाणा तत्कृत युगम् ।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्याशश्च तथाविध ॥६९॥
इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्याशेषु च त्रिषु ।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥७०॥
यदेतत् परिसख्यातमादावेव चतुर्युगम् ।
एतद्द्वादशसाहस्र देवाना युगमुच्यते ॥७१॥
दैविकानां युगानान्तु सहस्रपरिसख्यया ।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेय तावती रात्रिमेव च ॥७२॥
तद्वै युगसहस्रान्त ब्राह्म पुण्यमहर्विदु ।
रात्रिञ्च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदोजना ॥७३॥
तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्त प्रतिबुध्यते ।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनस्सदसदात्मकम् ॥७४॥
मन सृष्टि विकुरुते चोद्यमान सिसृक्षया ।
आकाश जायते तस्मात्तस्य शब्द गुण विदु ॥७५॥
आकाशात्तु विकुर्वाणात् सर्वगन्धवह शुचि ।
बलवाञ्जायते वायु स वै स्पर्शगुणो मत ॥७६॥
वायोरपि विकुर्वाणात् विरोचिष्णु तमोनुदम् ।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥७७॥
ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः ।
अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ॥७८॥
यत्प्राक् द्वादशसाहस्रमुदितं दैविक युगम् ।

तदेक सप्ततिगुण मन्वन्तरमिहोच्यते ।।७९।।
मन्वन्तराण्यसख्यानि सर्ग सहार एव च ।
क्रीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुन पुन ।।८०।।
चतुष्पात् सकलो धर्म सत्यञ्चैव कृते युगे ।
नाधर्मेणागम' कश्चित् मनुष्यान्प्रतिवर्तते ।।८१।।
इतरेष्वागमाद्धर्म पादशस्त्ववरोपित ।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादश ।।८२।।
अरोगा सर्वसिद्धार्थश्चितुर्वर्षशतायुष' ।
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः ।।८३।।
वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम ।
फलन्त्यनुयुग लोकेप्र भावश्च शरीरिणाम् ।।८४।।
अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेताया द्वापरे परे ।
अन्ये कलियुगे नृणा युगह्रासानुरूपत' ।।८५।।
तपः पर कृतयुगे त्रेताया ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेक कलौ युगे ।।८६।।

इसमे कृतादि युगो के नाम बतलाये हैं ।

युग	वर्ष	युग	वर्ष
कृत	सन्ध्या ४००	द्वापर	सन्ध्या २००
	मुख्यभाग ४०००		मुख्यभाग २०००
	सन्ध्याश ४००		सन्ध्याश २००
त्रेता	सन्ध्या ३००	कलि	सन्ध्या १००
	मुख्यभाग ३०००		मुख्यभाग १०००
	सन्ध्याश ३००		सन्ध्याश १००

सब मिलकर १२०००=चतुर्युग=दैवयुग ।

१००० दैवयुग=१२०००००० वर्ष=ब्राह्म दिन ।

यहा १२००० वर्षों का एक दैवयुग तो माना है, पर यह स्पष्ट नही बतलाया है कि ये युग देवताओ के है। देवताओ का वर्ष यदि ३६० मनुष्यवर्षों के बराबर मान लिया जाय तो एक देवयुग मे मनुष्यवर्ष (३६०×१२०००=) ४३२०००० होगे। प्रो० ह्विटने कहते है कि इन १२००० वर्षों को देववर्ष मानने की कल्पना मनु की[1] नही है। इसकी उत्पत्ति उनके बहुत दिनो बाद हुई है। परन्तु उनका यह

१. बर्जेस के सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का दशम पृष्ठ देखिए ।

कथन ठीक नही मालूम होता, क्योकि मनु के बहुत पहिले ही इस बात का निश्चय हो चुका था कि देवताओ का दिन मनुष्यदिन से बड़ा होता है। तैत्तिरीयसहिता के ऊपर लिखे हुए[1] एक वाक्य मे यह स्पष्ट उल्लेख है कि मनुष्यो का एक सवत्सर (अर्थात् ३६० दिन) देवताओ के एक दिन के बराबर होता है। अत मनुष्यो के ३६० वर्ष देवताओ के एकवर्ष के बराबर होगे ही। यद्यपि मनु के वाक्य मे 'देववर्ष' शब्द स्पष्टतया नही आया है, पर यह स्पष्ट है कि युग देवताओ का ही है, अत वर्ष भी देवताओ का ही होना चाहिए । इससे यह बात नि सशय सिद्ध हो जाती है कि मनुष्यो के (१२००० × ३६० =) ४३२०००० वर्ष तुल्य देवताओ के युग का परिमाण मनु-कालीन ही है। मनु ने ही यह भी कहा है कि इस प्रकार के सहस्र युगो का ब्रह्मा का एक दिन होता है, परन्तु उनके वाक्यो मे ब्रह्मदिन के अर्थ मे कल्पशब्द नही आया है। ज्योतिषग्रन्थो मे ब्रह्मदिन को ही कल्प कहा है। इससे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि सूर्य सिद्धान्तादि ज्योतिषग्रन्थो मे बतलाये हुए कृतादि युग, महायुग और कल्प के मान मनु के समय ही निश्चित हो चुके थे । इतना ही नही, मै तो समझता हूँ, निरुक्तकार यास्क के समय ही इनके प्रमाणो का निश्चय हो चुका था क्योकि मनुस्मृति के उपर्युक्त ७२वे और ७३वे श्लोको का ब्रह्मा के अहोरात्र के सम्बन्ध मे ऊपर (पृ० १४५ मे) लिखे हुए निरुक्तवचनो के अन्तिम भाग से बडा सादृश्य है। निरुक्त मे स्पष्ट बताया है कि ब्राह्मदिन सहस्र वर्षो का होता है परन्तु उसमे यह नही लिखा है कि ये सहस्र वर्ष देव-ताओ के है और प्रत्येक युग का मान १२००० वर्ष है, परन्तु कृतादि चार युगो का वर्णन वेदो मे भी है अत यह मानना पडता है कि युगकल्पना निरुक्त से भी प्राचीन है। यह भी स्पष्ट ही है कि निरुक्त के युग किसी दीर्घकाल के द्योतक है । इससे हमे ऐसा मालूम होता है कि सूर्यसिद्धान्तादि ज्योतिष ग्रन्थो मे बतलायी हुई युग और कल्पपद्धति का प्रचार निरुक्तकाल मे भी था। मनुस्मृतिकाल मे उसका प्रचलित होना तो बिलकुल निर्विवाद है। महाभारतोक्त युगपद्धति मनुस्मृति सरीखी ही है। उसका विचार आगे किया जायगा।

यूरोपियन विद्वान् कहते है कि महाभारत मनुस्मृति के बाद बना है। यदि मनुस्मृति के पहिले बना होगा तो मेरे इस कथन की कि 'मनु के बहुत पहिले ही युगपद्धति का प्रचार हो चुका था' पुष्टि होगी।

उपर्युक्त मनु के श्लोको मे युगो के लक्षण धर्मस्थिति के सम्बन्ध मे बतलाये है। अन्य सभी पुराणो मे युगलक्षण इसी प्रकार है। मन्वन्तरो के मान भी सूर्यसिद्धान्तादि सरीखे ही है।

१. एकं वा एतद्देवानामहः। यत्संवत्सरः।।

मनुस्मृति मे ग्रह और मेषादि राशिया नही है। ज्योतिष शास्त्र से सम्बन्ध रखने-वाली दूसरी भी कोई उल्लेखनीय बात नही है।

वार

याज्ञवल्क्यस्मृति मे एक स्थान मे ग्रहयज्ञ का वर्णन है। उसमे ग्रहो के नाम इस प्रकार है —

सूर्य सोमो महीपुत्र सोमपुत्रो बृहस्पति ।
शुक्र शनैश्चरो राहु केतुश्चैते ग्रहा स्मृता ॥२९५॥

आचाराध्याय

सात वार और उनके सूर्यादि सात अधिपो का उल्लेख कही नही है परन्तु इस श्लोक मे ग्रहो के नाम वारक्रमानुसार ही है अत. याज्ञवल्क्यस्मृतिकाल मे सात वारो का प्रचार रहा होगा। अथर्वज्योतिष मे सात वारो के सम्बन्ध मे केवल सात ग्रहो का निर्देश है। राहु और केतु के नाम नही है। याज्ञवल्क्यस्मृति मे ग्रह ९ बतलाये है। उनके मन्त्र भी वही है जिनका आजकल प्रचार है (आचाराध्याय के श्लोक २९९-३०१ देखिये)। अन्य बातो के आलोचन द्वारा विद्वानो ने निश्चय किया है कि याज्ञ-वल्क्यस्मृति मनुस्मृति से नवीन है। उनका यह कथन वार और ग्रहो के उल्लेखानुसार ठीक मालूम होता है।

युगपद्धति

याज्ञवल्क्यस्मृति मे कृतादि युगो के नाम और मान नही है परन्तु (३।१७३ मे) लिखा है 'मन्वन्तरैर्युगप्राप्त्या'। इससे मालूम होता है, मनुस्मृति की युगपद्धति उस समय प्रचलित थी।

क्रान्तिवृत्त के १२ भाग

निम्नलिखित श्लोक मे श्राद्धकाल बताया है—

अमावास्याष्टका वृद्धि. कृष्णपक्षोऽयनद्वयम् ।
द्रव्य ब्राह्मणसम्पत्तिर्विषुवत्सूर्यसंक्रम. ॥२१७॥
व्यतीपातो गजच्छाया ग्रहणं चन्द्रसूर्ययो ।

आचाराध्याय

इसमे सूर्यसक्रम शब्द आया है परन्तु इसके आधार पर यह नही कहा जा सकता कि उस समय मेषादि राशियों का प्रचार था ही क्योकि याज्ञवल्क्यस्मृति मे मेषादि सज्ञाए प्रत्यक्ष कही भी नही मिलती और (१।२६७ के) 'कृत्तिकादि भरण्यन्तम्' वाक्य मे कृत्तिकादि नक्षत्रो का उल्लेख है। मेषादि विभाग के साथ अश्विन्यादि नक्षत्रो के

नाम होने चाहिए थे न कि कृत्तिकादि के। परन्तु पहिले बता चुके है कि वेदाङ्ग ज्योतिष काल मे मेषादि द्वादश नामो का प्रचार न होते हुए भी क्रान्तिवृत्त के द्वादश भाग प्रचलित थे अत याज्ञवल्क्यस्मृतिकाल मे भी क्रान्तिवृत्त के १२ भागो का ज्ञान रहा होगा। इसमे सात वारो के नाम आये है। यूरोपियन विद्वान् कहते है कि हिन्दुओ ने सात वार और १२ राशिया यूरोपियन लोगो से ली है। उनके इस कथनानुसार सहज ही यह बात ध्यान मे आती है कि जिन सस्कृतग्रन्थो मे सात वारो के नाम है उनमे मेषादि १२ राशिया भी होनी चाहिए परन्तु पहिले बता चुके है कि अथर्वज्योतिष में वारो के होते हुए भी राशियो के नाम नही है। यही स्थिति यहाँ भी है। आगे महाभारत के विवेचन मे यह स्पष्ट हो जायगा कि वार और मेषादि १२ राशियाँ प्रचलित होने के पहिले ही कम से कम सूर्य की गति के सम्बन्ध मे ही भारतीयो ने क्रान्तिवृत्त के १२ भाग कल्पित कर लिये थे। क्रान्तिवृत्त के १२ अथवा अथर्वज्योतिषानुसार यदि ९ ही भाग मान लिये जाय तो भी सूर्य के एक भाग से दूसरे भाग मे गमन को सक्रमण कह सकते है। याज्ञवल्क्यस्मृति के उपर्युक्त वाक्य मे दो अयन तथा विषुवत् शब्द के साथ सक्रम शब्द भी आया है। इससे सिद्ध होता है कि उस समय क्रान्तिवृत्त के १२ भाग मानने की पद्धति प्रचलित थी।

अथर्वज्योतिष और याज्ञवल्क्यस्मृति द्वारा यह सिद्ध होता है कि सात वार और मेषादि नामो का प्रचार एक ही काल मे नही हुआ बल्कि सात वार मेषादि सज्ञाओ के पहिले ही प्रचलित हो चुके थे।

योग

उपर्युक्त श्राद्धकाल सम्बन्धी वाक्य मे वृद्धि शब्द आया है। उसके विषय मे यह नही कह सकते कि वह ज्योतिष सम्बन्धी ही अर्थात् २७ योगो मे का वृद्धि शब्द है। हम समझते है, जैसे द्रव्य और सम्पत्ति शब्द आये है उसी प्रकार धान्यादि की वृद्धि के अर्थ मे वृद्धि शब्द आया होगा।

अन्य बातें

उपर्युक्त वाक्य का व्यतीपात शब्द नि सशय ज्योतिष-सम्बन्धी ही मालूम होता है। प्रायश्चित्ताध्याय के १७१वें श्लोक के 'ग्रहसयोगजै फलै' वाक्य से प्रकट होता है कि उस समय लोगो का ध्यान ग्रहयुति की ओर जा चुका था और उसके अनुसार शुभाशुभ फल का भी विचार करने लगे थे। यहाँ मेरा कथन इतना ही है कि भारतीयो को मेषादि सज्ञाओ का प्रचार होने के पहिले ही राहु, केतु सात वारो का क्रम, व्यतीपात और ग्रहयुति का ज्ञान था। यह बात बडे महत्व की है। इसका विशेष विचार आगे

करेंगे। यदि याज्ञवल्क्यस्मृति का समय अन्य प्रमाणो द्वारा निश्चित हुआ होता तो इन बातो द्वारा और भी महत्वशाली अनुमान किये जाते। अस्तु।

> पितृयानोऽजवीथ्याश्च यदगस्त्यस्य चान्तरम्।
> तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति स्वर्गकामा दिव प्रति ॥१८४॥
> तत्राष्टाशीतिसाहस्रा मुनयो गृहमेधिन ।
> सप्तर्षिनागवीथ्यन्तर्देवलोक समाश्रिता ॥१८७॥

प्रायश्चित्ताध्याय

इसमे सप्तर्षि और अगस्त्य तारो का उल्लेख है। गर्गादिको की संहिताओ मे बतलायी हुई नक्षत्रवीथियो मे से यहाँ अज और नाग नाम की दो बीथियाँ आयी है। वीथी और वीथ्यन्तर्गत नक्षत्रो के विषय में मतभेद है। किसी-किसी के मत मे वीथिया ९ हैं और किसी-किसी के मत मे तीन। इसके विषय मे भटोत्पल ने बृहत्सहिता के शुक्राचार की टीका मे गर्ग पराशरादि के मत विस्तार पूर्वक लिखे हैं। ग्रह नक्षत्रो की भिन्न-भिन्न दिशाओ से होते हुए जाते हैं। उसी के अनुसार वीथियो की कल्पना की गयी है। चूकि उपर्युक्त श्लोको मे बीथी का वर्णन है इसलिए मानना पडता है कि याज्ञवल्क्यस्मृतिकाल में भारतीयो का ग्रहगति की ओर पूरा ध्यान था।

मालूम होता है, उपर्युक्त श्लोको मे आकाश के उत्तरगोलार्ध मे देवलोक और दक्षिण गोलार्ध मे पितृयाण माना है। शतपथब्राह्मण की कल्पना से इसका साम्य है।

निरुक्त का अयनसम्बन्धी एक चमत्कारिक वर्णन ऊपर (पृ० १४५ में) लिखा है। उस सरीखा ही वर्णन याज्ञवल्क्यस्मृति के तृतीयाध्याय के १९२ से १९७ श्लोक पर्यन्त है। १।१८० इत्यादि मे बताया है कि चन्द्रमा जब अच्छे नक्षत्रो मे रहे उस समय अमुकामुक कर्म करने चाहिए। अमुक नक्षत्र मे अमुक-अमुक धर्मकृत्य करने चाहिए, इत्यादि भी बताया है। १।३०६ मे लिखा है कि 'यस्य यश्च ग्रहो दुष्ट स त यत्नेन पूजयेत्'। राहुसूतक, तिथि और मुहुर्त भी आये हैं। ज्योतिर्विद् के पूज्यत्व का वर्णन है (१।३१२, ३३२)।

महाभारत

महाभारत मे ज्योतिष विषयक लेख इतने अधिक हैं कि उन सबका विचार करने से ग्रन्थ बड़ा विस्तृत हो जायगा। अत. यहाँ उन्ही वचनो का बिवेचन करेंगे जो कि इस ग्रन्थ के विषयों के लिए विशेष उपयोगी हैं।

रचनाकाल

सर्वप्रथम महाभारत के रचनाकाल का विचार करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योकि काल निश्चित हो जाने से उसके ज्योतिष विषयक वचनो के महत्व मे विशेषता आ जायगी। रचनाकाल का नि सन्देह निर्णय करना तो बडा कठिन है परन्तु अनुमान द्वारा आसन्न समय लाया जा सकता है। महाभारतोक्त लेखो के अनुसार विचार किया जाय तो उसे व्यास ने बनाया, वैशम्पायन ने जनमेजय से कहा, इत्यादि बातो से ऐसा प्रतीत होता है कि वह पाण्डवकाल मे या उसके थोडे ही दिनो बाद बना। मालूम होता है पाणिनि के समय महाभारत था[1] क्योंकि आश्वलायन सूत्र मे उसका उल्लेख प्रत्यक्ष ही है और भाषा के इतिहास से यह सिद्ध हो चुका है कि आश्वलायन पाणिनि से प्राचीन है। साराश यह कि महाभारत अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है। हाँ, यह सत्य है कि आजकल के प्रचलित महाभारत का बहुत सा भाग अर्वाचीन होगा। ज्योतिष प्रमाणो द्वारा भी उसके कुछ भाग भिन्न-भिन्न समयो के दीखते है। परन्तु यहाँ प्रक्षिप्त भागो के विषय मे एक महत्व की बात यह कहनी है कि 'महाभारत की ग्रन्थसख्या एक लक्ष है यह लोगों की धारणा आज की नही है। Inscriptionum Indicarum नाम की पुस्तकमाला मे भारत सरकार की आज्ञा से प्राचीन ताम्रपट और शिलालेख इत्यादि छप रहे है। उसकी तीसरी पुस्तक मे गुप्त राजाओ के लेख है। उसमे उच्चकल्प के महाराज सर्वनाथ का सवत् १९७ का एक लेख है (ग्रन्थ का १३४वा पृष्ठ देखिए)। उसमे स्पष्ट लिखा है कि व्यासकृत महाभारत की ग्रन्थसख्या एक लाख है। सम्प्रति यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि इस ग्रन्थ का सवत् चेदि (कलचुरी) नामक सवत् है (Indian Antiquary, xix 227 of, xvii 215 देखिए)। चेदि सवत् १९७=शके (१९७+१७०=) ३६७ अथवा ईसवी सन् ४४५ होता है (मूलग्रन्थ देखिए)। अत. यह कथन अनुचित न होगा कि शककाल की चतुर्थ शताब्दी के बाद महाभारत मे कोई नवीन प्रक्षेपण नही हुआ है। हमे तो उसका कुछ भाग पाण्डवो के समय का भी मालूम होता है, पाण्डवो का समय चाहे जो हो। उपाख्यान तथा युद्धादिको के लम्बे चौडे वर्णन कदाचित् पीछे से मिला दिये गये हो, परन्तु पाण्डवो की मूलकथा और युद्ध के समय ग्रह अमुक-अमुक नक्षत्रो के पास थे, इत्यादि महत्वपूर्ण बाते कपोलकल्पना मात्र होते हुए महाभारत मे मिला ली गयी होगी, यह प्राय असम्भव है। सम्प्रति महाभारत मे ज्योतिष सम्बन्धी जो बाते मिलती है, उनके विषय

१. प्रो० कुंटे का मत है कि पाणिनि को महाभारत मालूम था। (Vicissitudes of Aryan Civilization p 448) देखिए।

मे यह भी कहा जा सकता है कि वे पाण्डवो के ही समय से इसी रूप मे नही चली आ रही होगी। प्रचलित दन्त-कथाए किसी ने पीछे से मिला दी होगी। मेरे मत मे विशेष महत्व की कुछ न कुछ बाते तो पाण्डवकाल से ही अविच्छिन्न चली आ रही है और कुछ उतनी प्राचीन न होने पर भी आश्वलायन और पाणिनि इत्यादिको की समकालीन है।

दूसरी एक महत्व की बात यह है कि मैने ज्योतिष की दृष्टि से स्वत सम्पूर्ण महाभारत पढा है। उसमे मुझे सात वार और मेषादि राशियो के नाम कही नही मिले, अत नि सशय कहा जा सकता है कि भारतवर्ष सात वार ओर मेषादि राशियो का प्रचार चाहे जब हुआ हो, पर महाभारत मे बतलायी हुई ज्योतिष विषयक बाते उसके पहिले की है।[1] यूरोपियन विद्वान् कहते है कि भारतीयो ने ज्योतिष शास्त्र ग्रीक लोगो से लिया है। उनका यह कथन ठीक हो तो भी यह सिद्ध किया जा सकता है कि उन्होने टालमी (सन् १५०) से नही बल्कि उसके पहिले ही लिया है। यूरोपियन विद्वान् भी इसे स्वीकार करते है। कोई भी यूरोपियन निश्चयपूर्वक यह नही सिद्ध करता कि भारतीयो ने ज्योतिष शास्त्र ग्रीको से अमुक समय लिया, परन्तु उनका आशय ऐसा मालूम होता है कि प्रसिद्ध ग्रीक ज्योतिषी हिपार्कस के समय अर्थात् ईसा से लगभग १५० वर्ष पूर्व लिया अत यूरोपियन लोगो को भी यह स्वीकार करना चाहिए

१. निर्णयामृत नामक धर्मशास्त्र का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उसमे चातुर्मास्य के संबंध में निम्नलिखित वचन आये है और उन्हें ग्रन्थकार ने महाभारतोक्त बताया है।

वार्षिकाँश्चतुरो मासान् व्रतं किञ्चित् समाचरेत्।।
असम्भवे तुलार्के तु कन्यायान्तु विशेषत:।।

यह श्लोक हमें महाभारत मे कही नही मिला। घटिकापात्र के विषय मे कुछ वाक्य महाभारत के नाम पर लिखे है पर वे भी उसमे नहीं मिलते। इसी प्रकार निर्णयसिन्धु के द्वितीय परिच्छेद के महालय प्रकरण मे निम्नलिखित श्लोक महाभारत के नाम पर लिखा है जो कि उसमे नहीं मिलता।

यावच्च कन्या तुलयोः क्रमादास्ते दिवाकरः।
शून्यं प्रेतपुरं तावद्वृश्चिकं यावदागतः।।

गणपत जी के छापेखाने में मुद्रित पुस्तक के आधार पर मैंने ये श्लोक लिखे है। वे० रा० वामनशास्त्री इसलामपुरकर को कुछ ऐसे प्रकरण मिले है जो कि इस महाभारत में नहीं है। उन्होंने यह बात प्रकाशित की है।

कि महाभारतोक्त ज्योतिष सम्बन्धी बाते ई० स० पूर्व १५० के बाद प्रक्षिप्त नही हुई हे।

ग्रहगति के कारणो का और ग्रहो की स्पष्टस्थिति के आनयन का ज्ञान होना तथा केवल मेषादि सज्ञा और वारपद्धति की कल्पना करना, इन दोनो बातो के महत्व मे बडा अन्तर है। पहिली बात का महत्व बहुत अधिक है। यूरोपियन विद्वान् भी स्वीकार करते है कि ग्रीक ज्योतिषी हिपार्कस (ई० स० पूर्व १५०) के पहिले यह यूरोप मे किसी को मालूम नही थी। इसके सम्बन्ध मे यदि भारतीयो को ग्रीको की सहायता मिली भी हो तो वह बहुत थोडी होनी चाहिए। दूसरी बात उतने महत्व की नही है।

अब महाभारत के ज्योतिष विषयक उल्लेखो का विचार करेगे।

युगपद्धति

महाभारत में युगमान मनुम्मृति सरीखे ही है (वनपर्व अध्याय १४६, १८८ भगवद्गीता ८, १७, शान्तिपर्व अध्याय २३२, २३३ इत्यादि देखिए)। कृतादि युगो के नाम तथा उनमे होनेवाली घटनाएँ इत्यादि प्रसगवशात् अनेको स्थलो मे आयी है। कल्प नामक कालमान भी (शान्तिपर्व, अध्याय १८३ इत्यादि) अनेको जगह आया है।

वेदाङ्ग ज्योतिषपद्धति

पाँच सवत्सरो का अथवा पञ्चसवत्सरात्मक युगपद्धति का उल्लेख कुछ स्थलो मे है। पाँचो पाण्डवो का जन्म क्रमश एक-एक वर्ष के अन्तर से हुआ था। उसके विषय मे लिखा है --

अनुसवत्सर जाता अपि ते कुरुसत्तमा।
पाण्डुपुत्रा व्यराजन्त पञ्चसवत्सरा इव ॥२२॥

आदिपर्व, अध्याय १२४।

पाण्डवों को वन गये कितने दिन हुए, इसके विषय मे गोग्रहण के समय भीष्म दुर्योधन से कहते है --

तेषा कालातिरेकेण ज्योतिषाञ्च व्यतिक्रमात्।
पञ्चमे पञ्चमे वर्षे द्वौ मासानुपजायत ॥३॥
एषामभ्यधिका मासा पञ्च च द्वादशक्षपा।
त्रयोदशाना वर्षाणामिति मे वर्तते मति ॥४॥

विराट पर्व, अध्याय ५२

यहाँ पाँच वर्षों मे दो अधिमास बतलाये है। यह वेदाङ्ग-ज्योतिष की पद्धति है। वेदाङ्ग-ज्योतिष मे नक्षत्रारम्भ धनिष्ठा से किया है, अर्थात् ग्रहस्थिति बतलाने के लिए आरम्भस्थान धनिष्ठा माना है। उसके पहिले एक बार आदि नक्षत्र कृत्तिका थी। धनिष्ठादि गणना के विषय मे महाभारत मे निम्नलिखित एक बड़ी विचित्र कथा है।

अभिजित् स्पर्धमाना तु रोहिण्या कन्यसी स्वसा।
इच्छन्ती ज्येष्ठता देवी तपस्तप्तु वनं गता ॥८॥
तत्र मूढोऽस्मि भद्र ते नक्षत्र गगनात् च्युतम्।
काल त्विम पर स्कन्द ब्रह्मणा सह चिन्तय ॥९॥
धनिष्ठादिस्तदा कालो ब्रह्मणा परिकल्पित।
रोहिणी ह्यभवत्पूर्वमेवं संख्या समाभवत् ॥१०॥
एवमुक्ते तु शक्रेण कृत्तिकास्त्रिदिव गता।
नक्षत्र सप्तशीर्षाभ भाति तद्वह्निदैवतम् ॥११॥

वनपर्व, अध्याय २३०।

ये श्लोक स्कन्दाख्यान के है। सब वाक्यो का भावार्थ ठीक समझ मे नही आता। अभिजित्, धनिष्ठा, रोहिणी और कृत्तिका नक्षत्रो से सम्बन्ध रखनेवाली भिन्न-भिन्न प्रचलित कथाए यहाँ गूँथी हुई-सी दिखाई देती है। इससे उनके पारस्परिक सम्बन्ध का ठीक पता नही लगता। कहा है 'धनिष्ठादि काल की कल्पना ब्रह्मा ने की'। इसकी उपपत्ति स्पष्ट ही है। अग्रिम वाक्य मे है 'पहिले रोहिणी थी।' पता नही चलता, किसी समय रोहिण्यादि गणना प्रचलित थी उसी के अनुसार ऐसा कहा है या और कोई बात है। रोहिण्यादि गणना कृत्तिकादि गणना के पहिले रही होगी। अभिजित् नक्षत्र के आकाश से गिरने की कथा बडे महत्व की है। उसका शर लगभग ६१ अश उत्तर है। अतः नक्षत्र-मण्डल के भ्रमण मे जो कि सम्पातगति के कारण हुआ करता है वह कभी-कभी ध्रुवस्थान मे आ ही जाया करेगा। यूरोपियन ज्योतिष मे यह बात प्रसिद्ध है कि लगभग १२ सहस्र वर्षों मे वह ध्रुव होनेवाला है।[1] ध्रुवस्थान मे आ जाने से वह अत्यन्त नीचे आ जायगा और कभी-कभी क्षितिज पर्यन्त भी आ सकेगा। पता नही चलता, अभिजित् नक्षत्र के आकाश से गिरने की कथा इसी प्रकार की किसी प्रत्यक्ष घटना का अनुभव होने के बाद प्रचलित हुई है या इसमे और कोई रहस्य है। लगभग

१. Newcomb's Popular Astronomy **नामक पुस्तक में एक नक्शे में यह दिखलाया है कि भिन्न-भिन्न समयों में कौन कौन से नक्षत्र ध्रुवस्थान में आयेंगे।**

१३ सहस्र वर्ष पूर्व ऐसा होने की सम्भावना है। 'कृत्तिकाए आकाश मे चली गयी' इसका अभिप्राय समझ मे नही आता।

वेदाङ्गज्योतिषकाल मे उत्तरायण धनिष्ठारम्भ मे होता था और आजकल पूर्वाषाढा के लगभग होना है। कुछ काल पहिले उत्तराषाढा मे होता था अत. बीच मे कभी श्रवण मे भी होता रहा होगा। इसका प्रमाण महाभारत मे मिलता है। अत॰ वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विश्वामित्र की प्रतिसृष्टि के विषय मे लिखा है॰—

चकारान्यञ्च लोक वै क्रुद्धो नक्षत्रसम्पदा।
प्रतिश्रवणपूर्वाणि नक्षत्राणि चकार य ॥३४॥

आदिपर्व, अध्याय ७१।

इसी प्रकार अग्रिम वाक्य मे कहा है.—

अह॰ पूर्वं ततो रात्रिर्मासा॰ शुक्लादयः स्मृता.।
श्रवणादीनि ऋक्षाणि ऋतव॰ शिशिरादय॰ ॥२॥

अश्वमेधपर्व, अध्याय ४४।

यद्यपि यहाँ उत्तरायण श्रवणारम्भ मे नही बताया है तथापि श्रवणादि नक्षत्र कहने का दूसरा कोई अभिप्राय नही है। वेदाङ्गज्योतिष मे जैसे धनिष्ठादि नक्षत्रो के साथ मास शुक्लादि हैं उसी प्रकार की स्थिति इसकी भी है, अत यह अनुमान कर सकते हैं कि वेदाङ्गज्योतिषपद्धति का मूल स्वरूप कुछ परिवर्तित होकर आगे भी चलता रहा। वेदाङ्गज्योतिषविचार मे यह बतला चुके है कि ईसवी सन् पूर्व १४०० के लगभग धनिष्ठारम्भ मे उत्तरायण होता था। आगे चलकर ई० स० पूर्व ३५० के आसपास श्रवणारम्भ मे होने लगा।

अन्य बाते

महाभारत मे ऋतु, अयन, मध्वादिमास और तिथियो का उल्लेख अनेकों स्थलो मे है। उसे यहाँ लिखने की कोई आवश्यकता नही है। ऊपर के ही श्लोक मे कहा है 'ऋतव शिशिरादय'। 'वसन्तादि ऋतु' का भी उल्लेख अन्य अनेको स्थलो मे है। वर्षारम्भ यदि उत्तरायणारम्भ मे माने तो ऋतुएँ हेमन्तादि या शिशिरादि माननी पडेगी। निम्नलिखित श्लोको द्वारा तथा अन्य भी अनेक स्थलो के वर्णनो से सिद्ध होता है कि उस समय चैत्र और वैशाख को ही वसन्त ऋतु मानने की पद्धति प्रचलित थी।

कौमुदे मासि रेवत्या शरदन्ते हिमागमे।
स्फीतसस्यसुखे काले ॥७॥

उद्योगपर्व, अध्याय ८३।

तेषा पुण्यतमा रात्रि पर्वसन्धौ स्म शारदी ।
तत्रैव वसतामासीत् कार्तिकी जनमेजय ॥१६॥

वनपर्व, अध्याय १८२।

अनुशासन पर्व के १०६ और १०९ अध्यायो मे दो जगह सब मासो के नाम बतलाये है। उनमे आरम्भ मास मार्गशीर्ष है।

उपर्युक्त श्रवण सम्बन्धी श्लोक मे मास शुक्लादि माने है पर कृष्णादि (पूर्णिमान्त) मास का भी उल्लेख है। उदाहरणार्थ—

कृष्णशुक्लावुभौ पक्षौ गयाया यो वसेन्नर ॥९६॥

वनपर्व, अध्याय ८४।

दिन के विभागो के विषय में अग्रिम वाक्य देखिए।

काष्ठा कला मुहूर्ताश्च दिवा रात्रिस्तथा लवा ॥२१॥

शान्तिपर्व, आपद्ध, अध्याय ७।

दिन के विभागो मे से यहा काष्ठा, कला, मुहूर्त और लव नामक मान आये है।

सवत्सरान् ऋतून् मासान् पक्षानथ लवान क्षणान् ॥१४॥

शान्तिपर्व, आप, अध्याय १६।

इसमे क्षण का भी नाम है, पर इन सब का परस्पर सम्बन्ध कही नही बताया है। मुहूर्त का नाम तो सैकडो जगह आया है।

स भवान् पुष्ययोगेन मुहूर्तेन जयेन च ॥१७॥
कौरवेयान् प्रयात्वाशु . . . ॥

उद्योगपर्व, अध्याय ६।

इस श्लोक मे जय नामक मुहूर्त का उल्लेख है। अथर्वज्योतिष में दिन के ११वे मुहूर्त का नाम विजय है।

ऐन्द्रे चन्द्रसमायुक्ते मुहूर्तेभिजितेष्टमे ।
दिवा मध्यगते सूर्ये तिथौ पूर्णेतिपूजिते ॥६॥
समृद्धयशसं कुन्ती सुषाव प्रवर सुतम् ।

आदिपर्व, अध्याय १२३।

यहा दिन के आठवे मुहूर्त का नाम अभिजित् बतलाया है। अथर्वज्योतिष तथा अन्य सभी ज्योतिषग्रन्थों मे दिन का आठवा मुहूर्त अभिजित् प्रसिद्ध है। यहां तिथि

शब्द पुलिङ्गी है। घटी और पल नामक मान कही नही मिले परन्तु निश्चित नही कहते बनता कि उसमे नही ही होगे क्योकि इस विषय का अन्वेषण मैने ध्यानपूर्वक नही किया है।

वार

सात वारो के नाम तो कही नही मिले, पर वार शब्द भी केवल एक ही स्थान मे मिला। द्रौपदी-स्वयम्वर के पहिले पाण्डव कुछ दिन तक एकचक्रा नामक नगरी मे एक ब्राह्मण के यहा रहते थे। उस नगरी मे एक राक्षस रहता था। उसे प्रतिदिन एक मनुष्य दिया जाता था। एक दिन ब्राह्मण के यहा भी वारी आयी। उसके विषय मे कहा है—

एकैकश्चापि पुरुषस्तत्प्रयच्छति भोजनम्।
स वारो बहुभिर्वर्षैर्भवत्यसुकरो नरै ॥७॥

आदिपर्व, अध्याय १६०।

'आज का वार एक के यहा, कल का दूसरे के यहा' इस अर्थ मे यहा वार शब्द का प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद मे वासर शब्द आया है, यह पहिले ही बता चुके है। इससे ज्ञात होता है कि सात वारो का प्रचार होने के पहिले ही दिन अर्थ मे वार या वासर शब्द का प्रयोग होने लगा था।

नक्षत्र

अनुशासन पर्व मे दो जगह (अध्याय ६४, ६९) सत्ताईसो नक्षत्रो के नाम एकत्र लिखे है। उनका आरम्भ कृत्तिका से है। भिन्न-भिन्न नक्षत्रो के नाम अनेको स्थलो मे आये है। उन सब को यहा लिखने की कोई आवश्यकता नही है। केवल कुछ विशेष ध्यान देने योग्य श्लोक यहा लिखते है।

इस वैदिक कथा का कि तारारूप मृग के पीछे रुद्र दौडा, उल्लेख अनेको स्थलो मे है। उदाहरणार्थ—

अन्वधावन्मृग रामो रुद्रस्तारामृग यथा ॥२०॥

वनपर्व, अध्याय २७८।

अन्य सस्कृत ग्रन्थो मे भी इस बात का उल्लेख अनेको जगह है कि रुद्र मृग के पीछे लगा था। सौप्तिक पर्व मे इस कथा का स्वरूप कुछ भिन्न है। वह इस प्रकार है—

ततो दैवयुगेऽतीते देवा वै समकल्पयन्।
यज्ञ वेदप्रमाणेन विधिवद्यष्टुमीप्सव. ॥१॥

इसके बाद वहा रुद्र आया और—

तत स यज्ञ विव्याध रौद्रेण हृदि पत्रिणा ।
अपक्रान्तस्ततो यज्ञो मृगो भूत्वा सपावक ।।१३।।
स तु तेनैव रूपेण दिव प्राप्य व्यराजत ।
अन्वीयमानो रुद्रेण युधिष्ठिर नभ.स्थले ।।१४।।

अध्याय १८

शान्तिपर्व, अध्याय २८३, मोक्षपर्व में भी यह कथा इसी प्रकार है।

पुनर्वसु के विषय मे लिखा है—

तावुभौ धर्मराजस्य प्रवीरौ परिवार्श्वत. ।
रथाभ्यासे चकाशेते चन्द्रस्येव पुनर्वसू ।।२८।।

कर्णपर्व, अध्याय ४९।

अर्थात् दोनो पुनर्वसुए चन्द्रमा के दोनो ओर शोभित हैं।

पञ्चभिर्भ्रातृभि पार्थैर्द्रोण परिवृतो बभौ ।
पञ्चतारेण सयुक्त सावित्रेणेव चन्द्रमा ।।३०।।

आदिपर्व, अध्याय १३५।

इसमें हस्त के पाच तारो का वर्णन है।

क्षितावपि भ्राजति तत् (कस्यचिद्राज्ञो मुख) सकुण्डल
विशाखयोर्मध्यगत: शशी यथा ।।४८।।

कर्णपर्व, अध्याय २१।

इसमें विशाखा के दो तारे[1] बतलाये हैं।

अन्य तारे

२७ नक्षत्रों के अतिरिक्त अन्य तारो मे से व्याध का नाम ऊपर मृग के साथ आया है।

१. कुछ ज्योतिष ग्रन्थों में विशाखा के ४ तारे लतलाये है। वस्तुतः इनमें पूर्ण तेजस्वी दो ही (आल्फा और बीटा लिखा) हैं। पूर्ण चन्द्रमा पास रहने पर वे भी पूर्ण तेजस्वी नहीं दिखाई देते परन्तु शुक्ल पञ्चमी के पहिले और कृष्ण दशमी के बाद जब चन्द्रमा
नहीं दिखाई देते परन्तु शुक्ल पञ्चमी के पहिले और कृष्ण दशमी के बाद जब चन्द्रमा
उनके मध्य में आता है उस समय का दृश्य सचमुच बड़ा ही मनोहर होता है। (ज्योतिर्विलास, आवृत्ति २, पृ० ३७ देखिए)

सप्तर्षीन् पृष्ठत. कृत्वा युद्धयेयुरचला इव ।।१६६।।
शान्तिपर्व, राजधर्म, अध्याय १०० ।

अत्र ते ऋषय सप्त देवी चारुन्धती तथा ।।१४।।
उद्योगपर्व, अध्याय १११ ।

यहा द्वितीय वाक्य मे अरुन्धति सहित सप्तर्षियो का उल्लेख है।

अगस्त्यशास्ता च दिश प्रयाता स्म जनार्दन ।।४४।।
उद्योगपर्व, अध्याय १४३ ।

इसमे अगस्त्य का नाम आया है।

योग और करण

योग और करणो का उल्लेख कही नही है।

मेषादि नाम

महाभारत मे मेषादि नाम कही नही है। जिसने सम्पूर्ण महाभारत पढ़ा है उसे इस बात का निश्चय अवश्य हो जायगा कि उसके किसी भी भाग के रचनाकाल मे यदि मेषादि सज्ञाए प्रचलित रही होती तो उनके नाम उसमे अवश्य आते। इससे सिद्ध होता है कि महाभारत के रचनाकाल मे मेषादि द्वादश राशियो का प्रचार नही था। क्रान्तिवृत्त के १२ भाग मानकर उसके अनुसार ग्रहस्थिति लाने की पद्धति भी महाभारत मे नही है। ग्रहो और चन्द्रमा की स्थिति सर्वत्र नक्षत्रो द्वारा बतलायी है।

सौरमास

सूर्यस्थिति का कही विशेष वर्णन नही है तथापि वेदाङ्गज्योतिष की भाँति उस समय सौरमास का प्रचार अवश्य रहा होगा। इतना ही नही—

पर्वसु द्विगुण दानमृतौ दशगुण भवेत् ।।२४।।
अयने विषुवे चैव षडशीतिमुखेषु च।
चन्द्रसूर्योपरागे च दत्तमक्षयमुच्यते ।।२५।।
वनपर्व, अध्याय २०० ।

इन श्लोको मे भिन्न-भिन्न पुण्यकालो मे दान देने का माहात्म्य बतलाने के प्रसग मे आठ सक्रान्तियो का वर्णन भी आया है। सूर्यसिद्धान्तादि ज्योतिष ग्रन्थो मे दोनो अयनो के नाम कर्क और मकर है। दोनो विषुवो के नाम मेष और तुला है। षडशीति संज्ञा भी उनमे है और उससे मिथुन, कन्या, धन और मीन चार राशियो का ग्रहण

किया गया है। उपर्युक्त श्लोक मे 'षडशीतिमुखेषु' प्रयोग बहुवचनात्मक है। इससे ज्ञात होता है कि मिथुनादि चार नामो से बोधित होनेवाले क्रान्तिवृत्त के चार भाग को षडशीति कहते थे। अत सिद्ध हुआ कि महाभारत-काल मे कम से कम सूर्य के ही सम्बन्ध से क्रान्तिवृत्त के १२ भागो की कल्पना हो चुकी थी।

ग्रहण

चन्द्रमा और सूर्य के ग्रहणो का सामान्य वर्णन अनेको स्थलो मे है। ग्रहण के समय और विशेषत सूर्यग्रहण के समय श्राद्ध करने और भूम्यादि दान देने का फल अनेको जगह लिखा है। ऐसे भी उल्लेख बहुत से है जिनमे बताया है कि अमुक समय ग्रहण लगा, जैसे पाण्डवो के वनवास के समय सूर्य-ग्रहण हुआ था। उसके विषय मे लिखा है--

राहुग्रसदादित्यमपर्वणि विशापते ॥१६॥

सभापर्व, अध्याय ७६।

कौरव-पाण्डवो के युद्ध के पूर्व धृतराष्ट्र को उपदेश देने के लिए व्यास जी आये थे। उनके भाषण मे निम्नलिखित वाक्य आये है—

अलक्ष्य प्रभया हीन पौर्णमासीञ्च कार्तिकीम्।
चन्द्रोभूदग्निवर्णश्च पद्मवर्णे नभस्तले॥

भीष्मपर्व, अध्याय २।

चतुर्दशी पञ्चदशी भूतपूर्वा तु षोडशीम्।
इमां तु नाभिजानेहममावास्यां त्रयोदशीम्॥
चन्द्रसूर्याविुभौ ग्रस्तौ एकमासी त्रयोदशीम् ॥३२॥

भीष्मपर्व, अध्याय ३।

इन वाक्यो से और पूर्वापर सन्दर्भ द्वारा ज्ञात होता है कि युद्ध के पूर्व कार्तिकी पूर्णिमा मे चन्द्रग्रहण और उसके आगेवाली अमावास्या मे सूर्यग्रहण हुआ था। एक मास मे दो ग्रहण होते है, पर उन दोनो की एक स्थान मे दिखलाई देने की सभावना कम होती है, इसीलिए ज्योतिष के सहिता ग्रन्थो मे यह बडा भारी उत्पात माना गया है। इसके विषय में भटोत्पल ने बृहत्संहिता की टीका (राहुचार) मे महाभारतोक्त इन ग्रहणों का विचार किया है।

विश्वघस्र पक्ष

उपर्युक्त वाक्यो मे १३ दिन के पक्ष का वर्णन आया है। १३ दिन का पक्ष होने का प्रसंग क्वचित् ही आता है और उसे भी उत्पात सरीखा ही मानते है। उसे क्षयपक्ष

कहते है। सूयसिद्धान्तादि गणित ग्रन्थो द्वारा चन्द्रमा और सूर्य की स्पष्ट स्थिति का गणित करके तिथि लाने से १३ दिन का पक्ष, आता है परन्तु वेदाङ्गज्योतिषोक्त मध्यम मान द्वारा या अन्य किसी भी सूक्ष्म मध्यम मान से पक्ष मे १३ दिन कभी नही आते। वेदाङ्गज्योतिषानुसार अर्धचान्द्रमास (पक्ष) का मान १४ दिन ४५ घटी २९ १/३१ पल और सूर्यसिद्धान्तादि गणित ग्रन्थ तथा यूरोपियन सूक्ष्म मानो द्वारा पक्ष का मध्यम मान १४ दिन ४५ घटी ५५ ३/५० पल आता है। मध्यम मान से पक्ष मे दिन १४ से कम कभी नही आते। इसलिए १३ दिन का पक्ष होना असम्भव है पर स्पष्टमान से हो सकता है। उदाहरणार्थ, शके १७९३ फाल्गुन कृष्णपक्ष तेरह दिनो का था। शके १८०० का ज्येष्ठ-शुक्लपक्ष भी १३ दिन का था। इन दोनो मे ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्गानुसार और इगलिश नाटिकल आलमनाक द्वारा बनाये हुए सूक्ष्म केरोपन्तीय पञ्चाङ्गानुसार भी पक्ष १४ दिन से कुछ घटी कम था। ऐसा प्रसग बहुत कम आता है और इस स्थिति मे भी पक्ष सर्वदा १३ दिन का ही नही हुआ करता। उदाहरणार्थ मान लीजिए किसी मेषमास के प्रथम दिन सूर्योदय के ४ घटी बाद अमावास्या या पूर्णिमा समाप्त हुई है और स्पष्ट तिथिमान से अर्धमास का मान १३ दिन ५५ घटी है तो उस मास के १४ वे दिन सूर्योदय से ५९ घटी पर अग्रिम अमावास्या या पूर्णिमा समाप्त होगी। प्रथम दिन सूर्योदय के बाद पर्वान्त होने के कारण उस दिन की गणना पिछले पक्ष मे होगी और वर्तमान पक्ष मे केवल १३ दिन रह जायेगे। इसी उदाहरण मे मेषमास के प्रथम दिन सूर्योदय के १० घटी बाद पर्वान्त मान लेने से अग्रिम पर्वान्त मेष के १५ वे दिन सूर्योदय के ५ घटी बाद होगा अर्थात् पक्ष मे १३ के बदले १४ दिन हो जायेगे। इससे ज्ञात होता है कि स्पष्टमान से पक्ष मे १३ दिन हो सकते है, पर मध्यम मान से कभी भी नही होगे। इससे सिद्ध हुआ कि महाभारत-काल मे हमारे देश के लोग स्पष्ट-तिथि का गणित जानते थे अर्थात् उन्हे सूर्य और चन्द्रमा की स्पष्ट गतिस्थिति का ज्ञान था। यह बात बडे महत्व की है।

महाभारतोक्त १३ दिन का पक्ष स्पष्ट या मध्यम तिथि द्वारा न लाया गया हो बल्कि केवल चन्द्रमा की प्रत्यक्ष स्थिति देखकर गिनकर लिख दिये गये हो, यह भी असम्भव है क्योकि अमावास्या को चन्द्रमा दिखाई नही देता और १३ दिन का पक्ष उसी स्थिति मे होता है जब कि तिथियो की घटिया उपर्युक्त उदाहरण सरीखी हो परन्तु पूर्णिमा और अमावास्या के पास की चन्द्र-स्थिति का थोडा विचार करने से अथवा उसका प्रत्यक्ष अवलोकन करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि बिना गणित किये चन्द्रमा की प्रत्यक्ष स्थिति के अवलोकन मात्र से १३ दिन के पक्ष का ज्ञान होना अशक्य है। इस विषय का यहा थोड़े मे विवेचन करना कठिन है।

उपर्युक्त वचनो से ज्ञात होता है कि कार्तिकी पूर्णिमा को चन्द्रग्रहण और उससे आगेवाली अमावास्या में सूर्यग्रहण हुआ था और यही पक्ष १३ दिनो का था। शुक्ल-पक्ष १३ दिन का हो तो उसके आरम्भ मे सूर्यग्रहण और अन्त मे चन्द्रग्रहण हो सकता है। यह बात शके १८१७ के निरयण वैशाख-शुक्लपक्ष की तिथियो का अवलोकन करने से समझ मे आ जाती है परन्तु कृष्णपक्ष १३ दिनो का होने पर उसके आरम्भ मे चन्द्रग्रहण और समाप्ति मे सूर्यग्रहण होना असम्भव है। पञ्चाङ्ग में कोई १३ दिन का कृष्ण-पक्ष निकालकर देखिए, इसकी स्पष्ट प्रतीति हो जायगी। यदि ऐसा मान भी ले तो दोनों पर्वान्तो का अन्तर अधिकाधिक लगभग १३ दिन ३० घटी होगा, पर पक्ष का स्पष्टमान १३ दिन ५० घटी से कम कभी होता ही नही। अतः यह स्थिति सर्वथा असम्भव ही है। आधुनिक स्पष्टमान से १३ दिन का ऐसा कृष्णपक्ष कभी नही आता जिसके आरम्भ मे चन्द्रग्रहण और अन्त मे सूर्यग्रहण लगता हो और मध्यम मान से तो १३ दिन का पक्ष ही नही होता परन्तु महाभारत मे इसका वर्णन आया है अतः मानना पडता है कि पाण्डवो के समय चन्द्रमा और सूर्य की स्पष्ट गति का गणित था तो अवश्य, पर वह आधुनिक पद्धति से भिन्न अर्थात् कम सूक्ष्म था।

दुर्योधन-वध के समय सूर्यग्रहण हुआ था। उसके विषय में लिखा है—

राहुश्चाग्रसदादित्यमपर्वणि विशापते ॥१०॥

गदापर्व, अध्याय २७।

यह अतिशयोक्ति मालूम होती है क्योंकि युद्ध के एक मास पूर्व सूर्यग्रहण का वर्णन आ चुका है, अतः उसके एक मास बाद तुरन्त दूसरा सूर्यग्रहण होना असम्भव है। इस श्लोक मे भी यही कहा है कि पर्व के अभाव में ही ग्रहण हुआ। १३वें दिन अमावास्या हुई और उस दिन सूर्यग्रहण लगा, यह कथन भी अतिशयोक्ति हो सकता है परन्तु वह वचन हमे बतलाता है कि उस समय लोग १३ दिन के पक्ष से परिचित नही थे, यह नही कहा जा सकता। इससे सिद्ध हुआ कि उपर्युक्त कथन बिलकुल ठीक है।

ग्रह-ज्ञान

अब हमें यह विचार करना है कि महाभारत मे ग्रहो के विषय में क्या लिखा है। वनपर्व मे एक जगह सूर्य का वर्णन किया है। वह इस प्रकार है—

सोमो बृहस्पतिः शुक्रो बुधोऽङ्गारक एव च ॥१७॥
इन्द्रो विवस्वान् दीप्तांशुः शुचिः शौरिः शनैश्चरः ॥

वनपर्व, अध्याय ३।

इसमें बुधादि पाच ग्रहों के नाम आये हैं।

निम्नलिखित श्लोक मे बतलाया है कि ग्रह पाच ह।

ते तु क्रुद्धा महेष्वासा द्रौपदेया प्रहारिण ॥
राक्षस दुद्रुवु सर्ये ग्रहा पञ्च रवि यथा ॥३७॥

भीष्मपर्व, अध्याय १०० ।

नीचे के श्लोक मे सात ग्रहो का वर्णन है।

प्रजासहरणे राजन् सोम सप्तग्रहा इव ॥२२॥

द्रोणपर्व, अध्याय ३७ ।

यहा पूर्व सन्दर्भ यह है कि सात ग्रह चन्द्रमा को कष्ट देते ह।

नि सरन्तो व्यदृश्यन्त सूर्यात्सप्त महाग्रहा ॥४॥

कर्णपर्व, अध्याय ३७ ।

इसमे सात ग्रहो का उल्लेख है। ऐसे वर्णन और भी कई जगह आये हे। इन सात ग्रहो मे राहु और केतु की भी गणना है। वस्तुत राहु और केतु दृश्य ग्रह नही ह। उनका ज्ञान ग्रहण या चन्द्रमा के शर द्वारा होना सम्भव है। इससे मालूम होता हे कि लोग उस समय ग्रहण की वास्तविक उपपत्ति जानते थे।

कहा जाता है कि हमारे ज्योतिष ग्रन्थो मे बतलाये हुए ग्रहा के कुछ नाम अन्य भाषाओ के है, मूलत. सस्कृत के नही है परन्तु महाभारतोक्त सब नाम सस्कृत के ही है।

वक्रगति

महाभारत मे ग्रहो के वक्रत्व का वर्णन अनेको स्थलो मे है। यथा—

लोकत्रासकरावास्ता (द्रोण्यर्जुनौ) विमार्गस्थौ ग्रहाविव ॥२२॥

कर्णपर्व, अध्याय १८ ।

प्रत्यागत्य पुर्निजष्णुर्जघ्ने ससप्तकान् बहून्।
वक्रातिवक्रगमनादगारक इव ग्रह ॥१॥

कर्णपर्व, अध्याय २० ।

त्रेता द्वापरयो सन्धौ तदा दैवविधिक्रमात् ॥१३॥
न ववर्ष सहस्राक्ष प्रतिलोमोभवद्गुरु ॥१५॥

शान्तिपर्व, आपद्धर्म, अध्याय ११ ।

ग्रहयुति

ग्रहों के युद्ध अर्थात् अत्यन्त निकट योग का वर्णन भी अनेको स्थानो मे है। यथा—

ततः समभवद्युद्धं शुक्रांगिरसवर्चसो (द्रौण्यर्जुनयोः) ।
नक्षत्रमभितो व्योम्नि शुक्रागिरसयोरिव ।।१।।
कर्णपर्व, अध्याय १८ ।

भृगुसूनुधरापुत्रौ शशिजेन समन्वितौ ।।१८।।
शल्यपर्व, अध्याय ११ ।

युद्धकालीन-ग्रहस्थिति

महाभारतीय—युद्धकालीन और उससे एक दो मास पूर्व या पश्चात् की ग्रह-स्थिति का वर्णन महाभारत मे है। कार्तिक शुक्ला १२ के लगभग भगवान् श्रीकृष्ण कौरवो के यहा शिष्टाचार के लिए गये थे। अग्रिम अमावास्या के पूर्व सातवे दिन उधर से लौटते समय कर्ण ने उनसे कहा था—

प्राजापत्य हि नक्षत्र ग्रहस्तीक्ष्णो महाद्युति ।
शनैश्चर. पीडयति पीडयन् प्राणिनोऽधिकम् ।।८।।
कृत्वा चागारको वक्र ज्येष्ठाया मधुसूदन ।
अनुराधा प्रार्थयते मैत्र सगमयन्निव ।।६।।
विशेषेण हि वार्ष्णेय चित्रा पीडयते ग्रह. ।
सोमस्य लक्ष्म व्यावृत्त राहुरर्कमुपैति च ।।१०।।
उद्योगपर्व, अध्याय १४३ ।

कर्ण के कथन का अभिप्राय यह है कि ये सब बहुत बडे दुश्चिह्न दिखाई दे रहे है। अत लोकसहार होने की संभावना है।

युद्ध के पूर्व व्यास जी धृतराष्ट्र से कहते है—

श्वेतो ग्रहस्तथा चित्रा समतिक्रम्य तिष्ठति ।।१२।।
धूमकेतुर्महाघोरः पुष्य चाक्रम्य तिष्ठति ।।१३।।
मघास्वंगारको वक्रः श्रवणे च बृहस्पतिः ।
भगं नक्षत्रमाक्रम्य सूर्यपुत्रेण पीड्यते ।।१४।।
शुक्रः प्रोष्ठपदे पूर्वे समारुह्य विरोचते ।।१५।।
रोहिणीं पीडयत्येवमुभौ च शशिभास्करौ ।
चित्रास्वात्यन्तरे चैव विष्टितः परुषोग्रहः ।।१७।।
वक्रानुवक्र कृत्वा च श्रवणं पावकप्रभः ।
ब्रह्मराशिं समावृत्य लोहितांगो व्यवस्थितः ।।१८८।।

संवत्सरस्थायिनौ च ग्रहौ प्रज्वलिताबुभौ।
विशाखाया समीपस्थौ बृहस्पतिशनैश्चरौ ।।२७।।
भीष्मपर्व, अध्याय ३।

व्यास ने इन चिह्नो को लोकसंहार-दर्शक बतलाया है।

ग्रहज्ञान

पहिले बता चुके है कि उपर्युक्त व्यास और कर्ण के भाषणो मे जिस ग्रहस्थिति का वर्णन किया गया है वह ठीक पाण्डवो के समय की है। इससे सिद्ध होता है कि पाण्डवो का समय चाहे जो हो पर उस समय लोगो को ग्रहो का ज्ञान था और ग्रहस्थिति का निर्देश नक्षत्रो द्वारा किया जाता था।

पाण्डवकाल

महाभारत के कुछ वचनो से सिद्ध होता है कि पाण्डवो का समय द्वापर और कलियुग की सन्धि है। यथा—

अन्तरे चैव सम्प्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत्।
स्यमन्तपञ्चके युद्ध कुरुपाण्डवसेनयोः ।।१३।।
आदिपर्व, अध्याय २।

मारुति ने भीम से कहा है—

एतत्कलियुग नाम अचिराद्यत्प्रवर्तते ।।३८।।
वनपर्व, अध्याय १४६।

वनपर्व के १८८वे अध्याय मे युगो के मान बतलाये है। उसमे कलियुग के विषय मे भविष्य रूप मे बहुत सी बाते बतायी है। वनवास के समय धर्मराज ने कहा है—

अस्मिन् कलियुगे त्वस्ति पुन कौतूहल मम।
यदा सूर्यश्च चन्द्रश्च तथा तिष्यबृहस्पती ।।६०।।
एकराशौ समेष्यन्ति प्रपत्स्यति तदा कृतम् ।।६१।।
वनपर्व, अध्याय १६०।

दुर्योधन का वध होने के बाद श्रीकृष्ण ने बलराम से कहा है—

प्राप्त कलियुगं विद्धि प्रतिज्ञा पाण्डवस्य च।
आनृण्य यातु वैरस्य प्रतिज्ञायाश्च पाण्डव ।।२३।।
गदापर्व, अध्याय ३१।

इन वचनो से सिद्ध होता है कि पाण्डव द्वापर और कलियुग की सन्धि मे हुए। हमारे सभी ज्योतिषग्रन्थ शकारम्भ के ३१७९ वर्ष पूर्व कलियुग का आरम्भ मानते हैं अत. उनके मतानुसार शके १८१७ मे पाण्डवो को हुए ४९९६ अर्थात् लगभग ५००० वर्ष बीत चुके। कलियुगारम्भ के विषय मे हमारे सब ज्योतिष ग्रन्थो का मत एक है परन्तु ये सभी ग्रन्थ कलियुग का आरम्भ होने के लगभग २६०० वर्ष बाद बने हैं। उनसे प्राचीन वैदिककाल[1] और वेदाङ्गकाल मे बने हुए अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं परन्तु उनमे कलियुग का आरम्भकाल निश्चित करने का कोई साधन नही मिलता। यूरोपियन विद्वानो का कथन है कि ज्योतिष ग्रन्थो मे केवल ग्रहस्थिति के आधार पर कल्पना द्वारा कलियुग का आरम्भकाल निश्चित किया गया है और उनका यह कथन विचारणीय है। इसका विचार आगे करेंगे। ज्योतिष-ग्रन्थोक्त कलियुगारम्भ-काल यदि ठीक है और पाण्डव यदि सचमुच द्वापर के अन्त मे हुए हैं तो उनका समय शकपूर्व लगभग ३२०० वर्ष होगा।

प्रसिद्ध ज्योतिषी प्रथम आर्यभट (शके ४२१) ने स्पष्ट कहा है कि महाभारतीय युद्ध द्वापर के अन्त मे हुआ (द्वितीय भाग मे आर्यभट का वर्णन देखिए) और उनके ग्रन्थ मे सिद्ध होता है कि शकारम्भ के ३१७९ वर्ष पूर्व कलियुग का आरम्भ हुआ है।

वराहमिहिर शके (४२७) ने लिखा है—

आसन् मघासु मुनय शासति पृथ्वी युधिष्ठिरे नृपतौ।
षड्द्विकपञ्चद्वि २५२६ युत शककालस्तस्य राज्ञश्च।।

बृहत्संहिता, सप्तर्षिचार।

जब कि पृथ्वी पर युधिष्ठिर राजा का राज्य था मुनि (सप्तर्षि) मघा मे थे। शककाल मे २५२६ जोड़ देने से उस राजा (युधिष्ठिर) का (समय) आता है।

इससे वराहमिहिर का मत ऐसा मालूम होता है कि शक के २५२६ वर्ष पूर्व अर्थात् कलियुगारम्भ के ६५३ वर्ष बाद पाण्डव हुए। वराह ने सप्तर्षिचार वृद्धगर्ग के मतानुसार लिखा है अतः उनका भी मत यही होना चाहिए। राजतरङ्गिणी नामक काश्मीर का इतिहास कल्हण ने वराहमिहिर के लगभग सात-आठ सौ वर्ष बाद लिखा है। उसके प्रथम उल्लास मे गर्ग और वराह के मतानुसार पाण्डवो का काल गतकलि ६५३ ही लिखा है।

गर्गवराहोक्त यह काल कल्पित मात्र है। वराहमिहिर ने सप्तर्षिचार में लिखा है कि सप्तर्षि गतिमान् हैं और वे प्रत्येक नक्षत्र मे १०० वर्ष रहते हैं। उसी के अनुसार

१. वैदिक काल की अवधि इस भाग के उपसंहार में निश्चित की गयी है।

उन्होने यह काल भी निश्चित किया है, परन्तु हम समझते है सप्तर्षियों में गति बिलकुल नही है। वे युधिष्ठिर के समय मघा मे थे और अब भी मघा मे ही हैं। यदि यह कथन ठीक मान लिया जाय कि वे प्रत्येक नक्षत्र मे १०० वर्ष रहते है तो उन्हें सम्पूर्ण नक्षत्र मण्डल की एक प्रदक्षिणा करने मे २७०० वर्ष लगेगे और उससे यह निष्पन्न होगा कि युधिष्ठिर को हुए २७०० या ५४०० अथवा किसी संख्या से गुणित २७०० तुल्य वर्ष बीते है परन्तु वस्तुत॰ सप्तर्षि गतिमान् नहीं है और यह सब व्यर्थ की कल्पना है। इसी प्रकार गर्ग और वराहोक्त काल भी निरर्थक है। इन गर्ग का समय शक की प्रथम या द्वितीय शताब्दी होनी चाहिए। उन्हे सप्तर्षि मघा के आसपास दिखलाई पडे, इसलिए उन्होने निश्चय किया कि शकारम्भ के समय युधिष्ठिर को हुए २५२६ वर्ष बीत चुके थे। आकाश मे सप्तर्षि जिस प्रदेश मे है वह बहुत बडा है। सम्प्रति सप्तर्षियो को मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त और चित्रा मे से चाहे जिस नक्षत्र में कह सकते है। यही स्थिति गर्ग और वराह के समय भी थी। हम समझते है, इसी कारण उन्हे ऐसा मालूम हुआ होगा कि सप्तर्षि गतिमान् है। पहले उनकी स्थिति किसी ने मघा मे बतलायी है और इस समय पूर्वाफाल्गुनी मे दिखाई दे रहे है तो हम उन्हे गतिमान् अवश्य कहेगे। वराहमिहिर गर्ग के लगभग दो-तीन सौ वर्ष बाद हुए। उन्हे भी यह काल उचित मालूम पडा, परन्तु वस्तुत॰ है कल्पित ही।

महाभारत में पाण्डवों का प्रादुर्भावकाल द्वापर के अन्त में बतलाया है और वराहमिहिर के समय भी लोगों की यह धारणा अवश्य रही होगी। वराहमिहिर के समकालीन अथवा उनसे थोडे ही प्राचीन आर्यभट ने यह बात स्वीकार की है परन्तु गर्ग और वराह सरीखे ज्योतिषियो ने नही मानी है। इससे महाभारत का यह कथन कि पाण्डव द्वापर के अन्त में हुए सशयग्रस्त मालूम होने लगता है।

महाभारतीय युद्धकालीन उपर्युक्त ग्रहस्थिति के आधार पर रा॰ रा॰ विसाजी रघुनाथ लेले ने गणित द्वारा पाण्डवो का समय निश्चित कर उसे शके १८०३ में समाचार पत्रों में प्रकाशित किया था। यहां उसका विचार करेगे।

लेले के कथन का साराश यह है—

कर्ण और व्यास के वार्तालाप सम्बन्धी ग्रहस्थिति मे कुछ ग्रह दो नक्षत्रो मे बतलाये है। चन्द्रमा भी दो नक्षत्रों मे बताया है। युद्ध के आरम्भ दिन की चन्द्रस्थिति के विषय मे लिखा है—

मघाविषयग. सोमस्तद्दिन प्रत्यपद्यत ॥२॥

भीष्मपर्व, अध्याय १७।

युद्ध के अन्तिम अर्थात् १८वे दिन बलराम तीर्थयात्रा करके लौटे। उस समय का उनका कथन है—

चत्वारिंशदहान्यद्य द्वे च मे नि:सृतस्य वै।
पुष्येण सम्प्रयातोऽस्मि श्रवणे पुनरागत: ।।६।।

गदापर्व, अध्याय ५

इससे युद्ध के प्रथम दिन रोहिणी या मृगशीर्ष नक्षत्र सिद्ध होता है। इस प्रकार महाभारत मे युद्धकाल के आसपास ग्रहो की स्थिति दो दो नक्षत्रो मे दिखाई देती है। चन्द्रमा रोहिणी या मृगशीर्ष और मघा मे, मगल मघा और अनुराधा या ज्येष्ठा मे तथा गुरु विशाखा के समीप और श्रवण मे बतलाया है। इससे ज्ञात होता है कि इन दो नक्षत्रो मे से एक सायन विभागात्मक और दूसरा तारारूप अर्थात् निरयण है। इन दोनो मे सात या आठ नक्षत्रो का अन्तर है। गणितानुसार सायन और निरयण नक्षत्रो में इतना अन्तर शकारम्भ के ५३०६ वर्ष पूर्व अर्थात् कलियुग का आरम्भ होने के २१२७ वर्ष पूर्व आता है। उस वर्ष सायन मार्गशीर्ष मे युद्ध हुआ। उसके लगभग २२ दिन पूर्व की स्थिति व्यास और कर्ण के भाषण मे है। कार्तिक की अमावस्या के ग्रह केरोपन्तीय ग्रहसाधन कोष्ठक द्वारा स्पष्ट किये केरोपन्त ने वर्षमान सूर्यसिद्धान्त का लिया है। उसके ग्रन्थानुसार मेष सक्रान्ति उसी मान की चैत्र शुक्ल एकादशी शनिवार को १२ घटी २७ पल पर आती है। उस समय का राश्यादि स्पष्ट सायन रवि ८।२५।१ है अर्थात् वह चैत्र सावनमास से पौष होता है। उस वर्ष अयनाश ३ राशि ४ अश ५६ कला आता है अर्थात् सायन ग्रह मे ३।४।५६ अयनाश जोड देने से निरयण ग्रह आते हैं। उस वर्ष का सायन कार्तिक निरयण माघ था। मेष सक्रान्ति के ३१३ दिन बाद निरयण माघ की अमावास्या हुई। उस दिन के बम्बई के मध्यम सूर्योदय से १२ घटी २७ पल के सायन ग्रह नीचे लिखे है।

	रा०	अं०	क०	सायन-नक्षत्र	निरयण-नक्षत्र
सूर्य	७	३	१६	विशाखा	शमभिषक्
चन्द्रमा	७	३	२७	अनुराधा	शतभिषक्
बुध	७	१	८	विशाखा	घनिष्ठा
शुक्र	७	२१	१	ज्येष्ठा	पूर्वाभाद्रपदा
मंगल	४	६	३४	मघा	अनुराधा
गुरु	६	१७	४७	स्वाती	श्रवण
शनि	६	१	८	चित्रा	उत्तराभाद्रपदा
राहु	७	१०	४३	अनुराधा	शतभिषक्

चन्द्रमा इसके आगेवाली पूर्णिमा के दिन लगभग १ राशि १८ अंश अर्थात् सायन रोहिणी और निरयण पूर्वफाल्गुनी मे था ।

अङ्गारक (मगल) मघा मे बतलाया है और तदनुसार वह सायन मघा मे आता है। गुरु और शनि विशाखा के समीप बतलाये है । तदनुसार गणित द्वारा गुरु विशाखा के पास सायन स्वाती मे और शनि उसके पास सायन चित्रा मे आता है । पाण्डवकाल मे निरयण मान की प्रवृत्ति ही नही थी । ग्रह के विषय मे केवल इतना ही कहा जाता था कि वह अमुक सायन नक्षत्र मे और अमुक तारा के पास है। उसी पद्धति के अनुसार मगल ज्येष्ठा तारा के पास बतलाया है । आजकल की भाँति ही उस समय भी नक्षत्रो के तारे निरयण-विभागात्मक नक्षत्र के पास ही थोडा आगे या पीछे रहते थे। तदनुसार ज्येष्ठा का तारा निरयण अनुराधाविभाग[1] मे था और उससे मगल का योग हुआ था। 'अङ्गारक ज्यष्ठाया वक्र कृत्वा' वाक्य मे वक्र का अर्थ विलोम-गति नही है बल्कि उसका अभिप्राय यह है कि मगल ज्येष्ठा से शर तुल्य अन्तर पर था अर्थात् दूर गया था । बृहस्पति श्रवण मे बतलाया है और गणित से श्रवण तारा के पास आता भी है। युद्धारम्भ के दिन चन्द्रमा रोहिणी मे बतलाया है और गणित से भी रोहिणी ही मे आता है । मघा के पास भी बतलाया है। तदनुसार पूर्वाफाल्गुनी विभाग में मघा तारा के पास आता है। शुक्र पूर्वाभाद्रपदा के पास बतलाया है और गणित से वह पूर्वाभाद्रपदा में आता है। 'राहु' अर्क उपैति" मे राहु सूर्य के पास बतलाया है और वह भी सूर्य के पास आता है। साराश यह कि महाभारत मे ग्रहस्थिति के सम्बन्ध मे ग्रहों के सायन नक्षत्र और उनके पास के तारे बतलाये है। उसके अनुसार युद्ध का समय शकपूर्व ५३०६वा वर्ष आता है।

यह लेले के कथन का साराश हुआ। उनके गणित पर निम्नलिखित बहुत बड़े बडे आक्षेप है ।

(१) उन्होने महाभारत की ग्रहस्थिति सायन बतलायी है, पर वस्तुत वह सायन नही है। आधुनिक ज्योतिष ग्रन्थो मे नक्षत्रचक्र का आरम्भ अश्विनी से माना है। उसके अनुसार उन्होने वसन्तसम्पात से प्रथम नक्षत्र को अश्विनी मानकर महाभारतोक्त सायन-ग्रहस्थिति की सगति लगायी है, पर यहा प्रश्न यह है कि सम्पात से प्रथम नक्षत्र को अश्विनी मानने का नियम आया कहा से ? दूसरी बात यह कि नक्षत्रो के अश्विन्यादि नाम दृश्य

१. उपर्युक्त निरयण विभागात्मक नक्षत्र लेले ने नहीं लिखे है । उनका यह कथन कि ग्रह अमुक तारा के पास है, शीघ्र समझ में आने के लिए उनके गणितानुसार ये मैने लिखे हैं ।

तारो के ही है, यह बात बिल्कुल स्पष्ट है। सायन अश्विनी नक्षत्र कोई दृश्य तारा नही है, अत' लेले को यह स्वीकार करना चाहिए कि उनकी बतलायी हुई सायन गणना जब प्रचलित थी उस समय सम्पात जिस तारात्मक नक्षत्र मे था उसी का नाम सम्पात से आगे वाले प्रथम नक्षत्र का भी रहा होगा और उनके मत मे महाभारत के सायन नक्षत्र अश्विन्यादि है। अत सायन अश्विन्यादि गणना का प्रचार उस समय हुआ होगा जब कि सम्पात अश्विनी तारा के पास था। शकपूर्व ८०० से ५०० वर्ष पर्यन्त सम्पात अश्विनी नक्षत्र के किसी न किसी तारे के पास था परन्तु पाण्डवो का समय इससे प्राचीन है, अत: लेले के कथनानुसार सायन अश्विन्यादि गणना का आरम्भकाल शकपूर्व लगभग २६ सहस्र वर्ष (अथवा किसी पूर्णाक से गुणित २६००० वर्ष) सिद्ध होता है परन्तु महाभारत मे अश्विन्यादि गणना कही नही है। नक्षत्रों का आरम्भ कृत्तिका से है। धनिष्ठादि और श्रवणादि गणना का उल्लेख भी कई जगह है (पृष्ठ १५५ देखिए) । इतना ही नहीं, अश्विन्यादि गणना वेदों में भी कही नहीं है। वेदाङ्गज्योतिष में भी नक्षत्रो का आरम्भ धनिष्ठा से है और उनके देवता वेदानुसार कृत्तिकादि है। ऋक्पाठ के १४वे श्लोक में प्रथम नक्षत्र अश्विनी है परतु उसका कारण दूसरा है। वह वही लिखा है। शकपूर्व ५०० वर्ष के पहिले अश्विनी आरम्भ नक्षत्र नही था। सूर्यसिद्धान्तादि जिन ग्रन्थो मे अश्विन्यादि गणना है उनमे से कोई भी शकपूर्व ५०० से प्राचीन नही है। इस बात को आगे सिद्ध करेगे। आधुनिक सभी ज्योतिष ग्रन्थो मे नक्षत्र अश्विन्यादि ही है। वैदिक काल और वेदाङ्गकाल के जिन ग्रन्थो मे मेषादि सज्ञाए नही है उनमें अश्विन्यादि गणना बिल्कुल नही है।

(२) सायन गणना उस समय आरम्भ हुई जब कि सम्पात कृत्तिका तारा के पास था, सम्पात स्थान से ही सायन कृत्तिका नक्षत्र आरम्भ होता है और महाभारतोक्त ग्रह-स्थिति सायन है, ये तीन बातें मान कर पाण्डवो का समय निश्चित किया जा सकता है। महाभारत मे ग्रहो के जो दो दो नक्षत्र बतलाये है उनमे लगभग सात या आठ का अन्तर है। इसलिए अश्विन्यादि गणना द्वारा पाण्डवों के समय सम्पात लगभग पुनर्वसु मे आता है। शक के लगभग ५३०६ वर्ष पूर्व पुनर्वसु मे सम्पात था। कृत्तिकादि गणना द्वारा मघा के लगभग सम्पात मानकर महाभारत की ग्रहस्थिति मिलायी जा सकती है पर ऐसा करने से पाण्डवो का समय और भी लगभग दो सहस्र वर्ष पीछे चला जायगा अर्थात् शकपूर्व लगभग ७३०० वर्ष होगा। शकपूर्व २४०० के लगभग सम्पात कृत्तिका तारा मे था। पाण्डवो का समय इससे भी प्राचीन है। अत: लेले को यह स्वीकार करना ही पडेगा कि शकपूर्व २४०० के २६ सहस्र वर्ष पहिले अर्थात् शक के लगभग २८ सहस्र वर्ष पूर्व जब कि सम्पात कृत्तिका में था सायन कृत्तिकादि गणना आरम्भ हुई

और उसके बाद पाण्डवो के समय तक अर्थात् लगभग २१ सहस्र वर्ष पर्यन्त प्रचलित रही। परन्तु शक के २६ या २८ सहस्र वर्ष पूर्व सायन गणना का आरम्भ निश्चित करना गणित के कितने आडम्बरो से व्याप्त है, इसका ज्ञान उसी को होगा जो कि पञ्चाङ्ग के गणित से भली भाँति परिचित है। कम से कम मुझे तो विश्वास नही होता कि आज के २८ सहस्र वर्ष पूर्व हमारे देश के लोग इतना ज्योतिष गणित जानते रहे होगे। लेले का कथन है[1] कि भारतीयो को गत २६ सहस्र वर्षो से ही नही बल्कि उसके भी पहिले से ज्योतिष गणित का अच्छा ज्ञान है और प्राचीन लोग वेध करना अच्छी तरह जानते थे। उस समय के ग्रन्थ सम्प्रति लुप्त हो गये है।

मुझे इस बात का कारण मालूम नही होता कि जो पद्धति २५ सहस्र वर्षों तक प्रचलित थी उसका एकाएक समूल लोप कैसे हो गया। उस समय का गणित ज्ञान और ग्रन्थ समुदाय एकबारगी नष्ट कैसे हो गया। आज लगभग गत दो सहस्र वर्ष के सैकडों ज्योतिष ग्रन्थों का इतिहास ज्ञात है। इतना ही नही, बिल्कुल सूक्ष्मतया यह भी मालूम है कि एक के बाद दूसरा ग्रन्थ किस प्रकार बना।[2] इतना होते हुए भी सम्प्रति प्राचीन पद्धति का एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नही है और प्राचीन गणित का नाम शेष तक नही रहा है। शकपूर्व ५०० वर्ष से प्राचीन अनेको ग्रन्थ उपलब्ध होते हुए भी उनमे इस सूक्ष्म गणित पद्धति की चर्चा बिलकुल नही है। लेले को यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि वेद और वेदाङ्गज्योतिष पाण्डवों से प्राचीन है। वेद, वेदाङ्गज्योतिष और पाण्डवों के बाद के ग्रन्थ उपलब्ध होते हुए बीच का ज्योतिष ज्ञान और ज्योतिष ग्रन्थ लुप्त हो गये, उसका रहस्य मेरी समझ मे नही आता।

साराश यह कि वैदिककालीन किसी भी ग्रन्थ मे अश्विनी प्रथम नक्षत्र नही है और अनेक प्रमाणो द्वारा यह बात सिद्ध होती है कि २८ सहस्र वर्ष पूर्व सायन और निरयण का सूक्ष्म भेद समझकर उसका प्रचार होने योग्य ज्योतिष गणित का ज्ञान हमारे देश मे नही था। इन दो कारणो से सिद्ध होता है कि महाभारत मे बतलायी हुई ग्रहस्थिति सायन नही है। अत उसके आधार पर लाया हुआ समय भी शुद्ध नही है।

महाभारतोक्त ग्रहस्थिति के सायनत्व पर इन दो बडे आक्षेपो के अतिरिक्त निम्नलिखित कुछ फुटकर आक्षेप भी है।

(३) महाभारत में बृहस्पति और शनि विशाखा के समीप बतलाये है। गणित द्वारा गुरु सायन स्वाती मे और शनि चित्रा मे आता है। लेले ने दोनों को सायन

१. उन्होंने अपने ये मत मुझे २१ मई सन् १८९५ के अपने पत्रों द्वारा बतलाये है।
२. इन सबका विवेचन द्वितीय भाग में किया है।

विशाखा के समीप माना है। वस्तुतः सायन विशाखा कोई दृश्य तारा नही है। अत॰ महाभारतकार को चित्रा और स्वाती मे स्थित ग्रहो को विशाखा के समीप बतलाने की कोई आवश्यकता नही थी। स्पष्टतया यही कहना चाहिए था कि गुरु स्वाती मे और शनि चित्रा मे था ।

(४) कर्णवध के समय की स्थिति बतायी है—

बृहस्पतिः संपरिवार्य रोहिणी बभूव चन्द्रार्कसमो विशापते ।।६।।

यहाॅ बृहस्पति रोहिणी मे बतलाया है। लेले के गणितानुसार वह स्वाती या श्रवण मे आता है अर्थात् रोहिणी की कोई व्यवस्था नही लगती। (५) एक जगह लिखा है—'शनि रोहिणी को पीडित करता है और सूर्यपुत्र भग (फल्गुनी) नक्षत्र पर आक्रमण कर उसे पीडित करता है'। यहा शनि के नक्षत्र चित्रा और उत्तराभाद्रपदा से भिन्न है। लेले ने इसका विचार नही किया है। किसी न किसी तरह समाधान करना ही हो तो कह सकते है कि 'ग्रह जिस नक्षत्र मे बैठा है उससे भिन्न नक्षत्र को पीडा दे सकता है। इसलिए शनि चित्रा में रहते हुए रोहिणी को पीडित कर सकता है और भग को पीडित करनेवाला यह सूर्यपुत्र शनि नही है बल्कि आकाश मे ग्रहो के पुत्र जो बहुत से धूमकेतु घूमा करते है उन्ही मे से एक यह भी है' परन्तु इससे ठीक समाधान नही होता। (६) 'वक्रानुवक्र कृत्वा च श्रवणं पावकप्रभा॰' श्लोक में पावकप्रभ लोहिताङ्ग श्रवण मे बतलाया है। लेले को इसका विचार नही करने आया। उन्हे पावकप्रभ लोहिताङ्ग कोई धूमकेतु मानना पडता है। उसका अर्थ मंगल करने से संगति नही लगती क्योंकि गणित द्वारा मंगल सायन मघा या निरयण अनुराधा मे आता है। सारांश यह कि जिन ग्रहों की स्थिति दो से अधिक नक्षत्रो मे बतलायी है उनकी लेले के गणितानुसार ठीक व्यवस्था नही लगती। (७) 'मघास्वङ्गारको वक्र॰ श्रवणे च बृहस्पति॰' श्लोक मे मघा और श्रवण नक्षत्र एक जाति के होने चाहिए अर्थात् यदि मघा सायन है तो श्रवण भी सायन ही होना चाहिए। परन्तु लेले को मघा सायन और श्रवण तारात्मक मानना पडता है। दूसरी विचित्रता यह है कि सायन होते हुए यहां मघा का प्रयोग बहुवचनान्त है। वस्तुत. सायन नक्षत्रो का प्रयोग बहुवचनान्त नही होना चाहिए क्योकि उनका तारों से कोई सम्बन्ध नही होता। (८) जिस दिन शल्य का वध हुआ उसके प्रातःकाल का वर्णन है—

भृगुसूनुधरापुत्रौ शशिजेन समन्वितौ ।।१८।।

शल्यपर्व, अध्याय ११।

इसमें शुक्र, मंगल और बुध एकत्र बतलाये हैं। लेले ने इसका विचार बिलकुल

नही किया है। (९) 'कृत्वा चाङ्गारको वक्र. ' मे कहा है कि मगल ज्येष्ठा मे वक्री होकर अनुराधा की प्रार्थना कर रहा है। लेले के गणित मे मगल वक्री नही आता इसलिए उन्हे वक्र शब्द का दूसरा अर्थ करना पडता है। (१०) उनका कथन है कि मेरे अयनाश और सायन ग्रहो द्वारा ग्रहो के निरयण नक्षत्र लाने से चन्द्रमा पूर्वाफाल्गुनी मे आता है। महाभारत मे वह मघा के पास बतलाया है। मगल अनुराधा मे आता है। महाभारत मे वह ज्येष्ठा के पास बतलाया है। वे यह भी कहते है कि महाभारतोक्त ग्रहस्थिति मे निरयण विभागात्मक नक्षत्र है ही नही। ग्रह तारो के पास बतलाये है। यदि ऐसा है तो इस बात का पता लगाना चाहिए कि उनके निश्चित किये हुए समय मे उन तारो की स्थिति कहाँ थी। अयन गति प्रति वर्ष ५० विकला मानने से शकपूर्व ५३०६वे वर्ष मे पूर्वभाद्रपदा-योगतारा का राश्यादि सायन भोग ८।१३।५ आता है। शुक्र इससे २२ अश कम है अर्थात् वह शतभिषक् तारा के भी पीछे चला जाता है। अत उसे पूर्वभाद्रपदा के पास कहना शोभा नही देता। ज्येष्ठा का भोग ४।२९।२२ आता है। मगल उससे २३ अश पीछे अर्थात् विशाखा तारा के पास है। अत उसे भी ज्येष्ठा के पास बतलाना उचित नही प्रतीत होता। सम्पातगति ५० विकला से कुछ न्यून या अधिक माने, तारो की निज गति की भी गणना करे और ग्रहस्थिति भोग द्वारा न लेते हुए विषुवाश द्वारा ले तो भी इन दो ग्रहो की स्थिति महाभारतोक्त ग्रहस्थिति से नही मिलेगी। लेले के निश्चित किये हुए काल से थोडा आगे या पीछे कदाचित् ऐसी स्थिति हो सकती है जिसमे अन्तिम दो तीन आक्षेप लागू न हो परन्तु शेष ज्यो के त्यो बने रहेगे।

साराश यह कि महाभारतोक्त ग्रहस्थिति मे सायन और निरयण दोनो पद्धतियो का समिश्रण नही है और लेले का निश्चित किया हुआ समय अशुद्ध है।[1]

रा० रा० व्यकटेश बापू जी केतकर ने उपर्युक्त सप्तर्षि सम्बन्धी 'आसन्मघासु मुनय शासति पृथ्वी युधिष्ठिरे नृपतौ' श्लोक का अर्थ यह किया है कि विक्रम के २५२६ वर्ष पूर्व युधिष्ठिर शक प्रचलित था और तदनुसार उन्होने पाण्डवो का समय शकपूर्व (२५२६+१३५=) २६६१वा वर्ष माना है। शकपूर्व २६६२वे वर्ष के मार्गशीर्ष मास मे अर्थात् ई० पू० २५८५वे वर्ष के नवम्बर की ८वी तारीख को युद्धारम्भ और २५वी को युद्ध की समाप्ति बतलायी है। केरोपन्तीय 'ग्रहसाधन कोष्ठक' नामक

१. इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मुझे सायन गणना मान्य नही है। मेरा कथन केवल इतना ही है कि महाभारतोक्त ग्रहस्थिति सायन नही है। महाभारत से अत्यन्त प्राचीन वेदों को सायन गणना मान्य है। आगे इसका विस्तृत विवेचन किया जायगा।

पुस्तक द्वारा कार्तिक कृष्ण अमावास्या गुरुवार के प्रात.कालीन ग्रह ला कर उनमे १।१३।५७ अयनाश का सस्कार कर निम्नलिखित राश्यादि निरयण ग्रह लाये है।

ग्रह	रा० अ० क०	नक्षत्र	ग्रह	रा० अ० क०	नक्षत्र।
सूर्य	७।२४।०	....	शुक्र	७।१०।३३	अनुराधा।
मगल	३।८।३०	पुष्य	शनि	६।७।५१	स्वाती।
गुरु	७।२४।४८	ज्येष्ठा	राहु	८।१६।३६	. . .

मार्गशीर्ष शुक्ल पूर्णिमा शुक्रवार का चन्द्रमा १ राशि २७ अश ३० कला अर्थात् मृगशीर्ष नक्षत्र मे लाया है। वे कहते है कि शुक्र की स्थिति महाभारतोक्त 'श्वेतो ग्रह प्रज्वलितो ज्येष्ठामाक्रम्य तिष्ठति' श्लोक के अनुसार है। गणित द्वारा युद्धारम्भ और युद्ध समाप्ति दोनो समयो मे ग्रहण दिखलाये है और अन्तिम ग्रहण के समय जयद्रथ का वध बतलाया है।

यह कथन महाभारत के विरुद्ध है और उपर्युक्त ग्रहस्थिति उससे नही मिलती अत· केतकर का निश्चित किया हुआ यह समय त्याज्य है।[1]

महाभारतोक्त ग्रहस्थिति द्वारा अभी तक पाण्डवो का समय निश्चित नही हो सका है परन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि वह ग्रहस्थिति ही झूठी है। कर्ण और व्यास के भाषणो मे वर्णित ग्रहस्थिति सत्य है और मै समझता हूँ वह पाण्डवो के समय से लेकर आज तक सभी महाभारतो मे बराबर चली आ रही है। मुझे तो यही कहना उचित जान पडता है कि हम लोगो को उसकी सगति ही लगाने नही आती। रा० रा० जनार्दन हरी आठले ने लेले के मत का खण्डन किया है और निरयण मान से ही फल-ज्योतिष के अनुसार उस स्थिति की सगति लगाने का प्रयत्न किया है पर मुझे वह बहुत कुछ सिद्ध हुआ-सा नही मालूम होता। जिसकी जैसी इच्छा हो वैसा अर्थ लगावे।

पाण्डवो के समय चैत्रादि नाम प्रचलित थे और उनका शकपूर्व ४ सहस्र वर्ष[2] से प्राचीन होना बिलकुल असम्भव है। यह बात आगे सिद्ध की है, अतः पाण्डवो का समय-शकपूर्व ४ सहस्र वर्ष से प्राचीन कभी भी नही हो सकता।

१. सन् १८८४ के मई और जून मासों के इन्दुप्रकाश और पुणे-वैभव पत्रों में केतकर का गणित और उस पर किये हुए आक्षेप विस्तारपूर्वक लिखे हैं। उन्हें वहीं देखिये।

२. शक और ईसवी सन् में ७८ वर्ष का अन्तर है। ज्योतिष गणित द्वारा यदि किसी स्थिति विशेष का समय शकारम्भ के कुछ वर्ष पूर्व निश्चित होता है तो उसमें ७८ वर्षों का अन्तर पड़ना असम्भव नहीं है। इसके अनेक कारण हैं। अतः मैंने जहाँ शकपूर्व कोई वर्षसंख्या लिखी है वहाँ ईसवी पूर्व उतने वर्ष भी कह सकते हैं।

विष्णुपुराण और श्रीमद्भागवत् द्वारा भी पाण्डवो के समय का कुछ पता लगता है। प्रसङ्गवसात् उन स्थलो को यहाँ लिखते है ।

महानन्दिसुत शूद्रागर्भोद्भवोऽतिलुब्धो महापद्मो नन्द परशुराम इवापरोऽखिल-क्षत्रियान्तकारी भविता ।।४।। तस्याप्यष्टौ सुता सुमाल्याद्या भवितारस्तस्य च महापद्मस्यानु पृथ्वी मोक्ष्यन्ति। महापद्मस्तु पुत्राश्च एक वर्षशतमवनीपतयो भवि-ष्यन्ति। नवैतान्नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मण समुद्धरिष्यति ।।६।। तेषामभावे मौर्याश्च पृथ्वी भोक्ष्यन्ति। कौटिल्य एव चन्द्रगुप्त राज्येऽभिषेक्ष्यति ।।७।।

यावत्परीक्षितो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम् ।
एतद्वर्षसहस्र तु ज्ञेय पञ्चदशोत्तरम् ।।३२।।

विष्णुपुराण, अश ४, अध्याय २४।

यहाँ भविष्य रूप मे बतलाया है कि युधिष्ठिर के पौत्र परीक्षित के जन्म से १०१५ वर्ष बाद नन्द का राज्याभिषेक हुआ। तत्पश्चात् नव नन्दो ने १०० वर्ष राज्य किया। उसके बाद चाणक्य का शिष्य मौर्य चन्द्रगुप्त गद्दी पर बैठा। भागवत द्वादश स्कन्ध के प्रथम और द्वितीय अध्यायो मे भी यही कथा है। 'यावत् परीक्षितो जन्म. . श्लोक भी उसमे है। वहाँ ज्ञेय के स्थान मे शत पाठ है। इस प्रकार परीक्षित से नन्द पर्यन्त १११५ वर्ष होते है। जब अलेक्जेण्डर हिन्दुस्तान मे आया उस समय चन्द्रगुप्त उससे मिलने गया था। ई० पू० ३१६ मे वह पाटलिपुत्र मे गद्दी पर बैठा। अलेक्जे-ण्डर के बाद जब उसका सरदार सिल्यूकस प्रबल हो गया था चन्द्रगुप्त हिन्दुस्तान का अत्यन्त शक्तिशाली राजा समझा जाता था। अशोक उसका पौत्र था। ये बाते इति-हास-प्रसिद्ध और निर्विवाद सिद्ध है। अलेक्जेण्डर और सिल्यूकस इत्यादिको के समय द्वारा चन्द्रगुप्त का उपर्युक्त समय बिलकुल निश्चित हो चुका है। यदि भागवत और विष्णु पुराण का यह वर्णन कि परीक्षित के जन्म के १०१५ या १११५ वर्ष बाद नन्द का राज्याभिषेक हुआ सत्य है, तो पाण्डवो का समय ई० पू० लगभग १४३१ या १५३१ है। यूरोपियन विद्वान् भी प्राय. यही समय मानते है।

मेरे मतानुसार पाण्डवो का समय शकपूर्व १५०० और ३००० के मध्य मे है। इससे प्राचीन नही हो सकता।

ग्रहगतिज्ञान

महाभारतोक्त ग्रहस्थिति से ज्ञात होता है कि उसके रचनाकाल मे लोगो को ग्रहगति का अच्छा ज्ञान था। उदाहरणार्थ निम्नलिखित श्लोक देखिए।

क्षयं सवत्सराणाञ्च मासानाञ्च क्षय तथा ।।४६।।

पक्षक्षय तथा दृष्ट्वा दिवसानाञ्च सक्षयम् ।।

शान्तिपर्व, अध्याय २०१, मोक्षधर्म ।

इसमे सवत्सर, मास, पक्ष और दिवस क्षय के नाम आये है। दिवसक्षय वेदाङ्ग-ज्योतिष मे भी है। महाभारत मे पक्षक्षय का वर्णन दूसरी जगह भी आया है। ऊपर विश्वघस्रपक्ष के प्रसङ्ग मे उसका विवेचन कर चुके हैं। सवत्सर का क्षय लगभग ८५ वर्षों के बाद होता है (द्वितीय भाग के पञ्चाङ्ग विचारान्तर्गत सवत्सर विचार मे उदय-पद्धति और मध्यमराशि पद्धति देखिए) परन्तु उसमे ऐसी पद्धति की आवश्यकता है जिसमे गुरुगति की गणना राशि के अनुसार हो। महाभारत मे मेषादि राशियो के नाम अथवा क्रान्तिवृत्त के १२ भागो के अनुसार ग्रहस्थिति बतलाने की पद्धति नही है अत उस समय मध्यमराशि-भोग द्वारा संवत्सर निश्चित करने की पद्धति भी नही रही होगी। द्वादशसवत्सरपद्धति इससे प्राचीन है। वह गुरु के उदयास्त पर अवलम्बित है। उसमे सवत्सर का क्षय बार-बार होता है। अनुमानत महाभारत-काल मे उसका प्रचार रहा होगा। मध्यमराशि पद्धति यदि थी तो गुरु की सूक्ष्म मध्यमगति का भी ज्ञान रहा होगा। सम्प्रति सूर्य और चन्द्रमा की स्पष्ट गति का सूक्ष्म ज्ञान हुए बिना क्षयमास नही लाया जा सकता। नक्षत्रो द्वारा महीनो का नाम रखने की पद्धति द्वितीय भाग मे बतलायी है (पञ्चाङ्ग चार मे मासनामविचार देखिए)। उसमे मासक्षय बार-बार आता है अतः महाभारतकाल मे उसका प्रचार रहा होगा। उपर्युक्त पक्षक्षय के विवेचन से ज्ञात होता है कि उस समय आजकल की तरह सूर्य-चन्द्र की स्पष्टगति का सूक्ष्म ज्ञान नही था। मासक्षय, पक्षक्षय और दिवसक्षय यदि आजकल से ही थे तो सूर्य और चन्द्रमा के फलसंस्कार तथा स्पष्टगति का ज्ञान भी आजकल सरीखा ही रहा होगा।

सृष्टिचमत्कार

महाभारत मे धूमकेतु और उल्कापातादि का वर्णन अनेको जगह है। निम्नलिखित श्लोक मे स्पष्ट कहा है कि वर्षा का कारण सूर्य है।

त्वमादायाशुभिस्तेजो निदाघे सर्वदेहिनाम् ।।

सर्वौषधिरसानाञ्च पुनर्वर्षासु मुञ्चसि ।।४६।।

वनपर्व, अध्याय ३।

कही-कही ज्वारभाटे का सम्बन्ध चन्द्रमा से बतलाया है। कई जगह पृथ्वी के

गोलत्व का भी वर्णन है। निम्नलिखित श्लोक मे कहा है कि चन्द्रमा का पृष्ठ कभी भी दिखाई नही देता।

यथा हिमवत· पार्श्व पृष्ठं चन्द्रमसो यथा।
न दृष्टपूर्व मनुजैः .... ॥

शान्तिपर्व, अध्याय २०३, मोक्षधर्म।

साराश यह कि उस समय लोगो की प्रवृत्ति आकाश और पृथ्वी के चमत्कारो का कारण जानने की थी।

संहिता-स्कन्ध

महाभारत मे ऐसी बाते बहुत-सी है जिनका सम्बन्ध ज्योतिष के सहिता-स्कन्धान्तर्गत मुहूर्त ग्रन्थो मे बतलाये हुए फलादिको मे है। युद्ध के समय की सम्पूर्ण ग्रहादिस्थिति फल के उद्देश्य से ही कही गयी है। भीष्म ने धर्मराज से कहा है—

यतो वायुर्यत. सूर्यो यत शुक्रस्ततो जय ॥२०॥
एव सचिन्त्य यो याति तिथिनक्षत्रपूजित ॥२५॥
विजय लभते नित्य सेना सम्यक् प्रयोजनम् ॥

शान्तिपर्व, अध्याय १००।

युद्धादि यात्रा के लिए पुष्य-योग का शुभत्व तो अनेको जगह बतलाया है। एक जगह भगदेवताक नक्षत्र को विवाह नक्षत्र कहा है। केवल वेद मे भग उत्तराफाल्गुनी का देवता है। और सभी ग्रन्थो मे वह पूर्वाफाल्गुनी का देवता माना गया है, परन्तु मुहूर्तग्रन्थो मे पूर्वाफाल्गुनी की गणना विवाह नक्षत्रो मे नही है।

द्रौपदी के विवाह के विषय मे कहा है—

अद्य पौष्य योगमुपैति चन्द्रमा पाणि कृष्णा-
यास्त्व (धर्मराज) गृहाणाद्य पूर्वम् ॥५॥

आदिपर्व, अध्याय १९८।

पुष्य विवाहनक्षत्र न होने के कारण टीकाकार चतुर्वर ने लिखा है 'पुष्यत्यनेनेति त, न तु पुष्यम्। पौष्यमिति पाठे पुष्याय हितम्' परन्तु यह ठीक नही मालूम होता। आगे बतलाया है कि पॉचो पाण्डवो ने क्रमश पाच दिन द्रौपदी का पाणिग्रहण किया परन्तु आधुनिक विवाह नक्षत्रो मे कोई भी पॉच नक्षत्र क्रमश. नही है।

सारांश

महाभारत की ज्योतिष सम्बन्धी बाते सामान्यत: बतला दी गयी। कुछ लोगो का

कथन है कि उसमे वारो और मेषादि राशियो के नाम नही है, अत. भारतीयो ने ग्रीक इत्यादिको से लिये हैं। इस सशय को दूर करने के लिए यहाँ महाभारत की कुछ विशेष महत्व की बाते लिखते है।

(१) पाण्डवो का समय किसी भी मत मे शकपूर्व १५०० वर्ष से अर्वाचीन नही है। इससे चाहे जितना प्राचीन हो पर यह निश्चित है कि पाण्डव-काल मे ग्रह का ज्ञान था। मेषादि सज्ञाओ और सात वारो का प्रचार होने के पहिले अर्थात् ग्रीक ज्योतिष का हमारे ज्योतिष से यदि कुछ सम्बन्ध है तो वह होने के पूर्व, (२) क्रान्तिवृत्त के १२ भाग मानने की पद्धति कम से कम सूर्य के सम्बन्ध से तो अवश्य ही थी। (३) १३ दिन के पक्ष से ज्ञात होता है कि सूर्य और चन्द्रमा की स्पष्ट गतिस्थिति का कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य था। (४) पक्ष, मास और सवत्सर के क्षय का भी उल्लेख है। यदि वे आजकल सरीखे थे तो मानना पडेगा कि सूर्य और चन्द्रमा की स्पष्ट गतिस्थिति का आजकल जैसा ही सूक्ष्म ज्ञान था और गुरु प्रभृति ग्रहो की मध्यम गति भी जानते थे। (५) आकाश के अन्य चमत्कारो का अवलोकन होता था। इतना ही नही, स्पष्ट-गति-ज्ञान मे उपयोगी पडनेवाले ग्रहोदयास्त और वक्रगति इत्यादि का भी अवलोकन और विचार करते थे।

महाभारत की भाँति पुराणो द्वारा उपर्युक्त बातो का निश्चित विधान नही किया जा सकता, क्योकि उनका समय निश्चित नही है और सब पुराणो को पढने के लिए दीर्घकाल की आवश्यकता भी है। इसलिए मैंने उसका विवेचन नही किया। रामायण का कुछ भाग वैदिककाल और वेदाङ्गकाल से अर्वाचीन है, क्योकि उसमे मेषादि राशियो के नाम आये हैं। कुछ महाभारत से प्राचीन भी हो सकता है, परन्तु उसे पृथक् कर दिखाना कठिन है, इसलिए रामायण का भी विवेचन नही किया।

प्रथम भाग का उपसंहार

शतपथब्राह्मण काल

यहाँ प्रसङ्गानुसार कुछ और कथनीय विषयों तथा महत्व के अनुमानों का वर्णन करते हुए प्रथम भाग का उपसंहार करेंगे।

शतपथब्राह्मण में लिखा है—

एक द्वे त्रीणि चत्वारिति वा अन्यानि नक्षत्राण्यथैता एव भूयिष्ठा यत्कृत्तिका-स्तद्भूमानमेवैतदुपैति तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत ॥२॥ एता ह वै प्राच्यै दिशो

न च्यवन्ते सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्चयवन्ते तत्प्राच्यामेवास्यै तद्दिश्याहितौ भवतस्तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत ।।३।।

शतपथब्राह्मण २।१।२

अर्थ—अन्य नक्षत्र, एक, दो, तीन या चार है, पर ये कृत्तिकाएँ बहुत सी है। (जो इनमे अग्न्याधान करता है वह) उनका बहुत्व प्राप्त करता है, अत कृत्तिका मे आधान करना चाहिए। ये पूर्व दिशा मे विचलित नही होती पर अन्य सब नक्षत्र पूर्व दिशा से च्युत हो जाते है। (जो इनमे आधान करता है) उसकी दो अग्निया पूर्व मे आहित हो जाती है। अतः कृत्तिका मे आधान करना चाहिए।

कृत्तिकाओ के पूर्व दिशा से च्युत न होने का अर्थ यह है कि उनका सर्वदा पूर्व में उदय होता है अर्थात् वे विषुववृत्त मे है और उनकी क्रान्ति शून्य है। सम्प्रति उनका उदय ठीक पूर्व मे नही, बल्कि पूर्वबिन्दु से किञ्चित् उत्तर की ओर हटकर होता है। इस परिवर्तन का कारण अयनगति है। अयनगति प्रतिवर्ष ५० विकला मानने से कृत्तिकायोगतारा की क्रान्ति शून्य होने का समय शकपूर्व ३०६८वा वर्ष और ४८ विकला मानने से उससे भी लगभग १५० वर्ष पूर्व अर्थात् कलियुगारम्भ के पास का समय आता है। उस समय के अन्य नक्षत्रो की क्रान्ति का विचार करने से रोहिणी का सबसे उत्तरवाला तारा, हस्त के दक्षिण ओर के तीन तारे, अनुराधा का एक, ज्येष्ठा का एक और अश्विनी का एक तारा विषुववृत्त के पास आता है। ठीक विषुववृत्त पर कदाचित् हस्त का कोई तारा रहा हो पर अन्य कोई नही था।

उपर्युक्त वाक्य मे 'कृत्तिकाएँ पूर्व मे उगती है' यह वर्तमानकालिक प्रयोग है, परन्तु अयनचलन के कारण उनका सर्वदा पूर्व मे उदय होना असम्भव है। आजकल उत्तर मे उगती है। शकपूर्व ३१०० वर्ष के पहिले दक्षिण मे उगती थी। इससे यह सिद्ध होता है कि शतपथ ब्राह्मण के जिस भाग मे वे वाक्य आये है उसका रचनाकाल शकपूर्व ३१०० वर्ष के आसपास होगा।

कृत्तिकादिगणनाकाल

वेदों में नक्षत्रारम्भ कृत्तिका से किया गया है। बेटली इत्यादि यूरोपियन विद्वान् कहते है कि वेदाङ्गज्योतिषकाल मे सम्पात भरणी के चतुर्थ चरण मे था, अत उसके पहिले कृत्तिका मे रहा होगा, इसलिए नक्षत्रारम्भ कृत्तिका से किया गया और वे कृत्तिका मे सम्पात होने का समय ईसवी सन् पूर्व १५वी शताब्दी बतलाते है, परन्तु उनका यह कथन ठीक नही है। वेदाङ्गज्योतिष का समय लाने मे जो त्रुटि हुई वही इसमे भी है। कृत्तिका मे सम्पात होने के कारण उसका सायन भोग शून्य होना चाहिए। सन् १८५०

मे ५७ अश ५४ कला था, अत· ईसवी सन् के लगभग (५७।५४×७२–१८५० =४१७०–१८५०=) २३२०[1] वर्ष पूर्व सम्पात कृत्तिका मे रहा होगा। चीन मे भी किसी समय नक्षत्रारम्भ कृत्तिका से होता था। बायो ने उनकी इस पद्धति का समय लगभग इतना ही अर्थात् ई० स० पूर्व २३५७ बतलाया है।[2] स्पष्ट है कि बायो ने हमारी ही रीति से यह समय निश्चित किया है। मैने बायो के मूल लेख नही पढे है पर आश्चर्य है कि उन्होने चीनी नक्षत्रों के विषय मे इस रीति का उपयोग किया और हिन्दुओ के विषय मे इसका कुछ भी विचार नही किया।

बेबर महोदय लिखते है कि इसमे कृत्तिका प्रथम नक्षत्र माना है, अत· इसका समय ईसवी सन् पूर्व २७८० और १८२० के मध्य मे है। डा० थीबो भारतीय ज्योतिष के अच्छे जानकार है। उनका मत अभी हाल ही मे प्रकाशित हुआ है। उसका साराश यह है कि "कृत्तिका को प्रथम नक्षत्र मानने का कारण जो कृत्तिका में सम्पात होना बतलाया जाता है, वह बिलकुल निराधार है। वेदाङ्गज्योतिष मे बतलायी हुई अयन स्थिति द्वारा जो समय आता है उससे प्राचीनकाल दिखलानेवाली आकाशस्थिति वेदो मे आज तक कही भी नही पायी गयी। वेदाङ्गज्योतिषोक्त धनिष्ठारम्भ मे उत्तरायण होना भी बिलकुल अस्पष्ट ही है। धनिष्ठा का शर बहुत उत्तर है और सूर्य जिस नक्षत्र मे रहता है वह दिखाई नही देता इत्यादि अनेक कारणो से यह बात निश्चित रूप से समझ मे नही आती कि क्रान्तिवृत्त के किस बिन्दु मे सूर्य के रहने पर वेदाङ्गज्योतिष का उत्तरायण होता था। अत· उसके अनुसार लाये हुए समय मे १००० वर्षों की त्रुटि हो सकती है।"[3]

मैने ऊपर जो शतपथब्राह्मण का वाक्य लिखा है, वह अभी तक यूरोपियन लोगो के ध्यान मे नही आया है। कृत्तिकाएँ वर्ष मे कम से कम १०, ११ मास दिखाई देती है। उनका उदय जब पूर्व में होता है उस समय उदयकाल में वे पृथ्वी के प्रत्येक भाग पर पूर्व में ही दिखाई देती है। इसमे कोई बात शकास्पद नहीं है। ठीक पूर्व जानने मे यदि एक अश की त्रुटि हुई तो निर्णीत समय मे लगभग २०० वर्षों का अन्तर पड जायगा। इससे अधिक अशुद्धि होने की सम्भावना नही है। सारांश यह कि कृत्तिकाओ का पूर्व

१. सम्पातगति प्रतिवर्ष ५० विकला मानने से ७२ वर्षों में १ अंश होती है।
२. बर्जेसकृत सूर्यसिद्धान्त का अनुवाद देखिए।
३. Indian Antiquary XXIV.
सन् १९८५ के अप्रैल का अंक देखिए।

मे उदय होना ही कृत्तिकादि गणना का हेतु है और इस परिस्थिति का काल शकपूर्व लगभग ३००० वर्ष निर्विवाद सिद्ध है।

वेदकाल

तैत्तिरीयसहिता शतपथब्राह्मण से प्राचीन होनी चाहिए। उसमे नक्षत्रो का आरम्भ कृत्तिका से है, अत उसके भी उस भाग का रचनाकाल यही अथवा इससे सौ दो सौ वर्ष पूर्व होगा। शतपथब्राह्मण का उपर्युक्त वाक्य प्रत्यक्ष ही है, अत. वह भी इतना ही प्राचीन अथवा इससे १००, २०० वर्ष नवीन होगा। सामान्यत. यह कथन असङ्गत न होगा कि वेदो की जिन-जिन सहिताओ और ब्राह्मणो मे नक्षत्रारम्भ कृत्तिका से है उनके तत्तद् भागो का रचनाकाल शक पूर्व लगभग ३००० वर्ष अथवा उसके १००-२०० वर्ष आगे या पीछे होगा। ऋग्वेदसहिता शतपथब्राह्मण से प्राचीन है। उसमे कृत्तिकादि नक्षत्र नही है, अत' उसका समय शकपूर्व ३००० वर्ष से प्राचीन है। वेदकाल का विशेष विचार आगे किया जायगा।

नक्षत्रपद्धति

कुछ यूरोपियन कहते है कि वेदो मे कथित नक्षत्रपद्धति का मूल भारतीयो का नही है। हम तो समझते है पृथ्वीतल पर एक भी ऐसी जाति नही है जिसमे नक्षत्रो के कुछ न कुछ नाम न हो और जिसे इस बात का ज्ञान न हो कि चन्द्रमा का नक्षत्रो से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। जंगली से जगली जातिया भी इसे जानती है।

चन्द्रमा रोहिणी को आच्छादित करता है। इसी आधार से उत्पन्न हुई एक कथा वेद मे है कि चन्द्रमा की रोहिणी पर अत्यन्त प्रीति है इत्यादि।[1] वेदो में बतलायी हुई नक्षत्रपद्धति मूलत भारतीयों की ही है। इस बात को सिद्ध करनेवाले अन्य प्रमाण न हों तो भी यह कथा इसे सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। जिन यूरोपियन लोगो का यह कथन है कि हिन्दुओं ने नक्षत्र चीन, बाबिलोन या अन्य किसी अज्ञात राष्ट्र से लिये है उनमे से कुछ के मत मे इसका समय ई० स० पूर्व ११०० से प्राचीन नही है। बेबर ने स्पष्ट नही बताया है परन्तु, उनके मत मे इसका समय ई० स० पूर्व २७८० से प्राचीन कदापि न होगा। ऊपर सिद्ध कर चुके है कि ईसा के ३००० वर्ष पूर्व भारतीयो को नक्षत्र-ज्ञान था और उससे भी प्राचीन ऋग्वेदसहिता मे नक्षत्रों के नाम है, अत. यह कहने का अवसर ही नही प्राप्त होता कि भारतीयो ने नक्षत्र दूसरों से लिये। निष्पक्षपात

1. तैत्तिरीयसंहिता २।३।५ ज्योतिर्विलास आ० २ पृ० ५५ (रजनीवल्लभ देखिए)

बुद्धि से विचार करनेवाले को मालूम होना चाहिए कि यदि चीनी लोगो ने नक्षत्रपद्धति की स्थापना स्वत की है तो भारतीय भी ऐसा कर सकते है।

चैत्रादिनाम

ऊपर चैत्रादि सज्ञाओ के विषय मे लिखा है कि वे वेदो मे कही नही मिलती। पर बाद मे कुछ ग्रन्थो मे मिली।

शतपथब्राह्मण मे लिखा है—

योऽसौ वैशाखस्यामावास्या तस्यामादधीत...
...आत्मन्येवैतत् प्रजायां पशुषु प्रतितिष्ठति'

शतपथ ब्राह्मण ११।१।१।७

शतपथब्राह्मण मे १४ काण्ड है। आरम्भ के १० काण्डो को पूर्वशतपथ और शेष चार को उत्तरशतपथ कहते है। पूर्वशतपथ मे ६६ और उत्तर मे ३४ अध्याय है। उपर्युक्त वाक्य ११वे काण्ड मे है। इसके पूर्व

तस्मान्न नक्षत्र आदधीत'

शतपथब्राह्मण ११।१।१।३

मे कहा है कि नक्षत्र मे आधान नही करना चाहिए। परन्तु पूर्वशतपथ मे नक्षत्र मे ही आधान करना कहा है। एकादश काण्ड मे वेदान्त नामक वेदभाग का जिसमें कि उपनिषद् होते है दो-तीन जगह उल्लेख है। चतुर्दश काण्ड तो वेदान्तप्रतिपादक ही है। वह बृहदारण्यक नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध है। इससे यह बात सहज ही सिद्ध होती है कि शतपथब्राह्मण का उत्तरभाग पूर्वभाग से नवीन है। यह कथन भी असगत न होगा कि चैत्रादि संज्ञाओं का प्रचार ब्राह्मणकाल के बिलकुल उत्तरभाग मे हुआ। उसके पूर्व नही था।

कौषीतकी (साख्यायन) ब्राह्मण मे लिखा है—

'तैषस्यामावास्याया एकाह उपरिष्टाद्दीक्षेरन् माघस्य वेत्याहु:

कौ० ब्रा० १९।२।३

यहां तैष (पौष) और माघ नाम आये हैं। इसी के आगेवाले वाक्य में कहा है कि माघ के आरम्भ मे उत्तरायण होता है, अत कौषीतकी ब्राह्मण के इस भाग का रचनाकाल वेदाङ्गज्योतिष इतना ही अर्थात् शकपूर्व लगभग १५०० वर्ष है।

पञ्चविंश ब्राह्मण मे लिखा है—

'मुखं वा एतत् संवत्सरस्य यत् फाल्गुन'

पञ्चविंशब्राह्मण ५।६।६।

इस वाक्य में फाल्गुन शब्द आया है।

साराश यह कि वेद की सहिताओ मे चैत्रादि नाम बिलकुल नही है। ब्राह्मणो मे भी बहुत कम है। अतः उपर्युक्त कथनानुसार उनका प्रचार ब्राह्मणकाल के अन्त मे हुआ होगा।

चैत्रादि संज्ञाओं का प्रचारकाल

आर्तव सौरवर्ष की अपेक्षा नाक्षत्र सौरवर्ष लगभग ५० पल बडा होता है। ऋतु आर्तव सौरवर्ष पर अवलम्बित है। सूर्य सम्पात मे रहने पर आज जो ऋतु होगी वही सहस्रो वर्ष बाद भी होगी, परन्तु नाक्षत्र सौरवर्ष की स्थिति ऐसी नही है। किसी नक्षत्र मे सूर्य के स्थित रहने पर आज जो ऋतु है वही उस नक्षत्र मे प्रत्येक बार सूर्य के आने पर नही होगी, अपितु लगभग ४३०० वर्षो मे दो मास (एक ऋतु) का और २००० वर्षो मे एक मास का अन्तर पड जायगा[1], अर्थात् अश्विनी नक्षत्र मे सूर्य के रहने पर एक बार यदि वसन्त हुआ तो सवा चार सहस्र वर्षो के बाद ग्रीष्म और ८½ सहस्र वर्षो के बाद वर्षा ऋतु होगी। सूर्य को अश्विनी से आरम्भ कर पुन अश्विनी तक आने मे जो समय लगता है उसे नाक्षत्र सौरवर्ष कहते है। सूर्य जब अश्विनी मे रहता है उस समय चन्द्रमा पूर्णिमा के दिन लगभग चित्रा मे रहता है और उस चान्द्रमास को चैत्र कहते है। नक्षत्र के सम्बन्ध से जिसे चैत्र कहते है उसमे यदि एक बार वसन्त ऋतु आयी तो सवा चार सहस्र वर्षो के बाद ग्रीष्म ऋतु होने लगेगी। साराश यह कि वसन्तारम्भ एक बार चैत्र मे होने के बाद लगभग २१५० वर्षो तक चैत्र ही मे होता रहेगा। तत्पश्चात् फाल्गुन मे होगा और उसके २१५० वर्षो बाद माघ मे आ जायेगा, अर्थात् चैत्र मे वसन्तारम्भ होने के सवा चार सहस्र वर्षो बाद ग्रीष्मारम्भ होने लगेगा। अत. सिद्ध हुआ कि लगभग २००० वर्षो तक ही चैत्र वसन्त का प्रथम मास रह सकेगा।

सभी ग्रन्थो मे चैत्र और वैशाख ही वसन्तमास माने गये है। यह पद्धति स्थापित होने के बहुत दिनो बाद ऋत्वारम्भ पीछे खिसक आया। इसी कारण कुछ ग्रन्थो मे मीन और मेष अर्थात् फाल्गुन और चैत्र को वसन्तमास माना है। आजकल कुछ

१. अयनचलन और सायन गणना का सविस्तर विवेचन द्वितीय भाग में किया जायगा। इस प्रकरण का विचार सम्पात की पूर्व प्रदक्षिणा मान कर किया गया है। इसे पूर्ण होने में लगभग २६००० वर्ष लगते है।

पञ्चाङ्गो मे ऋतुए इसी पद्धति के अनुसार लिखी जाती है। सम्प्रति वसन्त माघ और फाल्गुन मे होते हुए भी प्राय चैत्र और वैशाख ही वसन्तमास माने जाते है। इस पद्धति का प्राचीन काल से ही इतना प्राबल्य है कि चैत्र का ही नाम मधु पड गया। सचमुच मधु और माधव नाम नक्षत्र मासों के नही है बल्कि इनका सम्बन्ध ऋतुओ से है। वसन्त का आरम्भ मास मधु और द्वितीय मास माधव कहलाता है। कुछ दिनो तक वसन्तारम्भ चैत्र मे होता था। उसी समय से चैत्र को ही मधु कहने लगे। जब वसन्तारम्भ चैत्र मे पीछे खिसका उस समय कुछ ग्रन्थों मे फाल्गुन और चैत्र वासन्तिक मास लिखे गये। किसी भी ग्रन्थकार ने वैशाख और ज्येष्ठ को वसन्तमास तथा चैत्र को शिशिरमास नही लिखा है। इन सब बातो का विचार करने से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि चैत्रादि सज्ञाए उस समय प्रचलित हुई जब कि वसन्तारम्भ चैत्र मे होता था। अतः उसका प्रवृत्तिकाल निश्चित किया जा सकता है। वह इस प्रकार—

वसन्तसम्पात मे सूर्य के आने के लगभग १ मास पूर्व अर्थात् सायनसूर्य का भोग ११ राशि होने पर वसन्तारम्भ होता है। उस समय चित्रा नक्षत्र का सायनभोग सूर्य से ६ राशि अधिक अर्थात् ५ राशि होने से निरयण[1] चैत्र मास होगा। चित्रा का सायन-भोग सन् १८५० मे ६ राशि २१ अंश था, अर्थात् ५१ अश बढ गया था अत सिद्ध हुआ कि ई० स० पूर्व (५१×७२–१८५०=) १८२२[2] के लगभग चैत्र मे वसन्तारम्भ होने लगा था। अनुमानत. चैत्रादि संज्ञाएं उसी समय प्रचलित हुई होगी। किसी प्रान्त मे वसन्तारम्भ देर से होता है और कही जल्दी। देरवाले पक्ष मे उपर्युक्त समय थोडा आगे चला आवेगा। किसी-किसी प्रान्त मे वसन्त सम्पात में सूर्य आने के लगभग १।। मास पूर्व वसन्तारम्भ होता है। इससे पहिले प्राय नहीं होता। १।। मास पूर्व मानने से चैत्रादि संज्ञाओं का प्रवृत्ति काल ई० पू० २६०० होगा।

वसन्तारम्भकाल निःसंशय नही है और जिन नक्षत्रों के नाम पर मासों के नाम पडे हैं उनके भोगों में सर्वत्र समान अन्तर नही है। और भी कुछ ऐसी बातें है जिनसे उपर्युक्त काल के विषय मे सशय होता है, पर सभी सन्देहात्मक विषयो का विचार करने से भी प्रवृत्तिकाल अधिकाधिक शकपूर्व ४००० वर्ष सिद्ध होगा। इससे प्राचीन होना सर्वथा असम्भव है। वेदाङ्ग ज्योतिष में चैत्रादि नाम हैं और उसका समय शकपूर्व

१. साम्पातिक या सायन सौरवर्ष के मासों को सायनमास तथा नक्षत्र सौरवर्ष के मासों को निरयनमास कहने में कोई आपत्ति नही है अतः सुभीते के लिए यहाँ इन्हीं नामों का प्रयोग किया है।

२. सम्पातगति प्रतिवर्ष ५० विकला मानने से ७२ वर्षों में १ अंश होती है।

लगभग १४०० वर्ष है। तैत्तिरीयसंहिता मे ये नाम नही है और ऊपर यह सिद्ध कर चुके है कि उसका कुछ भाग शकपूर्व ३००० वर्ष के आसपास बना है। तैत्तिरीयसंहिता की यज्ञ-क्रिया तथा ऋतु और मासादि कालावयवो का विचार करने से स्पष्ट विदित होता है कि यदि उस समय चैत्रादिक संज्ञाओ का प्रचार होता तो उनका वर्णन इस संहिता मे अवश्य होता। अत. यह कथन असगत न होगा कि शकपूर्व ३००० वर्ष के पहिले चैत्रादि नामो का प्रचार नही था। ऐसे बहुत से (कम से कम चार) बडे-बडे ब्राह्मण ग्रन्थ है जिनमे चैत्रादि संज्ञाए नही मिलती और यह भी स्पष्ट है कि वे तैत्तिरीय-संहिता से नवीन है। अत मुझे इनका प्रवृत्तिकाल सामान्यत शकपूर्व २००० वर्ष उचित मालूम होता है। कौषीतकी, शतपथ और पञ्चविंश ब्राह्मणो के जिन भागो मे चैत्रादि संज्ञाओं का उल्लेख है उनका रचनाकाल शकपूर्व २००० और १५०० के मध्य मे है।

वर्षारम्भ

ऋग्वेदसंहिता मे प्रत्यक्ष कही नही बतलाया है कि प्रथम ऋतु अमुक है और इस बात का ज्ञापक वचन भी उसमे कही नही मिलता। ऋतुवाचक शरद्, हेमन्त और वसन्त शब्द अनेको जगह संवत्सर अर्थ मे आये है, अत यह कह सकते है कि ऋग्वेद संहिताकाल मे इन ऋतुओ मे वर्षारम्भ होता था। ग्रीष्म, वर्षा और शिशिर शब्द संवत्सर अर्थ मे प्राय. कही भी नही आये है।

पहिले पृष्ठ मे बता चुके है कि यजुर्वेदसंहिताकाल मे और तदनुसार सामान्यत आगे के भी सभी वैदिक समयो मे वर्ष का आरम्भ वसन्तऋतु और मधुमास मे होता था। अन्य ऋतुओ मे होने का प्रत्यक्ष प्रमाण तो वेदो मे नही ही है, पर मेरे मत में उत्त-रायण के साथ वर्षारम्भ होने का सूचक भी कोई वाक्य नही है। प्रो० तिलक इत्यादिको का मत है कि वर्ष का आरम्भ उत्तरायण के साथ होता था। उनके मत का विचार आगे किया है। वेदाङ्गज्योतिष मे भी उत्तरायणारम्भ ही मे बताया है, पर महाभारत और सूत्रादिको मे प्रथम ऋतु वसन्त मानी है और चैत्र तथा वैशाख वसन्त के मास बतलाये गये है। अत वैदिक काल के बाद दोनो पद्धतियो का प्रचार रहा होगा और वसन्तारम्भ मे वर्षारम्भ माननेवाली पद्धति का प्राधान्य रहा होगा, क्योकि वेदाङ्ग-ज्योतिष के अतिरिक्त अन्य किसी भी ग्रन्थ मे उत्तरायण मे वर्षारम्भ होने का उल्लेख नही है। ज्योतिष के भी सभी सिद्धान्त ग्रन्थो मे चैत्र ही मे माना गया है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि उन ग्रन्थो की रचना के पूर्व जो पद्धति प्रचलित थी, वह ग्रन्थकारों को बाध्य होकर स्वीकार करनी पडी।

ऊपर पृष्ठ मे बतला चुके है कि महाभारत मे दो जगह मासो का आरम्भ मार्ग-शीर्ष से किया है। महमूद गजनवी के साथ अलबेरूनी नाम का एक यात्री आया था। उसने लिखा है कि सिन्ध इत्यादि प्रान्तो मे वर्षारम्भ मार्गशीर्ष से होता है।[१] इससे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि कुछ समय तक किसी-किसी प्रान्त मे मार्ग-शीर्ष ही मे वर्षारम्भ माना जाता था। इस बात का यहा थोडा विचार करेगे।

शकपूर्व ३००० के लगभग कृत्तिकादि गणना प्रचलित हुई। मालूम होता है उसके कुछ दिनों बाद किसी-किसी प्रान्त मे मार्गशीर्ष को वर्ष का प्रथम मास मानने लगे। मृगनक्षत्र का नाम आग्रहायणी है। जिसके (जिस नक्षत्र की रात्रि के) अग्रभाग मे हायन अर्थात् वर्ष हो उसे आग्रहायणी कहते है। 'वेद मे पूर्वाफाल्गुनी सवत्सर की अन्तिम रात्रि है और उत्तरा-फाल्गुनी प्रथम रात्रि है' इस अर्थ के सूचक वाक्य पाये जाते है।[२] बस यही स्थिति आग्रहायणी की है। वेदकाल मे मास चान्द्र होने के कारण वर्षारम्भ चान्द्रमास के आरम्भ मे होता था, अत यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त वाक्य मे पूर्वाफाल्गुनी चान्द्रमास का अन्तिम नक्षत्र है और उत्तराफाल्गुनी उसके आगेवाले मास का प्रथम नक्षत्र है। ये दोनो दैनन्दिन (चन्द्रमा सम्बन्धी) नक्षत्र है। मास के अन्त मे जिस दिन चन्द्रमा मृगशीर्ष नक्षत्र मे आता था उसके दूसरे दिन वर्षारम्भ होने के कारण उस नक्षत्र का नाम आग्रहायणी पडा होगा और यह पद्धति उस समय प्रचलित रही होगी जब कि मृगशीर्ष प्रथम नक्षत्र माना जाता था। इसी प्रकार जब प्रथम नक्षत्र कृत्तिका रही होगी उस समय जिस दिन चन्द्रमा कृत्तिका मे आता रहा होगा उसके दूसरे दिन मार्गशीर्ष मे वर्षारम्भ होता रहा होगा। इस प्रकार यह मास पूर्णिमान्त सिद्ध होता है। कृत्तिका नक्षत्र मे चन्द्रमा के पूर्ण हो जाने पर दूसरे दिन जो पूर्णिमान्त मास आरम्भ होता है, उसे आजकल मार्गशीर्ष कहते है। यही पद्धति उस समय भी रही होगी। जैसे एक समय वर्षारम्भ कृत्तिकायुक्त पूर्णिमा के दूसरे दिन होता था उसी प्रकार उसके पहिले किसी समय मृगशीर्षयुक्त पूर्णिमा के दूसरे दिन भी होता रहा होगा। यहा यह प्रश्न हो सकता है कि मृगशीर्षयुक्त पूर्णिमा के दूसरे दिन जो मास आरम्भ होगा उसे आजकल की पद्धति के अनुसार पौष कहना चाहिए, परन्तु पौष मे वर्षारम्भ होने के प्रमाण कही नही मिलता, इसका कारण क्या है? इसका उत्तर यह है कि कृत्तिका के पहिले प्रथम नक्षत्र मृगशीर्ष होने का कारण मृगशीर्ष में वसन्तसम्पात होने के अतिरिक्त कोई अन्य नही दिखाई देता। शक के लगभग ४००० वर्ष पूर्व मृगशीर्ष में वसन्तसम्पात था। उस समय

१. Alberuni India vol. II p. 8.

२. ये वाक्य आगे लिखे हैं। (तै० ब्रा० १।१।२)।

मासो के नक्षत्रप्रयुक्त नाम ही नही पडे थे। इस कारण नक्षत्र का नाम तो आग्रहायण या आग्रहायणी पड गया परन्तु पौष मे वर्षारम्भ नही बतलाया गया। कभी-कभी यह भी कल्पना होती है कि कदाचित कृत्तिकायुक्त पूर्णिमा के दूसरे दिन प्रारम्भ होनेवाले मास को कार्तिक और मृगशीर्षयुक्त पूर्णिमा के दूसरे दिन आरम्भ होने वाले मास को मार्गशीर्ष कहते रहे हो, परन्तु सम्प्रति यह पद्धति प्रचलित नही है और प्राचीन काल मे भी इसका प्रचार सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नही मिलता। पूर्णिमा पूर्णिमान्तमास या शुक्लपक्ष की अन्तिम तिथि मानी जाती है, पर उसे उत्तरमास या उत्तरपक्ष की तिथि नही कहते। यह बात अनेक वैदिक प्रमाणो द्वारा सिद्ध होती है और सम्प्रति प्रचार भी ऐसा ही है। अत पाणिनि के ४।२।२१ सूत्र 'सास्मिन्पौर्णमासीति सञ्ज्ञायाम्' द्वारा भी यही परिभाषा सिद्ध होती है कि जिस मास मे पूर्णिमा कृत्तिका युक्त हो वह कार्तिक है और उसके दूसरे दिन आरम्भ होनेवाले मास की पूर्णिमा मृगशीर्षयुक्त होती है, इसलिए वह मार्गशीर्ष है। साराश यह कि कृत्तिकादि गणना आरम्भ होने के बाद अर्थात् शकपूर्व ३००० वर्ष के पश्चात् कुछ प्रान्तो मे वर्षारम्भ मार्गशीर्ष मे माना जाने लगा।

प्रो० तिलक का कथन यह है कि (Orion ch IV.) मार्गशीर्ष का नाम आग्रहायणिक इसलिए नही है कि वह वर्ष का आरम्भ है, बल्कि अग्रहायण नक्षत्र के नाम पर उसका यह नाम पडा है। अग्रहायण के अर्थ के विषय मे वे लिखते है कि 'जिसके आगे वर्षारम्भ होता है अर्थात् सूर्य जिस नक्षत्र मे आने मे सम्पात मे रहता है और वर्ष का आरम्भ होता है उसे अग्रहायण कहते है।' इस अर्थ मे मेरा कोई विरोध नही, पर वे कहते है कि मार्गशीर्ष में वर्षारम्भ करने का प्रचार नही था और मार्गशीर्ष पूर्णिमा के दूसरे दिन वर्ष का आरम्भ नही होता था। स्पष्टतया यो न भी कहे, पर उनके प्रतिपादन मे ये बाते गर्भित अवश्य है। इन दोनो बातो को न मानने से भी उपर्युक्त अर्थ बाधित नही होता। मार्गशीर्ष को वर्षारम्भ मास मानने के विषय मे प्रत्यक्ष प्रमाण मिलते है, अत इसे अमान्य नही कर सकते। मृगशीर्षयुक्त पूर्णिमा के दूसरे दिन वर्षारम्भ होना भी असम्भव नही है। ऊपर सिद्ध कर चुके है कि पहिले ऐसा होता था।

मृगशीर्षादि गणना

अमरकोष मे आग्रहायणी नाम मृगशीर्ष नक्षत्र का है। पाणिनीय मे भी यह शब्द तीन जगह (४।२।२२, ४।३।५०, ५।४।११०) आया है। उसमे आग्रहायणी शब्द द्वारा मार्गशीर्ष का आग्रहायणिक नाम सिद्ध किया है (४।२।२२)। वैयाकरण प्राय. आग्रहायणी का अर्थ मार्गशीर्षी पौर्णमासी करते है। इस अर्थ मे भी आग्रहायणिक नाम मार्गशीर्ण का ही होता है। इस प्रकार आग्रहायणी पूर्णिमा में मृगशीर्ष नक्षत्र अपने आप

सिद्ध हो जाता है। दूसरी बात यह जिसके कि दूसरे दिन वर्षारम्भ होता है उसे सर्वदा से आग्रहायणी कहते आ रहे है। अत यह निर्विवाद सिद्ध है कि मार्गशीर्ष की पूर्णिमा मे आग्रहायणी (मृगशीर्ष) नक्षत्र आने पर उसके दूसरे दिन वर्षारम्भ मानने की पद्धति थी। ऊपर बता चुके है कि आधुनिक ज्योतिष पद्धति और पाणिनीय पद्धति दोनो से उस वर्ष के प्रथम मास का नाम पौष होना चाहिए। यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि शकपूर्व ३००० वर्ष के बाद मार्गशीर्ष मे वर्षारम्भ होने लगा था, अत यह मानना ही पडता है कि पौष मे वर्षारम्भ होने की पद्धति उससे प्राचीन होनी चाहिए। उस समय विषुववृत्त पर मृगशीर्ष नक्षत्र होना असम्भव है। शकपूर्व ४००० मे वसन्तसम्पात मृगशीर्ष मे था। मृगशीर्षादि गणना का इसके अतिरिक्त अन्य कोई कारण नही दिखाई देता।

लोकमान्य बाल गगाधर तिलक ने सन् १८९३ मे इगलिश मे ओरायन (Orion) नाम का एक ग्रन्थ लिखा है। उसमे उन्होने ऋग्वेदसहिता के अनेक प्रमाणो द्वारा विशेषत: १।१६३।३ ऋचा और १०।८६ सूक्त द्वारा सिद्ध किया है कि उस समय वसन्तसम्पात मृगशीर्ष मे था और यह भी दिखलाया है कि इस बात को स्वीकार करने से भारत, ईरान और ग्रीस इत्यादि देशों की अनेक पौराणिक तथा अन्यान्य कथाओ का अर्थ ठीक लगता है। इस मृगादि गणना द्वारा ऋग्वेदसहिता के कुछ सूक्तो का रचना-काल शकपूर्व ४००० वर्ष सिद्ध होता है। मृगशीर्ष के आग्रहायणी नाम से भी यही बात सिद्ध होती है।

श्री तिलक ने यह भी लिखा है कि 'पुनर्वसु मे सम्पात रहा होगा, ऐसा वेद से ज्ञात होता है।' इस बात को सिद्ध करने के लिए मृगशीर्ष सरीखे स्पष्ट और अधिक प्रमाण तो नही है, परन्तु यह असम्भव भी नही है। गणित द्वारा पुनर्वसु मे सम्पात होने का समय शकपूर्व ६००० वर्ष आता है। ऋग्वेद के कुछ सूक्त इस समय के हो सकते हैं।

संवत्सरसत्र का अनुवाक ऊपर पृष्ठो मे लिखा है। उसके आधार पर प्रो० तिलक ने लिखा है कि "फल्गुनी पूर्णमासी और चित्रा पूर्णमासी मे उत्तरायण होता था। ये दोनो समय क्रमश मृग और पुनर्वसु मे वसन्तसम्पात होने के समय से मिलते है।" वस्तुत ऋतुसहिताकाल में मृगशीर्ष मे वसन्त सम्पात होना स्वतन्त्र रूप से सिद्ध होता है। उसे सिद्ध करने के लिए पूर्वोक्त अनुवाक का यह अर्थ करने की कोई आवश्यकता नही है कि फाल्गुन मे उत्तरायण होता था। ऐसा अर्थ करने मे अड़चने भी है। पहिली बात तो यह है कि उसमे स्पष्टतया फाल्गुन में उत्तरायण होने का उल्लेख बिलकुल नही है। दूसरे फल्गुनी पूर्णमास को सवत्सर का मुख कहा है। तैत्तिरीय श्रुति मे भी इस प्रकार के निम्नलिखित वाक्य आये है।

"वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत। वसन्तो वै ब्राह्मस्यर्तुः। मुख वा एतदृतू-

नाम् ॥६६॥ यद्वसन्त.। यो वसन्तेऽग्निमाधत्ते। मुख्य एव भवति। .
न पूर्वयो फल्गुन्योराग्निमादधीत। एव वै जघन्या रात्रि सवत्सरस्य।
यत् पूर्वे फल्गुनी। .उत्तरयोरादधीत। एषा वै प्रथमा रात्रि· सवत्सरस्य।
यदुत्तरे फल्गुनी। मुखत एव सवत्सरस्याग्निमाधाय। वसीयान्
भवति। ..॥८॥" तै० ब्रा० १।१।२

यहा फल्गुनी शब्द से फल्गुनी नक्षत्र युक्त पूर्णमासी का ग्रहण करना है। जैसे आजकल फाल्गुनी पूर्णिमा के अन्त मे पूर्णिमान्त मान का फाल्गुन समाप्त हो जाता है और उसके बाद चैत्र लगता है, उसी प्रकार उपर्युक्त वाक्य मे पूर्वफ़ल्गुनी युक्त पूर्णिमा को वर्ष का अन्तिम दिन और उसके आगेवाली रात्रि को वर्ष का मुख बताया है। वर्ष का मुख होने के कारण उसमे आधान करने के लिए कहा है और ऋतुओ का मुख वसन्त होने के कारण पूर्व वाक्य मे वसन्त मे आधान करने के लिए कहा है। ये वाक्य एक ही अनुवाक मे है। अत इनमे एकवाक्यता अवश्य होनी चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि फल्गुनी पूर्णमास का सम्बन्ध वसन्त से है।

सवत्सरसत्र के विषय मे आश्वलायन श्रौतसूत्र (१।२।१४।३) मे कहा है —

"अत ऊर्ध्वमिष्टच्यनानि सावत्सरिकाणि तेषा।
फाल्गुन्या पौर्णमास्या चैत्र्या वा प्रयोग"

और आश्वलायन सूत्र मे फाल्गुन और चैत्र महीनो का सम्बन्ध शिशिर और वसन्त से दिखलाया है। इनमे उत्तरायणारम्भ मानने से उस समय हेमन्त ऋतु आ जायगी परन्तु आश्वलायन सूत्र मे फाल्गुन का सम्बन्ध हेमन्त ऋतु से कही नही मिलता। कुछ प्रान्तो मे सम्पात मे सूय आने के लगभग २ मास पूर्व वसन्तारम्भ होता है। ऐसा मानने से सिद्ध होता है कि ईसा के लगभग ४००० वर्ष पूर्व चित्रापूर्णमास मे वसन्तारम्भ होने लगा था। लगभग २००० वर्षो तक वसन्तारम्भ एक ही मास मे होता रहता है, अत ई० पू० २००० के लगभग फल्गुनीपूर्णमास के साथ वसन्तारम्भ और सवत्सरारम्भ मानने का विचार स्वभावत उत्पन्न होता है और इस रीति मे किसी प्रकार की असम्बद्धता भी नही दिखाई देती। सवत्सर के मध्यभाग मे विषुवान् दिवस आता था परन्तु उसका अर्थ यह नही मालूम होता कि उस दिन, दिन और रात्रि के मान तुल्य ही होने चाहिए। पूर्णिमा के दिन सवत्सरसत्र आरम्भ करने के लिए कहा है। यदि उसके मध्य मे ऐसा विषुवान् दिन आता है जिसके दिन और रात्रि समान है तो सत्र का आरम्भ भी उसी अर्थ के विषुवान् दिन मे या उससे एक दो दिन आगे या पीछे होना चाहिए। परन्तु ऐसा करने से सत्रारम्भ सर्वदा पूर्णिमा मे ही नही हो सकेगा क्योकि यदि इस वर्ष पूर्णिमा के दिन, दिन और रात्रि समान है तो अग्रिम वर्ष मे पूर्णिमा के ११

दिग बाद और उसके आगेवाले वर्ष मे २२ दिनो बाद ऐसा होगा। अत सवत्सरसत्र सम्बन्धी विषुवान् दिवस का अर्थ, कम से कम तैत्तिरीयसहिता के विषुवान् दिवस का अर्थ, 'सवत्सरसत्र या किसी भी सत्र का मध्यदिन' इतना ही था। बाद मे जिस दिन दिनरात्रि-मान समान होते है उसे विषुव दिवस कहने लगे होगे और तदनुसार सवत्सर-सत्र का आरम्भ भी होने लगा होगा। इसलिए वेदाङ्गज्योतिष मे विषुवदिन लाने की रीति बतायी है। लो० तिलक के कथनानुसार भी ३० घटिकात्मक दिनमान का विषुवदिन सवत्सरसत्र के मध्यभाग मे नही बल्कि तृतीय और नवम मासो के अन्त मे आता है। ऐसी शका हो ही नही सकती कि 'सवत्सरारम्भ सम्बन्धी तैत्तिरीयसहितोक्त अनुवाक के रचनाकाल मे फाल्गुन मे ऐसा विषुवान दिन आता रहा होगा जिसके दिनरात्रि-मान समान हो।' ऊपर यह बात लिख चुके है।

वैदिककाल की मर्यादा

अब तक जो विवेचन किया गया है उससे वैदिककाल की उत्तरमर्यादा स्थूलरूप मे निश्चित की जा सकती है। पूर्वमर्यादा का निश्चय कौन करे ! उसके विषय मे इतना कह सकते ह कि वह शक पूर्व ६००० वर्ष से नवीन नही हे। श० पू० ६००० के पहले वेद मन्त्र किस समय प्रकट हुए, यह कोई भी नही बता सकता अर्थात् एक प्रकार से वह काल आनादि है। वैदिक काल की उत्तर अवधि शकपूर्व लगभग १५०० वर्ष है। इसके बाद वेदाङ्गकाल का आरम्भ होता है। सब वेदो की सहितायें, ब्राह्मण और कुछ उपनिषद् वैदिककाल के है। कुछ उपनिषद् वेदाङ्गकाल मे भी बने होगे, पर वैदिककाल की उत्तरसीमा उपर्युक्त ही है। ऋक्संहिता के कुछ भाग का रचनाकाल लगभग शकपूर्व ४००० वर्ष है। तैत्तिरीयसहिता के कुछ भाग का रचनाकाल शकपूर्व ३००० वर्ष है। ब्राह्मण शकपूर्व ३००० से १५०० पर्यन्त बने है। उनके जिन भागो मे चैत्रादि संज्ञाएँ है वे शकपूर्व २००० के बाद की और शेष उससे पहले की है। उपनिषदो के विषय मे निश्चयपूर्वक कुछ कहते नही बनता, परन्तु बहुत से उपनिषद् ग्रन्थ शकपूर्व २००० और १५०० के मध्य के है। सहिताओ और ब्राह्मणो के सब मन्त्र एकत्र हो कर आज जिस रूप मे दृष्टिगोचर हो रहे है उनकी वैसी पूर्ण रचना उपर्युक्त काल मे नही हुई होगी तथापि यह स्वरूप शकपूर्व १५०० से प्राचीन है।

वेदकाल के विषय मे प्रो० मैक्समूलर का मत यह है कि "ई० पू० ४७७ मे बुद्ध को निर्वाण-प्राप्ति हुई। उसके पूर्व लगभग १०० वर्षों में बुद्धधर्म का उदय हुआ। ई० पू० ६०० के पहिले वैदिक ग्रन्थों की रचना पूर्ण हो चुकी थी। सूत्रकाल, ब्राह्मणकाल और मन्त्रकाल उसके तीन भेद ज्ञात होते हैं। ई० पू० ६०० से ई० पू० ८०० पर्यन्त

सूत्रकाल और ई० पू० ८०० से १००० पर्यन्त ब्राह्मणकाल है। इसके पूर्व ऋग्वेद के सब मण्डलो का सग्रह हो चुका था। इसका कोई निर्णय नही कर सकता कि ऋग्वेदसूत्रो की प्रत्यक्ष रचना ई० पू० १००० मे हुई या १५०० मे या २००० मे या ३००० मे अथवा किसी अन्य समय मे हुई।"[1] मैक्समूलर का यह मत बहुत से यूरोपियन विद्वानो को मान्य है। ये अनुमान केवल इतिहास और भाषाशास्त्र के आधार पर किये गये है। इस मत मे यह भी विदित होता ही है कि ऋग्वेद की प्राचीनता का निर्णय नही किया जा सकना। सूत्रादि तीन कालो के मध्य मे दो-दो-सौ वर्ष का अन्तर भी बहुत थोडा है। इन दोनो बातो का विचार करने से गणित द्वारा निश्चित की हुई वैदिक काल की उपर्युक्त मर्यादा ही ठीक मालूम होती है।

वेदाङ्गकालमर्यादा

शकपूर्व १५०० वर्ष वेदाङ्गकाल की पूर्वसीमा है। सात वार और मेषादि राशियो का विचार करने से उसकी उत्तरसीमा निश्चित हो सकती है। सात वार और मेषादि राशिया वेदो मे नही है। शेष जिन ग्रन्थो का विचार इस भाग मे किया गया है उनमे से अथर्वज्योतिष और याज्ञवल्क्यस्मृति के अतिरिक्त, वार किसी मे भी नही है। मेषादि राशिया बौधायन सूत्र के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रन्थ मे नही है।

सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थो मे इन दोनो का अस्तित्व स्पष्ट ही है। यदि ये दोनो बाते मूलत हमारी ही हो तो यह निर्विवाद सिद्ध है कि ये वैदिककाल की नही है।

सात वारो के क्रम की उत्पत्ति इस प्रकार है —

ग्रह पृथ्वी के चारो ओर घूमते है। सबसे ऊपर शनि और उसके नीचे क्रमश. गुरु, मगल, सूर्य, शुक्र, बुध और चन्द्रमा है। अहोरात्र के होरा नामक २४ विभाग माने है। ये सातो ग्रह क्रमश उनके अधिप है। अहोरात्र मे इनकी तीन आवृत्ति समाप्त हो जाने के बाद ३ होराए बच जाती है। इस प्रकार चतुर्थ ग्रह द्वितीय दिन की प्रथम होरा का स्वामी होता है। प्रथम दिन प्रथम होरा का स्वामी यदि शनि है तो द्वितीय दिन प्रथम होरा का स्वामी रवि और तृतीय दिन चन्द्रमा होता है। दिन की प्रथम होरा का स्वामी ही उस वार का स्वामी माना जाता है। इस प्रकार शनि, रवि, चन्द्र, मगल, बुध, गुरु और शुक्र क्रमश. वार होते है अर्थात् पृथ्वी के चारो ओर घूमनेवाले ग्रह मे सबसे ऊपर का ग्रह वाराधिप होने के बाद उसके नीचे का चतुर्थ ग्रह वाराधिप होता है। इसी प्रकार आगे भी चतुर्थ ग्रह वाराधिप हुआ करते है। इसके विषय मे सूर्यसिद्धान्त मे लिखा है.—

१. Physical Religion, pp. 91–96 (सन् १८६१ ई०)।

मन्दादधः क्रमेण स्युश्चतुर्था दिवसाधिपाः ।।७८।।
होरेशाः सूर्यतनयादधोऽधः क्रमशस्तथा ।।७९।।

भूगोलाध्याय।

प्रथम आर्यभट ने भी ऐसा ही लिखा है—
शीघ्रक्रमात् चतुर्था दिनपाः'

कालक्रिया १६।

ज्योतिष ग्रन्थो मे दिन के होरात्मक २४ भाग मानने की पद्धति केवल वारोत्पत्ति और फलज्योतिष के सम्बन्ध मे है। होरा नामक कालमान ज्योतिष के सिद्धान्तग्रन्थो मे बतलाये हुए कालमानो मे नही है। वैदिककालीन तथा वेदाङ्गकालीन भी किसी ग्रन्थ मे नही हे। यह शब्द भी मूलत सस्कृत का नही है। इसकी व्युत्पत्ति के विषय मे वराहमिहिर ने लिखा है कि अहोरात्र शब्द के आदि और अन्त्य अक्षरो को छोड देने से होरा शब्द बना है, परन्तु इससे समाधान नही होता। खाल्डियन लोगो मे होरा नामक काल विभाग बहुत प्राचीन काल से प्रचलित था और मालूम होता है सात वार भी इसी प्रकार थे जैसे कि सम्प्रति हमारे यहा है। इन सब बातो का विचार करने से हमे ज्ञात होता है कि सात वार मूलतः हमारे नही है, बल्कि खाल्डियन लोगो द्वारा हमारे यहा आये है।

मेषादि नाम सस्कृत भाषा के है। वेदाङ्गज्योतिष और महाभारत के विवेचन मे बतला चुके है कि क्रान्तिवृत्त के १२ भागो के विषय मे निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि वे मूलत हमारे नही है। तारासमूहो की आकृति द्वारा उनका नाम रखने की कल्पना वेदों मे भी है, परन्तु ये नाम वैदिक काल के नही हैं। वेदाङ्गज्योतिष मे भी नही मिलते, अत. शकपूर्व १५०० वर्ष तक हमारे देश मे इनका प्रचार नही था। अन्य राष्ट्रो के इतिहास के आधार पर कोई-कोई कहते है कि ई० पू० २१६० के लगभग ईजिप्ट के लोगो को मेषादि राशियो का ज्ञान था। कोई-कोई ई० पू० ३२८५ का आसन्न-काल बतलाते है। किसी-किसी का मत है कि खाल्डियन लोगो को ई० पू० ३८०० के लगभग राशि और वार ज्ञात थे। ई० पू० १००० के पूर्व राशिपद्धति दोनो को मालूम थी, यह बात बिल्कुल निःसदेह है।[१] लेग ने निश्चयपूर्वक लिखा है कि खाल्डियन लोगो को ई० पू० ३८०० के पूर्व ही वारो का ज्ञान हो चुका था।

१. प्राक्टर, लाकियर का इंगलिश ग्रन्थ Ninteenth Century, जुलाई १८९२ का लाकियर का लेख पृ० ३४ और S. Laing's Human Origins, Chap. V. pp. 144–158. देखिए।

वेदाङ्गज्योतिष से ज्ञात होता है कि हमारे देश मे ये दोनो शकपूर्व १५०० वर्ष पर्यन्त बिलकुल नही थे।

पता नही, मेषादि नाम सर्व प्रथम तारापुजो की कुछ विशेष आकृतियो द्वारा पडे या किसी अन्य कारणवशात् । यह विषय वादग्रस्त है। हमारे देश मे चाहे ये बाहर से आये हो चाहे मूलत यही के हो, पर आकृतियो से इनका कोई सम्बन्ध नही दिखाई देता। अश्विनी, भरणी और कृत्तिका के कुछ तारो के सयोग से मेष (भेडे) की आकृति नही बनती। मेष प्रथम राशि है और उसका आरम्भ अश्विनी से होता है। जैसे अश्विन्यादि गणना प्रचलित होने के पूर्व कृत्तिकादि गणना प्रचलित थी उस प्रकार मेष के अतिरिक्त अन्य किसी राशि से राशिगणना करने और अश्विनी के अतिरिक्त अन्य किसी नक्षत्र से मेषारम्भ होने का प्रमाण कही नही मिलता। मेषादि नाम वेदाङ्गज्योतिष के पहले नही थे, यह बात बिलकुल नि सन्देह है। इससे सहज ही प्रतीत होता है कि मेषारम्भ और अश्विनी के आरम्भ मे वसन्तसम्पात आने के बाद इनका प्रचार हुआ है। सन् १८५० मे अश्विनी के बीटा एरिस नामक तारा का सायन योग ३१°।५३′ और आल्फा एरिस का ३५°।३४′ था अर्थात् प्रथम तारा का सम्पात तुल्य (शून्य) भोग ई० पू० (३१।५३ × ७२−१८५०) ४४६ मे था और दूसरे का ई० पू० (३५।३४ × ७२−१८५०) ७११ मे था। इसके पूर्व हमारे देश मे मेषादि संज्ञाओ का प्रचार होने की सभावना नही है। दोनो समयो का मध्यम मान ई० पू० ५७९ आता है।

दूसरी महत्व की बात यह है कि महाभारतोक्त श्रवणादि गणना का समय ई० पू० लगभग ४५० निश्चित किया है और महाभारत मे राशिया नही है। इससे सिद्ध होता है कि शकपूर्व लगभग ५०० वर्ष पर्यन्त हमारे देश मे मेषादि संज्ञाओ का प्रचार नही हुआ था। द्वितीय भाग मे दिखलाया है कि सूर्यसिद्धान्तादि कुछ सिद्धान्तग्रंथो मे, जो कि कम से कम ई० पू० २०० से नवीन नही है, मेषादि सज्ञाएँ है। यह भी नि सशय है कि ज्योतिष के कुछ सहिता ग्रन्थ इनसे भी प्राचीन है और उनमे ये सज्ञाएं है। इन सब बातो का विचार करने से सिद्ध होता है कि हमारे यहा मेषादि सज्ञाओ का प्रचार शकपूर्व ५०० के लगभग हुआ। वारो का प्रचार इससे भी लगभग ५०० वर्ष पूर्व हुआ होगा। पहिले भी बता चुके है कि वारपद्धति और मेषादि राशियो की कल्पना करना कोई विशेष महत्वशाली बात नही है। महत्व की बात है ग्रहो की स्पष्ट गतिस्थिति का आनयन।

साराश यह कि शकपूर्व ५००वा वर्ष वेदाङ्गकाल की उत्तर मर्यादा है।

किसी भी ग्रन्थ के रचनाकाल मे यदि वारो और मेषादि राशियो के नाम प्रचलित है तो उनका उल्लेख उसमे अवश्य रहेगा। अत. जिनमे ये दोनो नही है और चैत्रादि

सज्ञाए है वे सब ग्रथ वेदाङ्गकालीन है। ज्योतिष और धर्मशास्त्र ग्रन्थ इसी श्रेणी मे आते है अर्थात् कल्पसूत्रो और स्मृतिग्रन्थो की भी गणना इन्ही मे है। प्रथम भाग मे जिन ग्रन्थो का वर्णन किया गया है उनमे बौधायन सूत्र को छोडकर वेद के बाद के अन्य सभी ग्रन्थ वेदाङ्गकालीन है। उनमे से जिनमे वार नही है वे शकपूर्व १००० से भी प्राचीन होगे। भिन्न-भिन्न ग्रन्थो का कालनिर्णय उनका पृथक्-पृथक् विशेष विचार करके करना चाहिए। महाभारत की श्रवणादि गणना से ज्ञात होता है कि उसमे शकपूर्व ५०० पर्यन्त नयी-नयी बाते प्रक्षिप्त होती रही होगी। कदाचित् इसके बाद भी कुछ प्रक्षेपण हुआ होगा, परन्तु उसके कुछ भाग अत्यन्त प्राचीन है। ज्योतिष के विचार से मुझे उसमे बतलायी हुई ग्रहस्थिति पाण्डवो के समय की मालूम होती है।

वेदाङ्गकाल की उत्तरमर्यादा ही ज्योतिषसिद्धान्तकाल की पूर्वमर्यादा है।

स्पष्ट है कि वैदिककाल और वेदाङ्गकाल की मैने जो अवधिया निश्चित की है वे बिल्कुल सूक्ष्म नही है। प्राचीन ग्रन्थो का और प्राचीन इतिहास का अभी बहुत अन्वेषण बाकी है। उसके बाद इन अवधियो मे कुछ परिवर्तन होने की सम्भावना है परन्तु मेरा यह निश्चय है कि वेदकाल की उत्तर मर्यादा शकपूर्व १५०० से और वेदाङ्ग-काल की उत्तर मर्यादा शकपूर्व २०० वर्ष से अर्वाचीन नही हो सकती।

सायनवर्ष

अब तक के विवेचन द्वारा सहज ही ध्यान मे आ गया होगा कि बिल्कुल अन्त की कुछ शताब्दियो को छोडकर शेष सम्पूर्ण वैदिक काल मे वर्ष आर्तव (सायन) सौर माना जाता था। मास चान्द्र थे और अधिमास मानने की भी पद्धति थी। इससे चान्द्रमासो का ऋतुओ से मेल रखने का उद्देश्य स्पष्ट विदित होता है। ऋग्वेदसहिता मे शरद्, हेमन्त इत्यादि ऋतुवाचक शब्द ही सवत्सरवाचक भी है। इसमे विदित होता है कि ऋग्वेदसहिताकाल मे ऋतुओ का एक पर्यय समाप्त होने पर वर्ष की पूर्ति समझी जाती थी। शतपथब्राह्मण मे लिखा है —

'ऋतुभिर्हि सवत्सर शन्कोति स्थातुम'

श० ब्रा० ६।७।१।१८

अर्थात् ऋतुओ द्वारा सवत्सर खडा रह सकता है। सवत्सर शब्द की व्युत्पत्ति है 'सव-सन्ति ऋतुवो यत्र' अर्थात् जिसमे ऋतुएँ वास करती है। इससे स्पष्ट है कि ऋतुओ के एक पर्यय को ही सवत्सर मानते थे।

मधु और माधव सवत्सर के मास है। ये शब्द ऋतुदर्शक है अर्थात् इनका सम्बन्ध नक्षत्रो से नही है। यजुर्वेदसहिता तथा सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में इन मासो का महात्म्य

कितना अधिक है, यह इसी से ज्ञात हो जायगा कि उनमे ये देवता माने गये है। अरुणादि जो अन्य मास नाम प्रचलित थे उनका भी सम्बन्ध नक्षत्रो से नही बल्कि ऋतुओ सेहै। यह बात उन ग्रन्थो मे बतलाये हुए कुछ नामो से स्पष्ट हो जाती है। वैदिककाल मे प्राय. मधु इत्यादि मासो का ही प्रचार था। चैत्रादि मास उसके बिलकुल उत्तर भाग मे प्रचलित हुए है। चैत्रादि नाम नक्षत्रो द्वारा पडे है और इस प्रकार के मामो से सम्बन्ध रखनेवाला वर्ष नाक्षत्र वर्ष कहलाता है, इत्यादि बाते पहिले बता चुके है। इससे सिद्ध होता है कि नक्षत्रप्रयुक्त चैत्रादि मास प्रचार मे आने के समय ही अर्थात् शकपूर्व २००० के लगभग नाक्षत्र सौरवर्ष मे भी प्रचलित हुआ। उसके पूर्व सैकडो वर्ष तक मध्वादि नामो का ही व्यवहार होता था। अर्थात् वर्ष आर्तव (सायन) था। ऊपर बतला चुके है कि नक्षत्रो के नाम पडने के बाद, बहुत-सी अडचने होने के कारण चैत्रादि सज्ञाएँ बहुत काल व्यतीत होने पर प्रचलित हुई। अत यह सन्देह नही किया जा सकता कि मध्वादिको के थोडे ही दिनो बाद चैत्रादि नामो का प्रचार हुआ होगा। इस बात को सिद्ध करनेवाले अन्य प्रमाण न हो तो भी केवल इतना ही पर्याप्त है कि वेदो मे चैत्रादिको को कही भी देवता नही कहा है, पर मध्वादिको को देवतात्व प्राप्त है। सूर्य के पास के नक्षत्र दिखाई नही देते, अत किसी नक्षत्र मे सूर्य के आने के बाद पुन उस नक्षत्र मे सूर्य के आने तक का समय 'नाक्षत्रवर्ष' प्रचलित होने के पूर्व आर्तव (ऋतु-पर्ययात्मक) वर्ष का प्रचार होना बिल्कुल स्वाभाविक है। मेरे इस कथन का कि 'पहिले सायन वर्ष बहुत दिनो तक प्रचलित था और नाक्षत्र वर्ष नही था' यह अर्थ नही समझना चाहिए कि प्राचीन काल मे आजकल की भाँति सम्पातगति और दोनो वर्षो के भेद का ज्ञान रखते हुए सूक्ष्म सायन वर्ष का व्यवहार करते थे। मेरा अभिप्राय यह है कि ऋग्वेदसहिता काल मे ही अधिकमास की पद्धति प्रचलित हो चुकी थी। उसी समय से योग्यस्थान मे अधिमास डालकर चान्द्रमासो से ऋतुओ का मेल रखते रहे होगे अर्थात् वसन्त के मास मधु-माधव सर्वदा वसन्त ही मे आने की व्यवस्था करते रहे होगे। वैदिककाल के उत्तर भाग मे यद्यपि निरयन वर्ष का प्रचार हुआ तथापि उत्तरायणारम्भ मे वर्षारम्भ होना वेदाङ्गज्योतिष मे स्पष्ट है। अन्य ग्रन्थो मे भी वसन्तारम्भ मे बताया है। इन सबहेतुओ का विचार करने से ज्ञात होता है कि उस समय आर्तव वर्ष ही सर्वमान्य था। जैसे आजकल किसी के मन मे स्वप्न मे भी ऐसी कल्पना नही होती कि हमारा व्यवहार आर्तव वर्ष के अनुसार नही चल रहा है, यही स्थिति उस समय भी थी। लो० तिलक के कथनानुसार वैदिककाल मे उत्तरायणारम्भ मे वर्षारम्भ मानने की पद्धति थी। इस प्रकार अयनारम्भ मे वर्षारम्भ मानने से भी वर्ष आर्तव अर्थात् सायन ही सिद्ध होता है न कि निरयन।

साराश यह कि आर्तव वर्ष नाक्षत्र वर्ष के पूर्व बहुत काल पर्यन्त प्रचलित था, अत ऐतिहासिक दृष्ट्या वह श्रुतिसम्मत है। साथ ही साथ नैसर्गिक भी है। वसन्त को सवत्सर का मुख कहा है। मास मध्वादि बतलाये है। मधु माधव को वासन्तिक मास कहा है। इन सब बातो की सगति आर्तव वर्ष बिना नही लगती। ऋतुएं नाक्षत्र मासो से नही सध सकती। उनमे कितना अन्तर पडता है, यह पहिले पृष्ठ मे बता चुके है। इससे सिद्ध होता है कि आर्तव सौरवर्ष श्रुति विहित है।

युगपद्धति

उपोद्घात मे युगपद्धति का बहुत कुछ वर्णन कर चुके है। द्वितीय आर्यभट के मतानुसार वर्तमान कलियुग के आरम्भ मे बुध सूर्य से लगभग ९ अश पीछे था। सूर्य-सिद्धान्त और प्रथम आर्यभट के मत मे चन्द्रोच्च ३ राशि और चन्द्रपात (राहु) ६ राशि था। ब्रह्मगुप्त और द्वितीय आर्यभट के मतानुसार चन्द्रोच्च और चन्द्रपात इनसे न्यूनाधिक थे।

मनुस्मृति और महाभारत के विवेचन मे बतला चुके है कि ज्योतिषसिद्धान्त-ग्रन्थोक्त युगमान उन ग्रन्थो की रचना के पहिले ही निश्चित हो चुके थे, परन्तु ज्योतिष-ग्रन्थो मे बतलाया हुआ युगारम्भ का यह लक्षण कि 'कलियुग और प्रत्येक महायुग के आरम्भ मे सब ग्रह अश्विनी के आरम्भ मे एकत्र हो जाते है (कुछ ग्रन्थो के अनुसार कल्पारम्भ मे एकत्र होते है और युग के आरम्भ मे पास-पास रहते है)' उनमे नही मिलता। पहिले जिन ग्रन्थो का विचार किया गया है उनमे से एक मे भी यह लक्षण नही है बल्कि इसके विरुद्ध महाभारत मे एक जगह (वनपर्व० अ० १९०, श्लोक ९०,९१) लिखा है कि सूर्य, चन्द्रमा, बृहस्पति और तिष्य (पुष्य) जब एक राशि मे आते है तब कृतयुग होता है। ज्योतिषग्रन्थानुसार कलियुग का आरम्भकाल शकपूर्व ३१७९वा वर्ष है। इसके बाद के बहुत से ग्रन्थो का विवेचन पीछे कर चुके है परन्तु प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से यह कलियुगारम्भकाल किसी मे भी नही मिलता। यह काल और युग का उपर्युक्त लक्षण कदाचित् किसी पुराण मे हो, पर वह प्रसिद्ध नही है।

वर्तमान शकवर्ष १८१७ कलियुग का ४९९६वा वर्ष है। सूर्यसिद्धान्तानुसार कलियुग का आरम्भकाल मध्यम मान की फाल्गुन कृष्ण ३० के अन्त मे गुरुवार की मध्यरात्रि को आता है। कुछ अन्य सिद्धान्तो के अनुसार इसके १५ घटी बाद अर्थात् शुक्रवार के सूर्योदयकाल मे आता है। प्रो० ह्विटने ने सूर्यसिद्धान्त के इगलिश अनुवाद मे यूरोपियन सूक्ष्म गणित द्वारा कलियुगारम्भकालीन अर्थात् जुलिअन पीरिअड १७

फरवरी ई० पू० ३१०२ गुरुवार की मध्यरात्रि के मध्यम ग्रह लिखे हैं। मैंने भी प्रो० केरोपन्त छत्रे के 'ग्रहसाधनकोष्टक' नामक ग्रन्थ द्वारा ग्रह स्पष्ट किये हैं। दोनो नीचे के कोष्ठक में लिखे हैं। ग्र० सा० को० ग्रन्थ भी यूरोपियन सूक्ष्म पुस्तको के आधार पर ही बना है। ह्विटने ने ग्रह यूरोपियन ग्रन्थो द्वारा स्पष्ट किये हैं। नीचे के कोष्ठक में सूर्य-सिद्धान्त द्वारा लाये हुये कलियुगारम्भकालीन स्पष्टग्रह भी लिखे हैं। ह्विटने के मध्यमग्रह और केरोपन्त के उच्च और पातो द्वारा मैंने यह ग्रह स्पष्ट किये हैं। वे भी नीचे लिखे है। वर्तमान समय के लिये यूरोपियन कोष्ठक अत्यन्त शुद्ध हैं। उनसे आकाशस्थिति ठीक मिलती है। इसी कोष्ठक द्वारा ५ सहस्र वर्ष पूर्व के भी ग्रह, यदि बिलकुल शुद्ध नही तो, बहुत शुद्ध आने चाहिए।

कलियुगारम्भकालीन ग्रह

	मध्यम सायन						स्पष्ट					
	ह्विटनी			ग्र०सा०को०के अनुसार			यूरोपियन सायन			सूर्यसिद्धान्त		
	अ०	क०	वि०	अ०	क०	वि०	अ०	क०	वि०	अ०	क०	वि०
सूर्य	३०१	४५	४३	३०१	१३	४२	३०३	३५	४२	२	७	२७
चन्द्र	३०८	३	५०	३०१	३६	१८	३१२	१५	३०	५	२	४६
चन्द्रोच्च	४४	५६	४२	६७	३२	४२				९०	०	०
राहु	१४८	२	१६	१४५	०	०	१४७	५३	३४	१८०	०	०
बुध	२६८	३४	५	२६७	३६	४२	२८८	३	५४	३५८	७	२७
शुक्र	३३४	३६	३०	३३३	४५	२४	३१६	१२	६	०	५२	१२
मगल	२८९	४८	५	२८९	११	१८	३००	३४	१८	५	४२	३०
गुरु	३१८	१६	७	३१८	४	६	३१७	४५	५४	०	४२	०
शनि	२८१	३६	१८	२८०	२	१८	२७८	०	१८	३५३	२४	५७

मैंने केरोपन्त के ग्रन्थ द्वारा लाये हुए मध्यम ग्रहों में कालान्तर संस्कार नही दिया है। केरोपन्त ने केवल सूर्य, चन्द्र, चन्द्रोच्च और राहु, का कालान्तरसस्कार लिखा है। इनके सस्कारयुक्त भोग ह्विटने के ग्रहो से प्रायः मिलते है। केरोपन्तीय शेष ग्रहो मे

कालान्तर सस्कार न देने से भी वे ह्विटनी के ग्रहो से मिलते है। इससे ज्ञात होता है कि ह्विटनी के बुधादि पाच ग्रहो मे कालान्तरसस्कार नही दिया गया है।

सूर्यसिद्धान्तानुसार राहु के अतिरिक्त सभी ग्रहो का मध्यम भोग शून्य आता है। यूरोपियन ग्रह सायन है और सूर्यसिद्धान्त के निरयण, अत उपर्युक्त यूरोपियन सायन ग्रहो मे रवि और किसी इष्ट ग्रह का अन्तर सूर्यसिद्धान्तान्तर्गत रवि और इष्ट ग्रह के अन्तर से जितना न्यून या अधिक हो उतनी हमारे ग्रहो की अशुद्धि कही जा सकती है। ह्विटनी के ग्रहो मे बुध सूर्य से लगभग ३३ अश पीछे और शुक्र ३२ अश आगे है। यूरोपियन कोष्ठक यदि शुद्ध हो तो हमारे ग्रन्थो द्वारा लाए हुए मध्यम ग्रहो मे इतनी अशुद्धि समझनी चाहिए।

आकाश मे ग्रह मध्यम भोगानुसार नही बल्कि स्पष्ट भोग द्वारा निश्चित किये हुए स्थान मे दिखाई देते है। उपर्युक्त यूरोपियन स्पष्ट ग्रहो मे सूर्य से, सबसे अधिक अन्तरित ग्रह, शनि और गुरु है। शनि सूर्य से २५ अश पीछे है और गुरु १४ अश आगे। सूर्यसिद्धान्त द्वारा लाए हुए सभी स्पष्ट ग्रह सूर्य से ९ अश के भीतर है। सूर्यसिद्धान्तानुसार सब ग्रह अस्तगत है और गुरुवार को अमावस्या मे सूर्यग्रहण लगता है। यूरोपियन गणितानुसार केवल मगल अस्तगत होता है। ह्विटनी का राहु १५ अश कम कर देने से सूर्य ग्रहण आता है। बुध १० अश अधिक, शुक्र ९ अश कम, गुरु ४ अश कम और शनि ११ अश अधिक मानकर गणित करने से स्पष्ट ग्रह इस प्रकार आते है —

सूर्य	३०३।३५।४२	शुक्र	३१२।२८।४८		
बुध	२९०।४०।६	गुरु	३१४।६।३६	शनि	२८८।१७।३०

अर्थात् सब ग्रह अस्तगत आते है।

हमारे ग्रन्थो के अनुसार कलियुगारम्भ मे सब ग्रह एक स्थान मे आते है, परन्तु उस समय वास्तविक स्थिति ऐसी नही थी। सब ग्रहो के अस्तगत होने की भी सभावना हो सकती है, पर महाभारतादि में इसका भी वर्णन नही है। सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थ कलियगारम्भ के कम से कम २६०० वर्षो बाद बने है। इनके पूर्व मनुस्मृति की युगपद्धति प्रचलित थी, परन्तु मालूम होता है, कलियुग का आरम्भ काल निश्चित नही हुआ था। ऊपर पृष्ठ मे "पहिले के तीन युगो मे उत्पन्न वनस्पतिया" इस अर्थ के द्योतक ऋग्वेद और यजुर्वेद के वाक्य लिखे है। उनसे भी नही प्रतीत होता कि वेद-वेदाङ्गकाल मे यह निश्चित हो चुका था कि शकपूर्व ३१७९वे वर्ष मे कलियुग लगा। अत यह सन्देह नही किया जा सकता कि ज्योतिषग्रन्थकारों ने ग्रन्थरचनाकाल की गति द्वारा गणित करने पर पीछे जहाँ ग्रहो को एकत्र होते देखा होगा उसी को कलियुगारम्भकाल कह दिया होगा।

रोहिणीशकटभेद

रोहिणी नक्षत्र मे पाच तारे है। पाचो के सयोग से गाडी सरीखी आकृति बनती है। इसलिए उसे रोहिणीशकट कहते है। पाचो मे सबसे उत्तरवाले तारे (एपसिलान टारि) का दक्षिण शर २ अश ३४ कला ४३ विकला[1] और योगतारा का दक्षिण शर ५ अश २८ कला है। जब कोई ग्रह इन तारो के पास रहता है और उसका शर इन दोनो शरो के मध्य मे होता है उस समय वह इन पाचो तारो के बीच मे आ जाता है और लोग कहते है कि अमुक ग्रह ने रोहिणीशकट का भेदन किया। ग्रहो का इतना शर होना उनके पात की स्थिति पर अवलम्बित है। चद्रपात की परिक्रमा लगभग १८ वर्षो मे पूर्ण होती है परन्तु इतने समय मे चन्द्रमा लगभग ५ या ६ वर्ष ही शकट का भेदन करता है। पूर्व पृष्ठो मे हम दिखा चुके है कि सन् १८८४ के सितम्बर से १८८८ के मार्च तक वह प्रत्येक परिक्रमा मे रोहिणी के योग तारे को आच्छादित कर लेता था। रोहिणी और चन्द्रमा के इस समागम की ओर भारतीयो का ध्यान बहुत प्राचीन काल मे ही जा चुका था। पुराणो मे यह कथा प्रसिद्ध है कि चन्द्रमा की रोहिणी पर अत्यन्त प्रीति है। तैत्तिरीयसहिता के द्वितीय अष्टक मे तृतीय पाठ के सम्पूर्ण पाचवे अनुवाक मे यही कथा है कि प्रजापति की ३३ कन्याए थी। उन्होने वे सब चन्द्रमा को दी थी। उनमे रोहिणी से वह विशेष प्रेम करता था, इत्यादि।[2] २७ नक्षत्रो के २७ और कृत्तिका के ६ तारे मिलकर ३३ होते है। यही ३३ कन्याए है। स्पष्ट है कि आकाश मे रोहिणी से चन्द्रमा का निकट समागम दिखाई देने के बाद ही इस कथा का प्रचार हुआ है। गर्गादिको की सहिताओ मे इस योग का विस्तृत वर्णन है। बृहत्सहिता का तो सम्पूर्ण २४वा अध्याय रोहिणी-चन्द्रमा-योग विषयक ही है।

ज्योतिष के सहिता ग्रन्थो मे यह बात प्रसिद्ध है कि शनि और मगल यदि रोहिणीशकट का भेदन करे तो स्थिति बडी भयावह होती है। वराहमिहिर ने लिखा है:—

> रोहिणीशकटमर्कनन्दनो यदि भिनत्ति रुधिरोऽथवा शशी।
> किं वदामि यदि नष्टसागरे जगदशेषमुपयाति सक्षयम् ॥३५॥
>
> बृहत्संहिता, ३४।

१. नाटिकल आलमनाक में लिखी हुई उसकी विषुवांशक्रान्ति द्वारा मैंने यह सूक्ष्म शर निकाला है।

२. ज्योतिर्विलास ग्रन्थ के रजनीवल्लभ प्रकरण में इस योग का वर्णन विस्तारपूर्वक है। उसमें इस अनुवाक का अर्थ भी लिखा है। (द्वितीयावृत्ति का पृष्ठ ५५ (देखिए)।

ग्रहलाघवकार गणेशदैवज्ञ ने लिखा है—

"भौमार्क्यो शकटभिदा युगान्तरे स्यात्'

ग्रहलाघव, ११।१२।

और यह ठीक भी है क्योकि सम्प्रति इस शकट के पास आने पर शनि का दक्षिण शर लगभग १ अश ५० कला और मगल का उत्तर शर लगभग १२ कला रहता है अर्थात् वे दोनो शकट-भेदन नही करते। यहा शका होती है कि यदि वे शकटभेदन ही नही करते तो सहिताग्रन्थो मे उनके शकट-भेदन सम्बन्धी अनिष्ट फल का वर्णन कैसे लिखा गया, परन्तु यह बात बिलकुल असम्भव नही कही जा सकती। गुरु का रोहिणी शकट-भेदन करना सर्वथा असम्भव है क्योकि उसका शर २ अश ३५ कला कभी भी नही होता और सहिताग्रन्थो मे भी गुरुकृत रोहिणी शकट-भेदन का वर्णन कही नही मिलता परन्तु शनि और मगल की स्थिति ऐसी नही है। शनि का स्पष्ट परमशर लगभग २ अश ४५ कला और मगल का २ अश ५३ कला होता है अत उनके पात के एक चक्र मे रोहिणी पास रहने पर कभी न कभी उनका शर शकटभेदन योग्य हो सकता है। उनके पात का एक भ्रमण होने मे ४०,५० सहस्र वर्ष लगते है। इतने समय मे उन्होने कभी न कभी शकटभेदन अवश्य किया होगा। इसके विषय मे मैने शनि का गणित किया है। उससे पता चलता है कि शकारम्भ के बाद भेदन कभी भी नही हुआ है। उसके पूर्व की भिन्न-भिन्न वर्षसख्याए लेकर गणित करने से ज्ञात होता है कि शकपूर्व पाच सहस्त्र वर्षो के भीतर भी भेद कभी नही हुआ। शक पूर्व ५२९४ वे वर्ष मे रोहिणी नक्षत्र के उत्तर तारे का सायन भोग १० राशि २८ अंश २ कला आता है और शनि उस स्थान मे आने पर उसका दक्षिण शर २ अश ३४ कला होता है।[1] इससे सिद्ध होता है कि उस समय और उसके पहिले भी बहुत दिनों तक शनि प्रत्येक परिक्रमा मे रोहिणी-शकट का भेदन करता था। मगलकृत शकटभेदन का समय इससे भी बहुत प्राचीन सिद्ध होता है। संहिताग्रन्थों मे शनि और मंगलकृत रोहिणीशकट-भेदन के फल लिखे है, अत कभी न कभी शकटभेद अवश्य हुआ होगा। उसका समय शकपूर्व ५ सहस्र वर्ष से अर्वाचीन नही हो सकता, अत सिद्ध हुआ कि कम से कम शकपूर्व ५ सहस्र वर्ष पहिले हमारे देश में ग्रहज्ञान हो चुका था।

नक्षत्रों का ज्ञान इसके पहिले ही हुआ होगा। वैदिककाल तथा ऋग्वेदसंहिताकाल के विषय मे ऊपर जो कुछ लिखा है उसकी इन हेतुओ से पुष्टि होती है।

१. मैने प्रो० छत्रे कृत ग्रहसाधनकोष्ठक द्वारा गणित किया है। ग्रन्थ बहुत बड़ा हो जाने के भय से यहाँ उसका पूरा विवरण नहीं लिखा है।

कृत्तिकादि गणना

कृत्तिका प्रथमम्। विशाखे उत्तमम्।
तानि देवनक्षत्राणि। अनुराधा प्रथमम्।
अपभरणीरुत्तमम्। तानि यमनक्षत्राणि।
यानि देवनक्षत्राणि। तानि दक्षिणेन परियन्ति।
यानि यमनक्षत्राणि ।।७।। तान्युत्तरेण।

तैत्तिरीयब्राह्मण १।५।२।

कृत्तिकाए प्रथम और विशाखाएं अन्तिम है। ये देवनक्षत्र है। अनुराधाए प्रथम और अपभरणिया अन्तिम है। ये यम नक्षत्र है। देवनक्षत्र दक्षिण से [उत्तर की ओर] और यम नक्षत्र उत्तर से [दक्षिण की ओर] घूमते है।

कोष्ठ मे लिखे हुए शब्द मूल मे नही है, परन्तु तैत्तिरीयसहिता के 'तस्माददित्यः षण्मासो दक्षिणेनैति षड्ुत्तरेण' (तै० स० ६।५।३) वाक्य मे वेदभाष्यकार माधवाचार्य ने दक्षिणेन का अर्थ 'दक्षिण की ओर से ऊपर की ओर' किया है। 'दक्षिणेन' का अर्थ 'किसी पदार्थ के दक्षिण' भी हो सकता है परन्तु उस वाक्य मे दूसरा कोई पदार्थ नही दिखाई देता। देवनक्षत्र क्रान्तिवृत्त के दक्षिण और शेष उत्तर भी नही माने जा सकते क्योकि कृत्तिका क्रान्तिवृत्त से उत्तर है। उससे तीन नक्षत्र क्रान्तिवृत्त के दक्षिण और उसके आगे के दो उत्तर ओर है। इस प्रकार सभी नक्षत्र अव्यवस्थित है। नक्षत्रो के शर कभी नही बदल सकते। बदले भी तो उनमे सहस्रो वर्षो मे एकाध कला का अन्तर पडेगा, अत यह वर्णन क्रान्तिवृत्तविषयक नही कहा जा सकता। कृत्तिकादि नक्षत्र विषुववृत्त से दक्षिण और शेष उत्तर हो, यह भी असभव है। सम्पातभ्रमण के कारण नक्षत्रो की क्रान्तिया अर्थात् विषुववृत्तसम्बन्धी स्थान सर्वदा बदलते रहते है परन्तु स्वाती, श्रवण धनिष्ठा और उत्तराभाद्रपदा का शर २४ अश से अधिक उत्तर होने के कारण ये नक्षत्र विषुववृत्त के दक्षिण भाग मे कभी भी नही आ सकते।[1] अत लगातार कोई भी १३ नक्षत्र विषुववृत्त के एक पार्श्व मे कभी नही आ सकेगे। भूतल के किसी भी स्थान मे किसी भी समय ऐसी स्थिति नही आ सकती कि आधे नक्षत्र द्रष्टा के एक पार्श्व से चले जाय और आधे दूसरी ओर से। अत उपर्युक्त वेदवाक्य के

१. मैने ई० पू० २३५०, १४६२ और सन् ५७०, १८७ की नक्षत्रस्थिति का विचार किया। तदनुसार कोई भी लगातार १३ नक्षत्र विषुववृत्त के एक ओर आने का प्रसङ्ग कभी नहीं आता है। ग्रन्थविस्तार होने के भय से वे सब अंक यहाँ नही लिखे है।

(सायन) सौर ही था। बाद मे चैत्रादि नामो के कारण नाक्षत्र (निरयन) सौर का प्रचार हुआ फिर भी उपपत्ति-दृष्ट्या वर्ष सायन ही था।

शतपथब्राह्मण के कृत्तिका-स्थिति-सूचक वाक्य द्वारा उस स्थिति का समय शकपूर्व ३००० वर्ष निश्चित होता है। वेदो की संहिताए इससे भी प्राचीन है। इसमे सन्देह का स्थान बिलकुल नही है।

वेदाङ्गज्योतिष का रचनाकाल शकपूर्व लगभग १५०० वर्ष है। उस समय दिन के ६० घटिकात्मक मान का प्रचार था। सूर्य और चन्द्रमा की मध्यम गतियो का बहुत सूक्ष्म ज्ञान हो चुका था। सौरवर्ष-मान अशुद्ध होते हुए भी प्रचलित था, परन्तु केवल अधिमास प्रक्षेपण द्वारा सौर और चान्द्र वर्षो का मेल रखने की एकमात्र स्थूल रीति ही वह नही जानते थे, बल्कि उसका विशेष ज्ञान रखते थे। वर्ष के १२ सौरमासो का व्यवहार मे उपयोग किया जाता था अर्थात् क्रान्तिवृत्त के १२ भाग और उनमे से प्रत्येक के अंशात्मक ३० विभाग तथा उनके कलात्मक ६० भाग मानने की पद्धति का बीज भी उत्पन्न हो चुका था। कालविभाग और क्षेत्र विभाग के सादृश्य का जो कि एक महत्वशाली पदार्थ है, प्रत्यक्ष प्रचार था। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि वृत्त के राश्यंशादि विभागो की कल्पना सर्वप्रथम हिन्दुओ ने ही की। ग्रहो की भी मध्यम गतिस्थिति का ज्ञान वेदाङ्गकाल के अन्त मे हुआ होगा।

दूसरी महत्व की सीढी है स्पष्टगतिस्थिति। १३ दिनात्मक पक्ष के विवेचन मे बतला चुके है कि सूर्य-चन्द्र की स्पष्ट गतिस्थिति का कुछ ज्ञान हुआ था। ग्रहो की स्पष्ट गतिस्थिति समझना और उसके आनयन की रीति जानना सूर्य और चन्द्रमा की स्पष्टस्थिति की अपेक्षा अधिक कठिन है। इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण नही मिलता कि प्राचीन काल मे उसका ज्ञान था, परन्तु इतना जानते थे कि ग्रहो की मध्यम गति की अपेक्षा स्पष्टगति अनियमित है क्योकि उस समय ग्रहो के वक्रत्व और मार्गित्व का विचार होता था। इससे अनुमान होता है कि ग्रहो की स्पष्टगति का भी विचार आरम्भ हो गया रहा होगा। वेदाङ्गज्योतिष के सौरमास और महाभारत के संक्रान्तियो के अयन, विषुव और षडशीति नामो से ज्ञात होता है कि वेदाङ्गज्योतिषकाल मे ही अथवा उसके बाद थोडे ही दिनो के भीतर क्रान्तिवृत्त के १२ भागो का प्रचार हुआ, परन्तु ग्रहस्थिति नक्षत्रो के अनुसार बतलायी है। अत १२ राशियो के अनुसार ग्रहस्थिति बतलाने की पद्धति का आरम्भ नही हुआ रहा होगा।

मेषादि संज्ञाए शकपूर्व १५०० के लगभग प्रचलित हुई। वारो का प्रचार इससे पहिले हुआ। वार भारत मे परदेश से आये है।

४३२०००० वर्षों का महायुग मानने की पद्धति यास्काचार्य के पहिले की होगी।

अथर्वज्योतिष से ज्ञात होता है कि जातकपद्धति हमारे देश मे स्वतन्त्ररूप से उत्पन्न हुई थी अर्थात् हमने जातक पद्धति दूसरो से नही ली है।

साराश यह कि ग्रहो की स्पष्टस्थिति के गणित और जातक का बीज वेदाङ्गकाल के अन्त में उत्पन्न हुआ था। वह ग्रन्थ रूप मे किस भाँति परिणत हुआ, इसका विचार आगे द्वितीय भाग मे किया जायगा।

द्वितीय भाग

ज्योतिषसिद्धान्तकालीन ज्योतिषशास्त्र का इतिहास